प्रकाशक : मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
पहली बार : १९७३ ● मूल्य : आठ रुपये : सजिल्द दस रुपये
● मुद्रक : हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, नई दिल्ली - २८

त्वदीयं वस्तु…

तुभ्यमेव समर्पितम्!

श्रीराम !

देश ने तुमको बनाया राष्ट्रपति श्रीमन्त,
किन्तु अपने आपको तुमने बनाया संत ।
उभय रूपों में हमारे पूज्य तुम राजेंद्र !
धन्य हैं तुमसे तुम्हारे देश-काल-दिगन्त !

—मैथिलीशरण गुप्त

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक में भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेंद्र प्रसाद के कुछ चुने हुए पत्र दिये गए हैं, जो उन्होंने समय-समय पर अपनी पुत्री-तुल्य डा० ज्ञानवती दरबार को लिखे थे। इन पत्रों में उन्होंने भारत के स्वतंत्र होने के बाद की अनेक राजनैतिक समस्याओं पर तो प्रकाश डाला ही है, साथ ही उन्होंने इन घटनाओं के संदर्भ में अपनी प्रतिक्रिया भी दी है। संविधान परिषद का गठन, संविधान का निर्माण, देश का विभाजन, काश्मीर की गुत्थी, खाद्य-समस्या आदि-आदि प्रश्नों पर जहां पाठक सर्वोच्च पद पर बैठे नेता के विचार पढ़ेंगे, वहां गणतंत्र दिवस समारोह आदि के विषय में उनकी मानसिक प्रतिक्रिया भी देखेंगे। इन पत्रों में राजेंद्र-बाबू के हृदय की झांकी मिलती है। उन्होंने पद की कभी आकांक्षा नहीं की, उसके लिए प्रयत्न भी नहीं किया, फिर भी कौन सा बड़ा पद था, जो उन्हें नहीं मिला? वह केन्द्र में मंत्री बने, कांग्रेस के अध्यक्ष बने और राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुए। अपने कई पत्रों में उन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से बताया है कि हमें सेवा करनी चाहिए, फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। उन्होंने अपने जीवन की घटनाओं से यह भी बता दिया है कि जो पद की आकांक्षा नहीं करता, पद उसके पीछे दौड़ता है।

राजेंद्रबाबू की कई पुस्तकें हमने मण्डल से प्रकाशित की हैं जिनमें उनकी आत्मकथा का तो भारत की अन्य अनेक भाषाओं में रूपान्तर प्रकाशित हुआ है। 'गांधीजी की देन' नामक पुस्तक ने अनगिनत पाठकों को प्रभावित किया है।

राजेंद्रबाबू गांधीजी के मार्ग के पथिक थे। गांधीजी के आदर्शों, सिद्धांतों तथा रचनात्मक कार्यक्रमों में उनकी अटूट श्रद्धा थी। फिर भी वह ऊंचे दर्जे के मौलिक चिन्तक थे। देश की चेतना कैसे जाग्रत हो, देशवासी कैसे नीति के रास्ते पर चलें, सादगी का राष्ट्रीय जीवन में कैसे समावेश हो, इन तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों पर वह गहराई से चिन्तन करते रहते थे।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता इसकी सहजता है। पत्रों में मानव का हृदय बोला करता है। इस पुस्तक में, हम कह सकते हैं कि राजेंद्रबाबू के हृदय की धड़कन सुनाई देती है।

हमें विश्वास है कि देश का प्रत्येक शिक्षित पाठक इस पुस्तक को पढ़ेगा और इससे लाभान्वित होगा।

—मंत्री

दो शब्द

राजेंद्रबाबू की स्मृतियों में न केवल उनके जीवन, अपितु भारत और जनता-जनार्दन के जीवन और घटनाओं की लम्बी कहानी लिपटी हुई है। उन्हीं के भाव और भाषा के ताने-बाने में पिरोई उनकी जीवनी और अनुभूति-हर भारतीय के लिए उत्सुकता और प्रेरणा की वस्तु हो सकती है। उनकी आत्मकथा में स्वतंत्रता से पूर्व की घटनाओं की झलक मिलती है, जबकि इस पुस्तक में स्वतंत्र भारत की। उनके प्रतिदिन के चिंतन ने बीतती हुई घड़ियों और घटनाओं को पकड़ा है, उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने उन्हें परखा और उनकी दूरदृष्टि ने उन्हें भविष्य का सुपथ भी दिखाया है।

देश के शिरोमणि हमारे राष्ट्रपति के मानस से विचारों का यह प्रवाह अत्यन्त सहजता से प्रवाहित हुआ है। देश की बदलती-बिखरती परिस्थितियों से उनके मन को ठेस भी लगी, किंतु उनके कारण विचाराधारा रुकी नहीं। बल्कि ऐसी परिस्थितियों में कुछ रुककर उन्होंने देश को एक नई दिशा देने का भी भरसक यत्न किया है।

स्वतंत्र भारत उनके लिए नवजात शिशु के समान था और उसके प्रथम राष्ट्रपति के रूप में उन्होंने उसे उसी तरह बनाने और गढ़ने का प्रयत्न किया, यह बात इन पत्रों को पढ़ने से साफ जाहिर होती है। स्वाधीनता से पूर्व उन्होंने भी भारत के नव-निर्माण के स्वप्न देखे थे, जिन्हें वे स्वतंत्रता के बाद साकार होते देखना चाहते थे। देश को वे क्या रूप देना चाहते थे, उसे किस रास्ते ले जाना चाहते थे, और कभी उसके लड़खड़ाते पैरों को देखकर वे कैसे उसे सहारा देकर खड़ा करना चाहते थे, कैसे उसमें दृढ़ता और पूर्णता लाना चाहते थे, इन भावों को हम उनके प्रतिदिन के पत्रों में बखूबी देख सकते हैं। कभी-कभी उसकी बिगड़ती हुई हालत को देखकर

उन्हें चिन्ता और व्यथा भी हुई और उसे भी उनके भरे हृदय ने खुलकर सामने रख दिया।

देश के लिए चिन्ता और चिन्तन करते हुए उनकी दृष्टि बाहर के देशों पर भी पड़ी। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्वतंत्र भारत की प्रतिभा की प्रतिमा का क्या रूप है, इसपर भी वे निगाह रखते थे। उसका प्रतिबिम्ब स्वच्छ रहे, उसका गौरव ऊंचा रहे और उसकी महिमामयी मानवता अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अक्षुण्ण रहे, इस ओर भी उनका ध्यान था। इसके लिए उन्होंने अपने साथी और भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की भूरि-भूरि सराहना की है।

उन्हीं की कलम से लिखी यह पुस्तक आज जबकि पाठकों के सामने आ रही है, पाठक इन दो महान नेताओं के हार्दिक संबंधों की झलक भी पा सकेंगे।

पाठक स्वाभाविक ही यह सोचेंगे कि जब मैं सदा बाबूजी के निकट रहती थी, तो फिर उन्होंने मुझे रोज चिट्ठियां क्यों लिखीं ? इसकी पहली और मूल वजह तो यह थी कि राजेंद्रबाबू-जैसी महान आत्मा एक प्रकार से भारत की आत्मा के साथ एकाकार हो चुकी थी। मैं उस पुण्यात्मा के चिन्तन के मोतियों को देश के लिए संजोना चाहती थी। बाबूजी मुझे अपनी डायरी लिखाते थे, पर उसमें सारी बातें नहीं आ सकती थीं। जो बातें नहीं आ सकती थीं, उन्हें वह पत्रों में लिखते थे।

इसका दूसरा भावपक्ष भी था, जो सीधे मेरे मन की भावना से संबंधित था। मेरी अन्तर्प्रेरणा का सबसे बड़ा निमित्त यह था कि जिस तरह जवाहरलालजी ने अपनी होनहार प्रियदर्शिनी बेटी इन्दु को जेल से चिट्ठियां लिखकर विश्व-इतिहास के ज्ञान की झलक दिखाई, मुझे भी राजेंद्रबाबू की मुंहबोली बेटी का सौभाग्य मिलने पर अपने बाबूजी की कलम से भारत की और भारत के राष्ट्रपति की अन्तर्भावना की झलक पाने की चाह रही। यह मेरे पूर्वजन्म का ही फल था जो वास्तव में इस जन्म में हासिल हुआ। वास्तव में इसे मैं अपने जीवन की अमूल्य निधि मानती हूं, जिसे मैंने बड़े श्रद्धाभाव से संजोया है।

एक दिन की बात है। पटना में माताजी के श्राद्ध के अवसर पर मैंने

अपना भावावेग बाबूजी के सामने इस प्रश्न के साथ रखा : क्या आप वास्तव में यह समझते हैं और आपका विश्वास है कि ये सभी वस्तुएं जो आज दी गई हैं, उस मृतात्मा तक पहुंच जायंगी ? उनका सीधा-सरल जवाब था, "प्रातःकाल सूर्योदय के समय बहुत से लोग सूरज को जल चढ़ाते हैं, तो क्या तुम समझती हो, सूरज उस अंजलि को ग्रहण कर लेता है ? वह ग्रहण करे न करे, जल चढ़ानेवाले की श्रद्धा में कमी नहीं होती। बस, इस श्राद्ध की बात भी कुछ ऐसी ही है।" बाबूजी के उत्तर ने मेरे मन में एक ऐसा संकल्प जगा दिया जो आजतक मैं नहीं भूली। उन्हीं भावों के अनुरूप मैं उन विचारों का दान करना चाहती हूं, जो उन्हें प्रिय थे, उनके अपने थे। हृदय की समस्त श्रद्धा से किया मेरा यह श्राद्ध उनकी आत्मा को संतोष दे सका तो मैं समझूंगी कि भगवान् और बाबूजी का आशीर्वाद सफल हुआ।

इसी भावना से प्रेरित होकर उनके विचार-संचय की निधि यह 'स्वतंत्र भारत की झलक' जनता-जनार्दन को, प्रिय पाठकों को, अर्पित करती हूं।

राजेंद्रबाबू जैसे सादे-सरल थे, पाठक देखेंगे कि उनकी भाषा भी वैसी ही सीधी-सरल है। उन्होंने उसे किसी कला अथवा ज्ञान-प्रदर्शन के लिए नहीं लिखा—जैसे विचार स्फुरित हुए, सहज भाव से प्रकट हो गए; किंतु मुझे पूरा विश्वास है कि इससे हमारे देशवासियों को मार्गदर्शन मिलेगा।

—ज्ञानवती दरबार

विषय-सूची

●

स्वतंत्र भारत

की

झलक





अजातशत्रु राजेन्द्रबाबू

१

अंतरिम सरकार की स्थापना

सन् १९४६ में जब ब्रिटिश सरकार के अनुरोध पर कांग्रेस ने मंत्रि-मंडल बनाना स्वीकार किया तो मुस्लिम लीग उसमें सम्मिलित होने को तैयार नहीं हुई। कांग्रेस ने अपने सदस्यों को लेकर मंत्रिमंडल बना लिया। इसके चंद दिनों के भीतर लीग वाइसराय के कहने पर शामिल हो गई। उस काल की कुछ पेचीदा गुत्थियों का वर्णन हमें इस पत्र में मिलता है।

३–९–५८

बेटी ज्ञान,

१९४६ में ब्रिटिश कैबिनेट के सदस्य, जिनमें सेक्रेटरी आफ स्टेट फ़ॉर इंडिया लॉर्ड पैथिक लौरेन्स और सर स्टैफोर्ड क्रिप्स भी थे, यहां आये और बहुत बातचीत के बाद उन्होंने कुछ योजनाएं दीं जिनका उद्देश्य था कि भारतीयों के हाथों में सत्ता किस तरह हस्तांतरित की जाय। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं के साथ बहुत बातें हुई और अन्त में एक स्थिति आई जब कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं को सरकार बनाने की सुविधा मिल सकती थी। कुछ शर्तें थीं जिनके मान लेने पर योजना लागू हो सकती थी। लीग की हमेशा यही नीति रही कि कांग्रेस के साथ मिलकर वह कुछ करना नहीं चाहती थी और जब कभी ब्रिटिश सरकार के साथ कोई बातचीत होती थी तो वह इंतजार करती रहती कि कांग्रेस जब नामंजूर कर दे तो वह भी नामंजूर कर दे अथवा कोई दूसरा अड़ंगा लगा दे। इन्हीं कारणों से १९४५ में जब शिमला में कान्फ्रेंस हुई तो उसने मंत्रिमंडल बनाने में शरीक होने से इंकार कर दिया। १९४६ में भी कुछ ऐसा ही हुआ। पीछे चलकर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने केवल कांग्रेस को ही मंत्रिमंडल बनाने का मौका दिया और जब कांग्रेस की ओर से लीग को शरीक होने को कहा गया तो उसने

इंकार कर दिया। तब कांग्रेस ने केवल अपने सदस्यों को लेकर मंत्रिमंडल बना लिया। पर लीग के लिए उसमें स्थान खाली रखा कि जब वह आना चाहे उसे ले लिया जाय। लीग चंद दिनों के अंदर ही मंत्रिमंडल में शरीक होने को राजी हो गई, पर कांग्रेस के कहने से नहीं, वाइसराय के कहने पर। यह तो सारांश उन घटनाओं और बातचीत का है जिनमें बहुत समय लगा था और बहुतेरी पेचीदा गुत्थियां सामने आई थीं। अब एक-दो छोटी-मोटी घटनाओं और अनुभवों को बताना चाहता हूं।

जब यह तय हो गया कि केवल कांग्रेस ही मंत्रिमंडल बनायेगी तो लीगी लोगों को इसका बड़ा रंज हुआ। उस समय यहां के सचिवालय में भी बहुतेरे लीगी थे और शहर में तो थे ही। इसलिए जब हम लोग पद संभालने के लिए आनेवाले थे तो उन्होंने प्रदर्शन किया। हम लोग गवर्नमेंट हाउस में दखिन के रास्ते से आये थे तो हम लोगों की गाड़ियों को लीगियों ने घेर लिया और कुछ धक्कमधुक्की भी की। सुना कि एक गाड़ी के अन्दर जलता सिगरेट भी गिरा, जिससे गद्दी में आग लग गई। पर इससे ज्यादा कुछ नहीं हुआ। यह सब तो तब हुआ जब वे शरीक नहीं होनेवाले थे। जल्द उनके मंत्रिमंडल में आ जाने की बात तय हो गई और वे मंत्री बन गये। कुछ विभाग उनके हाथों में दिये गए। हम लोगों का दृष्टिकोण था कि अंगरेजी हाथों से यथासाध्य अधिकाधिक सत्ता अपने हाथों ले आवें। इसलिए हम लोग जब कभी जरूरत होती थी, तो आपस में सलाह कर लिया करते थे और कैबिनेट की बैठक में एकराय से ही बोला करते थे। पर मुस्लिम लीगी मंत्री इसमें शरीक होने को राजी नहीं हुए और हम एक बात कहें तो अक्सर उनसे मतभेद हो जाया करे। इस तरह पहले दिन से ही एक साथ काम नहीं होना आरंभ हो गया और जबतक हम दोनों कैबिनेट में रहे, प्रायः अलग-ही-अलग रहे और सम्मिलित जवाबदेही की कोई बात नहीं हो सकी।

यहां मैं एक मजे की बात कहना चाहता हूं, जिसको जानकर और पढ़कर हँसी आये बिना नहीं रह सकती। हम लोगों के साथ तो उनका असहयोग चलता ही रहता, पर अपने विभाग पर भी उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, ऐसा मालूम होता है, यद्यपि उन्होंने अपने आदमियों को

अपने विभागों में भरने की भरसक कोशिश की। उन्हींमें एक सज्जन उस विभाग के मंत्री थे, जिसके अधीन हवाई जहाज इत्यादि थे। उन दिनों तक हवाई जहाजों की कोई बाजाप्ता रोजाना सभी जगहों में आने-जाने की पद्धति और सुविधा नहीं थी। हां, एक जहाज दिल्ली से कलकत्ते जाया-आया करता था। पटने में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए और दिल्ली में पटना के बड़े प्रतिष्ठित और गवर्नमेंट के भूतपूर्व मंत्री सर सुलतान अहमद रहा करते थे। उनके लड़के पटने में घर की खबर लेने जाना चाहते थे और उन्होंने लिखा कि कलकत्तावाला जहाज यदि उनको पटने में उतारता हुआ जाय तो वह उपकृत होंगे। मैंने अपने साथी लीगी मंत्री महोदय को पत्र लिखा कि इसका प्रबन्ध कर दें। साथ ही, अपने विभाग के मंत्री सर रोबर्ट हचिन्स से भी जिक्र किया तो उन्होंने कहा कि वह उस विभाग के अफसरों से बातें करके प्रबन्ध करा देंगे और कुछ देर के बाद खबर दी कि प्रबन्ध हो गया और मैं कह दूं कि दूसरे दिन सवेरे वह जहाज पर जाकर सवार हो जायं। मैंने खबर भी दे दी। उसके कुछ घंटों बाद संध्या को मंत्री महोदय का पत्र आया कि कायदे के अनुसार जहाज पटने नहीं ठहर सकता और इसलिए प्रबन्ध नहीं हो सकेगा। मैं कुछ चिन्तित हुआ और फिर हचिन्स से बातें कीं। पूछने के बाद उन्होंने विश्वास दिलाया कि कोई चिन्ता नहीं, जहाज जरूर उतरेगा, वह तैयार होकर जायं। मैंने सब बातें सुलतान को टेलीफोन पर कह दीं और यह भी कह दिया कि मुमकिन है कि मिनिस्टर का हुक्म पाकर जहाज न रुके, इसलिए उनके लड़के को इसके लिए भी तैयार रहना चाहिए। दूसरे दिन सवेरे जब वह जहाज पर चढ़ने गये तो उन्होंने देखा कि लीगी मिनिस्टर साहब भी उसी जहाज से कलकत्ते जा रहे हैं। इससे वह कुछ और सहमे, पर सवार हो गये। जहाज पटने के पास बिहटा में जहां ठहराने की बात थी ठीक समय पर ठहरा और वह उतरकर पटने घर पहुंच गये और वहां से सब बातों की खबर दी। सर सुलतान ने मुझसे सब बातें कहीं और उन लोगों की बड़ी शिकायतें कीं कि एक छोटी बात भी अपने साथी मिनिस्टर की उन्होंने नहीं मानी, पर उनके एक मातहत अफसर ने सारे कायदे-कानून को ध्यान न देकर उनके देखते-देखते बिहटा में जहाज उतार दिया और जो होना

उन्होंने असंभव बताया था वह पूरा हो गया। इसीसे जाहिर था कि अपने विभाग पर उनका अनुशासन कहांतक चलता था और हम लोगों के ऊपर वह कितना रौब जमाया करते थे।

—राजेंद्र प्रसाद

जब सितम्बर १९४६ में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में प्रथम राष्ट्रीय अस्थायी मंत्रिमंडल का निर्माण हुआ, तब मुस्लिम लीग के बाहर रहने के कारण कैसी विकट परिस्थितियां उत्पन्न हुई और बाद में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों द्वारा अस्थायी सरकार में शामिल हो जाने से और भी कितनी विकट स्थिति पैदा हुई, उनका सजीव चित्रण राजेन्द्रबाबू के एक पत्र में मिलता है, जो इस प्रकार है :

८–९–५८

चि० ज्ञान,

हम लोगों ने गवर्नमेंट का काम तो संभाला पर जो काम मामूली तौर पर हमें करना था उसके अलावा दूसरे प्रकार का काम भी आ गया। वह था जगह-जगह पर हिंदू-मुस्लिम झगड़ों को संभालना और रोकना। कहीं-कहीं उस समय मुस्लिम लीग का मंत्रिमंडल काम कर रहा था, पर अधिकांश जगहों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल काम कर रहे थे। बंगाल में लीगी मंत्रिमंडल था और वहां जोरों के दंगा-फसाद पहले से ही चल रहे थे। हमारी स्थिति यह थी कि प्रान्तीय सरकार के काम में हम केन्द्र से हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे और इसलिए लीगी मंत्रिमंडल के साथ हम कुछ भी करने में, असमर्थ थे, पर जहां कांग्रेसी मंत्रिमंडल काम कर रहा था, जैसे बिहार में हमने अपनी ओर से काफी जोर लगाया और दंगा रोका गया। वहां हिंदुओं की ओर से ही ज्यादती हो रही थी, यद्यपि यह कहना कठिन था कि हिंदुओं ने झगड़ा आरंभ किया था। पर उसकी जवाबदेही हम समझ रहे थे। महात्माजी ठीक उसी समय बंगाल जा रहे थे या गये हुए थे, क्योंकि वहां बहुत फसाद हो चुका था या हो रहा था, जिसमें मुसलमानों की ही ज्यादती थी। उन्होंने वहां से घोषणा की कि यदि बिहार में दंगा नहीं रुकेगा तो उनको अनशन करना होगा। मैं भी वहां से हवाई जहाज पर

पटने पहुंचा। जवाहरलालजी कलकत्ते से वहां आ गये। यद्यपि मेरे घर में मृत्युंजय की पत्नी के देहान्त के कारण पारिवारिक विपत्ति थी, मैं उसकी परवाह न करके और अपने ऊपर भारी जोखिम लेकर उन गांवों में गया जहां दंगा-फसाद हुए थे या हो रहे थे। औरों ने भी दौड़धूप की। महात्माजी की घोषणा के कारण विहार-भर में खलवली मच गई। दो-तीन दिनों के अंदर फसाद बंद हो गया। ठीक उसी समय लार्ड वेवल भी पटने गये थे। जवाहरलालजी और मैं देहातों से लौटकर उनसे गवर्नमेंट हाउस में मिलने गये। हमने खुलकर उनसे बातें कीं। जवाहरलालजी ने कहा कि इस समय कांग्रेसी लोगों से बढ़कर दूसरा कोई अप्रिय नहीं है, कारण कि जब हिंदुओं पर ज्यादती मुसलमानों की ओर से की गई तो हम कुछ रोक-थाम नहीं कर सके, पर जब मुसलमानों पर कुछ पड़ा तो हम सब दौड़कर उनको बचाने आये। मैंने कहा कि मुझसे सभी जगह हिंदू पूछते हैं और मेरे पास कोई उत्तर नहीं है। लोग पूछते हैं, जब हिंदुओं पर मार पड़ रही थी, तब तुम लोग कहां थे और तब लार्ड वेवल कहां थे और आज क्यों और कैसे तुम लोग और लार्ड वेवल भी पहुंच गये हो ?

खैर, हमने जो किया था वह अपना कर्तव्य समझकर किया था। पर इसमें शक नहीं कि लोगों में क्षोभ बहुत था। जब हम दिल्ली लौटे तो यहां खबर उड़ाई गई थी कि कितने ही हजार मुसलमान विहार में मार डाले गये हैं—मैं संख्या इस समय भूल रहा हूं—यहांतक कि लार्ड वेवल ने भी कहा कि वह पांच-छः बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में लड़ चुके हैं, पर किसी एक लड़ाई में इतने आदमी नहीं मरे। संख्या बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कही गई थी। मैंने उनका खंडन किया। कौंसिल आफ स्टेट में भी वही बेनुकी संख्या कहकर सवाल किया गया और मेरी तरफ इशारा किया गया कि मैं वहां से लौटा हूं, मुझे बताना चाहिए। मैंने, जहांतक मुझे याद है, साफ-साफ कहा कि अनर्गल है। इसपर फिर प्रश्न हुआ, क्यों ऐसा कहते हैं। मैंने इतना ही उत्तर दिया, चूंकि यह अनर्गल है और वह काफी कारण है। कुछ देर में शांति हुई और हस्बमामूल काम चलने लगा। पर वायुमंडल में मुस्लिम लीग का विरोध ऐसा छाया हुआ था और गवर्नमेंट के अंदर भी उनकी ऐसी कार्रवाई होती रही कि हम लोग परेशान रहे।

इसी बीच में कांग्रेस अधिवेशन मेरठ में हुआ, जिसके अध्यक्ष आचार्य कृपालानी नियुक्त हुए। अधिवेशन के चन्द दिन पूर्व मेरठ में हिंदू-मुस्लिम दंगा जोरों से हो गया और शक होने लगा कि अधिवेशन हो सकेगा या नहीं। पर अंत में अधिवेशन हुआ, यद्यपि कांग्रेस के साथ जो दूसरे समारोह हुआ करते थे—जैसे प्रदर्शनी और दूसरे सम्मेलन—नहीं हुए।

अभी हम लोग मेरठ से लौटे ही थे कि लंदन से कांग्रेस और मुस्लिम लीग का बुलावा आया कि वहां जाकर ब्रिटिश सरकार के साथ राजनैतिक बातचीत की जाय। यह निमंत्रण मंत्रिमंडल को शायद मिला था, कांग्रेस संस्था को नहीं। प्रधानमंत्री की हैसियत से जवाहरलालजी ने इसे मंजूर कर लिया। पीछे चलकर यह एक मतभेद का कारण बन गया। कृपालानीजी का विचार था कि इतने बड़े प्रश्न का उत्तर कांग्रेस के अध्यक्ष अथवा वर्किंग कमेटी से बिना अनुमति लिये मंत्रिमंडल को स्वीकृत नहीं करना चाहिए था। बात यह थी, सूचना तो इसकी उनको शायद दी गई थी, पर वह मंजूरी के बाद, क्योंकि समय इतना कम था कि बाजाब्ते सलाह करने का मौका नहीं था। उधर निश्चय हो चुका था कि दिसम्बर के आरंभिक काल में संविधान सभा की बैठक की जाय। जवाहरलाल का विचार था कि उसे नहीं रोका जाय और जो कुछ भी बातें करनी हों करके, उसके पहले वह वापस आ जायं।

—राजेंद्र प्रसाद

२ | संविधान-सभा का निर्माण

संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव करना और यह देखना कि यथासंभव सभा में सभी दलों और वर्गों का प्रतिनिधित्व हो, एक ऐसी समस्या थी, जिसपर संविधान-निर्माण-संबंधी प्रयास का फल निर्भर करता था। मुस्लिम लीग के विरोध और सैकड़ों देशी रियासतों को किसी प्रकार संविधान में स्थान देने की समस्या के कारण यह काम भी आसान नहीं था। इन उलझनों को कांग्रेस ने कैसे सुलझाया, इसकी चर्चा इस पत्र में की गई है :

९–९–५८

चि० ज्ञान,

भारत से कांग्रेसी और लीगी नेता इंगलैंड गये और वहां मंत्रिमंडल से उनकी बातें हुई। आज यह समझने की जरूरत नहीं कि उस बातचीत का क्या नतीजा हुआ। पहले ही तय हो चुका था कि संविधान सभा की बैठक दिसम्बर में होगी और उसके सदस्य चुने जा चुके थे। जहांतक प्रांतीय विधान सभाओं का संबंध था उन्होंने प्रतिनिधि चुन लिये थे और उस चुनाव में जिन-जिन जातियों को भिन्न चुनाव करने का अधिकार मिला था और जिन्होंने अलग मतदान करके अपने प्रतिनिधि निर्धारित संख्या में चुन लिए थे, उनके प्रतिनिधियों ने अलग-अलग अपने प्रतिनिधि संविधान सभा के लिए चुने। इसका नतीजा यह हुआ कि जहांतक गैर-मुस्लिमों का संबंध था, कांग्रेसी बड़े बहुमत से चुने गये। पर कांग्रेसियों ने इसका ध्यान रखा और इसके लिए केंद्रीय कांग्रेस चुनाव कमिटी को ही श्रेय है—कि ऐसे स्वतंत्र लोगों को भी उन्होंने चुना जो अगर छोड़ दिये गये होते तो उनमें से बहुतेरे नहीं चुने जाते, विशेष करके ऐसे मेधावी

पुरानी कांग्रेस के सेवक, जो गांधीजी के पहले नेतृत्व किया करते थे अथवा जो अब भी कांग्रेस से सहमत नहीं थे, चुने गये। इस तरह सब प्रकार का मत प्रतिबिंबित हुआ। कांग्रेस का बहुमत प्रायः सभी प्रांतों में और विशेष करके गैरमुस्लिमों में था, इसलिए इस तरह कांग्रेसी और स्वतंत्र गैर-कांग्रेसी गैरमुस्लिम चुने गये। पर मुसलमानों में मुस्लिम लीग का जोर था, इसलिए बहुत करके लीगी लोग ही चुने गये और कहीं-कहीं एक-दो गैरलीगी चुने जा चुके।

देशी रियासतों को अधिकार था कि वे अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनें और जहां चुनाव के लिए कोई नियमित क्षेत्र, जैसे विधान सभा, नहीं था, वहां के राजा को ही मनोनीत करने का अधिकार था। ब्रिटिश सरकार ने घोषणा कर दी थी कि सभी रियासतें उन सभी शर्तों से मुक्त हैं, जो उन्होंने ब्रिटिश सरकार के साथ की थीं। इसका नतीजा यह था कि चाहे तो राजा भारत के संविधान में सम्मिलित हो अथवा न हो और हो भी तो अपना विधान अलग बना सकता है। अधिकांश रजवाड़े तो इतने छोटे थे कि वह अपने को स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में संभाल ही नहीं सकते थे। पर कुछ इतने बड़े थे जो अगर चाहते तो अलग संविधान बनाकर अलग रह सकते थे। उस समय तक ब्रिटिश साम्राज्य की सत्ता मानते हुए उन्होंने अपना प्रायः सभी प्रबंध अलग ही रखा था। जहां किसी प्रकार की विधान सभा बनी थी वह वहां की जनता द्वारा मनोनीत थी। उनके अपने न्याया-लय—उच्च न्यायालय तक थे। और अन्य प्रकार से भी ब्रिटिश मातहती के सिवाय और सभी बातों में सिद्धान्तरूप से वे स्वतंत्र थे। यह दूसरी बात है कि ब्रिटिश रेजिडेंट सर्वशक्तिमान होता था और उसीके इशारे से उनका सब काम हुआ करता या नहीं हुआ करता था। इसलिए प्रश्न था कि संविधान-सभा में कितनी रियासतें शरीक होंगी और प्रतिनिधि भेजेंगी और कितनी और कौन-कौन-सी अपनी संविधान समिति बनाकर अपना संविधान बनायेंगी। मुस्लिम लीग किसी बात में कांग्रेस के सहयोग से काम नहीं करना चाहती थी और यह स्पष्ट नहीं था कि इस विषय में उसका क्या रुख होगा, पर संविधान सभा की बैठक की तिथि निश्चित हो गई। उसके पहले ही श्री जवाहरलाल, श्री वल्लभभाई पटेल और सरदार

बलदेवसिंह, जो कांग्रेस की ओर से लंदन गये थे, लौट आयें और पहली बैठक में शरीक हुए।

—राजेंद्र प्रसाद

संविधान-सभा ने कार्य आरंभ किया। वहां भी मुस्लिम लीग ने आरंभ में सभा का बहिष्कार किया, किंतु बाद में मुस्लिम संप्रदाय के प्रतिनिधियों के शामिल होने को लीग नहीं रोक सकी। विरोधाभासों के बीच संविधान-निर्माण का कार्य कैसे आरंभ हुआ और किस प्रकार अनेक समस्याओं द्वारा दी गई चुनौती को स्वीकार कर विधान-निर्माण के कार्य में सभा अग्रसर हुई, और किस प्रकार राजेन्द्रबाबू संविधान सभा के सभापति चुने गए, इसकी झांकी इस पत्र में मिलती है :

११-९-५८

बेटी ज्ञान,

जब संविधान-सभा की बैठक की बात तय हो गई तो सदस्य लोग आपस में इस बात पर गौर करने लगे कि उसका सभापति कौन होगा। इसमें दो प्रश्न थे—एक तो उस सभापति के चुने जाने की बात थी जो इसका बराबर सभापतित्व करेगा। दूसरी बात एक अस्थायी सभापति के चुनाव की थी जो जबतक स्थायी सभापति न चुना जाय तबतक सभापतित्व करेगा। मामूली तौर से उस समय जो विधान सभा थी उसके सभापति के चुने जाने तक के लिए किसी एक आदमी को वाइसराय नियुक्त कर दिया करते थे कि वह सभापति का चुनाव करा दें। यद्यपि यह संविधान सभा ब्रिटिश सरकार की विज्ञप्ति के अनुसार ही बनी थी, हम इसको स्वतंत्र रखना चाहते थे और हम लोगों का विचार था कि जब यह एक बार बन गई तब इसके किसी काम में ब्रिटिश सरकार या वाइसराय का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। पर तो भी जबतक चुनाव नहीं हो जाता तबतक तो किसी-न-किसी को सभापतित्व करना ही चाहिए। अब यह कैसे निश्चय किया जाय कि बिना चुनाव के ही कोई सभापतित्व थोड़ी देर के लिए भी करे।

यही सोचकर शायद किसी दूसरी जगह के नियम या परिपाटी के

अनुसार तय किया गया कि संविधान सभा के सदस्यों में जिसकी सबसे अधिक उम्र हो उसको तात्कालिक अथवा अस्थायी सभापति बनना चाहिए। सचिव इसका लोगों से पूछ करके पता लगा लें कि किसकी अवस्था सबसे अधिक है। सुनने में आया कि सदस्यों में तीन सज्जन सबसे अधिक बूढ़े थे—आंध्र के श्री टी० प्रकाशम, मध्यप्रदेश के डाक्टर हरीसिंह गौड़ और बिहार के डाक्टर सच्चिदानंद सिन्हा। जांच करने पर पता चला कि इन तीनों में भी सबसे अधिक उम्रवाले डाक्टर सच्चिदानंद ही थे और वह एक प्रकार से सभापति हो गये। पर बैठक के दिन एक आदमी ने उनका नाम प्रस्तावित किया और वह बाजाब्ते चुन लिये गए।

दूसरा प्रश्न यह था कि स्थायी सभापति कौन हो। इसमें किसी ऐसे आदमी को ही होना चाहिए, जो इस विषय की कुछ जानकारी रखता हो और जो संविधान सभा का ठीक संचालन कर सके। सुनने में आया कि कुछ लोगों का विचार था कि श्री गोपालस्वामी आयंगर चुने जायं। वह बहुत ही योग्य और अनुभवी पुरुष थे। विद्वान भी थे, पर कांग्रेसी नहीं थे, क्योंकि वह बराबर सरकारी और रजवाड़ों की सेवा में लगे थे। तथापि उनकी योग्यता और विचार-शीलता से कुछ लोग प्रभावित थे। कुछ लोगों का मत था कि इस पद पर किसी कांग्रेसी को ही चुना जाना चाहिए और उन लोगों का ध्यान मेरी ओर जाता था। मैं उस समय खाद्यमंत्री भी था। मेरे पास कुछ लोग यह आग्रह करने आये कि मुझे चुनाव में खड़ा होना चाहिए। मेरे अपने दिल में शक था कि दोनों कामों को मैं संभाल सकूंगा या नहीं और किसीके मुकाबले में खड़ा होकर चुनाव लड़ने की तो मेरी प्रवृत्ति होती ही नहीं थी। तो भी मुझपर जब दबाव डाला गया तो मैंने अपने खाद्य सचिव से सलाह की। उनकी राय हुई कि मुझे खाद्यमंत्री के पद को नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि खाद्य स्थिति संकटमय थी और मैं उस काम में लग गया था। मित्रों ने मुझपर जोर न डालकर उन लोगों से बातें कीं और उनको इस मत पर लाये कि मुझे ही होना चाहिए। जब सर्वसम्मति से मेरे चुने जाने की बात चली तो मैं इनकार नहीं कर सका और मैंने मान लिया।

डा० सच्चिदानंद सिन्हा मेरे बुजुर्ग बड़े भाई जैसे थे। उन्होंने जब सुना

तो वह बहुत खुश हुए और उन्होंने भी बहुत जोर डाला। उनको खुशी इस बात की भी थी कि उनके सभापतित्व में मैं स्थायी सभापति चुना जाऊंगा।

बैठक का दिन आ गया। डाक्टर सिन्हा अस्थायी सभापति चुन लिये गए। उन्होंने सदस्यों को पद ग्रहण की शपथ दिलाई। इसमें बहुत समय लग गया। जब यह काम समाप्त हुआ तब मेरा नाम प्रस्तावित हुआ और कुछ समर्थन में भाषण हुए। मैं एकमत से चुना गया। बड़े तपाक से डा० सिन्हा ने मेरा हाथ पकड़ कर ले जाकर मुझे कुरसी पर बिठाया। लोगों ने बधाई के भाषण दिये। मैंने कुछ कहकर उत्तर दिया और मैं बाजाब्ते सभापति हो गया और डा० सिन्हा मंच से उतरकर सदस्यों में जहां मैं पहले बैठा था, जाकर बैठ गये।

—राजेंद्र प्र साद

राजेन्द्रबाबू के विचार से अन्य बातों, गुणों और योग्यता के अतिरिक्त संविधान सभा के अध्यक्ष का सबसे कड़ा कर्त्तव्य और गुण सभा में होनेवाले भाषणों, चर्चाओं और वाद-विवादों को चुपचाप धैर्य और शांतिपूर्वक सुनना है। उन्होंने इस संबंध में बड़ा रोचक किस्सा अपने पत्र में सुनाया है। शायद यहां के अभ्यास के कारण ही उनका यह स्वभाव-सा बन गया था कि राष्ट्रपति भवन में भी जब भी मैं उन्हें कोई पुस्तक, रिपोर्ट या दया की प्रार्थना की लम्बी कहानी पढ़कर सुनाना शुरू करती, वह आंख बंद करके आराम से बैठ जाते। स्वाभाविक था कि मैं इस मुद्रा को पसन्द न करती, क्योंकि एक तो मुझे ऐसा लगता कि मैं यूं ही पढ़े जा रही हूं और बाबूजी का ध्यान उस ओर है ही नहीं और कभी-कभी यह भी सोचती कि कहीं बाबूजी आंखें बन्द करने के बहाने सो ही तो नहीं गये, इसलिए अक्सर पढ़ते-पढ़ते मैं बीच में ही रुक जाती और जहां मैं रुकती, बाबूजी भी मेरी बात को समझ जाते और मुस्कराहट के साथ आंखें बन्द किये हुए ही फौरन पूरा-का-पूरा अंतिम वाक्य जो मैं उन्हें पढ़कर सुना रही थी, दोहरा देते। मैं आश्वस्त तो होती, पर उनका आंखें बंद करके सुनते जाना मुझे अच्छा तो नहीं ही लगता। कुछ इसी तरह का अनुभव उन्हें संविधान सभा

अनुसार तय किया गया कि संविधान सभा के सदस्यों में जिसकी सबसे अधिक उम्र हो उसको तात्कालिक अथवा अस्थायी सभापति बनना चाहिए। सचिव इसका लोगों से पूछ करके पता लगा लें कि किसकी अवस्था सबसे अधिक है। सुनने में आया कि सदस्यों में तीन सज्जन सबसे अधिक बूढ़े थे——आंध्र के श्री टी० प्रकाशम, मध्यप्रदेश के डाक्टर हरीसिंह गौड़ और बिहार के डाक्टर सच्चिदानंद सिन्हा। जांच करने पर पता चला कि इन तीनों में भी सबसे अधिक उम्रवाले डाक्टर सच्चिदानंद ही थे और वह एक प्रकार से सभापति हो गये। पर बैठक के दिन एक आदमी ने उनका नाम प्रस्तावित किया और वह बाजाब्ते चुन लिये गए।

दूसरा प्रश्न यह था कि स्थायी सभापति कौन हो। इसमें किसी ऐसे आदमी को ही होना चाहिए, जो इस विषय की कुछ जानकारी रखता हो और जो संविधान सभा का ठीक संचालन कर सके। सुनने में आया कि कुछ लोगों का विचार था कि श्री गोपालस्वामी आयंगर चुने जायं। वह बहुत ही योग्य और अनुभवी पुरुष थे। विद्वान भी थे, पर कांग्रेसी नहीं थे, क्योंकि वह बराबर सरकारी और रजवाड़ों की सेवा में लगे थे। तथापि उनकी योग्यता और विचार-शीलता से कुछ लोग प्रभावित थे। कुछ लोगों का मत था कि इस पद पर किसी कांग्रेसी को ही चुना जाना चाहिए और उन लोगों का ध्यान मेरी ओर जाता था। मैं उस समय खाद्यमंत्री भी था। मेरे पास कुछ लोग यह आग्रह करने आये कि मुझे चुनाव में खड़ा होना चाहिए। मेरे अपने दिल में शक था कि दोनों कामों को मैं संभाल सकूंगा या नहीं और किसीके मुकाबले में खड़ा होकर चुनाव लड़ने की तो मेरी प्रवृत्ति होती ही नहीं थी। तो भी मुझपर जब दबाव डाला गया तो मैंने अपने खाद्य सचिव से सलाह की। उनकी राय हुई कि मुझे खाद्यमंत्री के पद को नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि खाद्य स्थिति संकटमय थी और मैं उस काम में लग गया था। मित्रों ने मुझपर जोर न डालकर उन लोगों से बातें कीं और उनको इस मत पर लाये कि मुझे ही होना चाहिए। जब सर्वसम्मति से मेरे चुने जाने की बात चली तो मैं इनकार नहीं कर सका और मैंने मान लिया।

डा० सच्चिदानंद सिन्हा मेरे बुजुर्ग बड़े भाई जैसे थे। उन्होंने जब सुना

तो वह बहुत खुश हुए और उन्होंने भी बहुत जोर डाला। उनको खुशी इस बात की भी थी कि उनके सभापतित्व में मैं स्थायी सभापति चुना जाऊंगा।

बैठक का दिन आ गया। डाक्टर सिन्हा अस्थायी सभापति चुन लिये गए। उन्होंने सदस्यों को पद ग्रहण की शपथ दिलाई। इसमें बहुत समय लग गया। जब यह काम समाप्त हुआ तब मेरा नाम प्रस्तावित हुआ और कुछ समर्थन में भाषण हुए। मैं एकमत से चुना गया। बड़े तपाक से डा० सिन्हा ने मेरा हाथ पकड़ कर ले जाकर मुझे कुरसी पर बिठाया। लोगों ने बधाई के भाषण दिये। मैंने कुछ कहकर उत्तर दिया और मैं बाजाब्ते सभापति हो गया और डा० सिन्हा मंच से उतरकर सदस्यों में जहां मैं पहले बैठा था, जाकर बैठ गये।

—राजेंद्र प्रसाद

राजेन्द्रबाबू के विचार से अन्य बातों, गुणों और योग्यता के अतिरिक्त संविधान सभा के अध्यक्ष का सबसे कड़ा कर्त्तव्य और गुण सभा में होनेवाले भाषणों, चर्चाओं और वाद-विवादों को चुपचाप धैर्य और शांतिपूर्वक सुनना है। उन्होंने इस संबंध में बड़ा रोचक किस्सा अपने पत्र में सुनाया है। शायद यहां के अभ्यास के कारण ही उनका यह स्वभाव-सा बन गया था कि राष्ट्रपति भवन में भी जब भी मैं उन्हें कोई पुस्तक, रिपोर्ट या दया की प्रार्थना की लम्बी कहानी पढ़कर सुनाना शुरू करती, वह आंख बंद करके आराम से बैठ जाते। स्वाभाविक था कि मैं इस मुद्रा को पसन्द न करती, क्योंकि एक तो मुझे ऐसा लगता कि मैं यूं ही पढ़े जा रही हूं और बाबूजी का ध्यान उस ओर है ही नहीं और कभी-कभी यह भी सोचती कि कहीं बाबूजी आंखें बन्द करने के बहाने सो ही तो नहीं गये, इसलिए अक्सर पढ़ते-पढ़ते मैं बीच में ही रुक जाती और जहां मैं रुकती, बाबूजी भी मेरी बात को समझ जाते और मुस्कराहट के साथ आंखें बन्द किये हुए ही फौरन पूरा-का-पूरा अंतिम वाक्य जो मैं उन्हें पढ़कर सुना रही थी, दोहरा देते। मैं आश्वस्त तो होती, पर उनका आंखें बंद करके सुनते जाना मुझे अच्छा तो नहीं ही लगता। कुछ इसी तरह का अनुभव उन्हें संविधान सभा

में हुआ जब एक सदस्य उनकी यह कसौटी लिये बिना न रह सके कि वह वास्तव में ऊंघ रहे हैं या सदन की कार्रवाई को सुन रहे हैं।

उन दिनों राजेन्द्रबाबू लॉर्ड हैलिफैक्स की पुस्तक 'फ़ुलनैस ऑफ डेज़' पढ़ रहे थे, कहना चाहिए मैं ही उन्हें पढ़कर सुना रही थी। उसीका जिक्र करते हुए उन्होंने अन्य बातों के साथ अपने अनुभव का वर्णन बड़े मजे से और दिलचस्प ढंग से किया है। शायद इसीलिए उन्हें जीवन में धैर्यपूर्वक लेकिन ध्यानपूर्वक सुनने की आदत पड़ गई थी और फिर वह उनका स्वभाव बन गया।

२०-७-५७

प्रिय ज्ञान,

अपने कल के पत्र में मैंने लॉर्ड हैलिफैक्स की पुस्तक 'फ़ुलनैस ऑफ डेज़" का जिक्र किया था। उसमें कई मजेदार बातें हैं। उनमें से एक तो यह है कि हालांकि लॉर्ड हैलिफैक्स ने पार्लमिंट के विषय में बड़े स्वाभाविक ढंग से और बहुत ईमानदारी के साथ सब बातों का वर्णन किया है जैसे उसके लिए आवश्यक गुण, उससे जो ट्रेनिंग मिलती है, कई विभूतियों ने पार्लमिंट के स्टेज पर जो पार्ट अदा किया है और जो महान कार्य संसद ने किये; उन्होंने स्वयं अपने-आपको बड़े सहज रूप से उसमें (पार्लमिंट) घुलने-मिलने नहीं दिया और न ही उन्हें वह आसान लगा। वह कई वर्षों तक हाउस ऑफ कॉमन्स के सदस्य रहे और उन्हें न केवल उसकी क्रिया-विधि, तौर-तरीकों तथा कार्य-प्रणाली के अध्ययन के अवसर मिले, बल्कि चर्चिल के मातहत अन्डर सेक्रेटरी के रूप में महत्वपूर्ण कार्य करने का अवसर भी मिला। उनकी बातों से तो लगता है कि कृषि मंत्री के रूप में उन्हें मजा नहीं आया और न ही जो कुछ गंभीर घटनाएं घटीं वे उन्हें अच्छी लगीं। अपने जीवन की शिक्षा और स्वभाव के कारण ऐसा लगता है कि जैसे बत्तख के लिए पानी में तैरना बड़ा आसान होता है, उदाहरण के लिए जैसे चर्चिल को संसद लगी, लॉर्ड हैलिफैक्स उस सहज रूप से पार्लमिंट को नहीं अपना सके।

संसद-सदस्य के लिए सबसे आवश्यक गुणों में सुनने और बोलने की

योग्यता भी है। अपने अल्पकालीन मंत्री-पद के समय मैं भारतीय संसद का एक सदस्य रहा हूं। १९३५ के संविधान के अन्तर्गत, १९४६ में मुझे कृषि और खाद्य मंत्री का पद संभालना पड़ा था, हमारे और वाइसराय के आपसी समझौते के अनुसार, हमें कार्यकारिणी परिषद (एक्जीक्यूटिव काउंसिल) के सदस्य का दर्जा नहीं दिया गया था, हालांकि संविधान में ऐसा निर्देश था, लेकिन मंत्रिमंडल के सदस्य के रूप में हम वाइसराय के प्रति नहीं बल्कि संसद के प्रति जवाबदेह थे। यह सब परंपरा के रूप में माना और अमल में लाया गया और यह सब तबतक चलता रहा जब-तक संविधान नहीं बदला और हम 'इंडिपेंडेंस ऑफ इंडिया ऐक्ट' के अन्त-र्गत काम नहीं करने लगे, लेकिन अपनी नियुक्ति के समय हमें या तो विधान-सभा अथवा राज्य परिषद किसीमें से एक के लिए नामजद किया जाता था।

प्रश्न यह खड़ा हुआ कि मैं किस सदन में जाना पसन्द करूंगा। लॉर्ड हैलिफ़ैक्स की तरह ही मेरी भी कुछ यही भावना थी और स्वयं अपने-आप-को मैंने काउंसिल ऑफ स्टेट के लिए ही चुना। जहांतक मुझे याद है, इस पसंदगी और चुनाव के दो या तीन कारण थे। एक तो परिषद की बैठक, जितने दिन वह बैठती है उसकी बैठकें कम घंटों के लिए होती हैं, और सभा की बैठक की अपेक्षा वर्ष में बहुत कम दिनों के लिए होती है। इसीलिए मैंने सोचा कि इसमें दूसरे सदन की अपेक्षा कम बैठना पड़ेगा। यह भी ख़याल रहा है कि स्वाभाविक ही मुझे कम बोलना और सुनना होगा। इसी तरह प्रश्न भी बहुत कम होंगे। इसके अलावा, मुझे खाद्य और कृषि विभागों के काम के लिए भी ज्यादा समय मिल जायगा। उस समय खाद्य की स्थिति बड़ी चिंताजनक थी और उसमें पूरी शक्ति और समय लगाने की जरूरत थी।

लेकिन यह सब सच नहीं हुआ, क्योंकि भारत में मंत्रियों को दोनों ही सदनों में बोलना होता है और प्रश्नों के जवाब देने पड़ते हैं। लेकिन वोट वे केवल एक ही सदन में दे सकते हैं, जिसके वे सदस्य होते हैं। इसलिए मुझे कई मौकों पर दूसरे सदन में भी बोलना पड़ा और प्रश्नों के जवाब देने पड़े। मजेदार बात यह है कि न केवल मंत्री के रूप में, लेकिन संविधान सभा के अध्यक्ष के रूप में भी वहां होनेवाली लंबी चर्चाओं, वाद-विवादों को'

वह भी एक दिन नहीं बल्कि महीनों तक, सुनते रहने की शक्ति और योग्यता की पूरी कसौटी हुई।

सौभाग्य से यह एकपक्षीय बात थी। मुझे केवल सुनना पड़ता था, बोलना तो शायद ही कभी पड़ता था। लेकिन जैसा मैंने पहले कहा, महीनों दिन में घंटों तक लगातार सुनते रहना भी कोई आसान काम नहीं। यहां यह बताना भी ठीक होगा कि केवल उन कुछ दिनों को छोड़कर जब मैं बीमारी के कारण हाजिर नहीं हो सका, मैं बराबर संविधान सभा में बैठता, यद्यपि मेरी गैरहाजिरी में अध्यक्षता के लिए उपाध्यक्ष के लिए एक पैनल की व्यवस्था थी, पर कुछ मौकों पर चन्द मिनटों के लिए ही उनकी सेवा भले ही ली हो, अन्यथा कभी भी उनकी सेवा की जरूरत नहीं पड़ी।

कई बार सदस्यों को मेरी परीक्षा लेने की भी सूझी कि मैं वास्तव में सुन भी रहा हूं या नहीं या सिर्फ आराम से कुर्सी पर बैठा हूं और यहांतक कि कहीं मैं सो तो नहीं रहा। एक बार मुझे याद है, किसी सदस्य ने बड़ा पेचीदा संशोधन यह सुझाव देते हुए कि कुछ शब्दों को हटा दिया जाय, कुछ शब्दों को जोड़ा जाय और कुछ शब्दों के बदले दूसरे शब्द रखे जायं, पेश किया। चर्चा के दौरान, जबकि कुछ भाषण हो चुके थे और कुछ होनेवाले थे, एक सदस्य उठे और उन्होंने अध्यक्ष से उस संशोधित प्रस्ताव को पढ़ने की प्रार्थना की। मैंने उसको पहले ही नोट कर लिया था। जैसे ही अनुरोध किया गया, प्रश्नकर्त्ता की शरारती मुद्रा और उसके पूछने के ढंग से ही मुझे यह मालूम हो गया था कि संशोधन में उनकी इतनी रुचि नहीं, जितनी कि यह जानने में थी कि मैं चर्चा को सुन रहा हूं या नहीं। मैं मुस्कराया और उस प्रस्ताव को संशोधन के साथ पढ़ सुनाया। इससे सदस्य महोदय को तो संतोष हुआ ही, लेकिन जाहिर था कि सदन को भी वह 'मजाक' भला लगा और उससे भी ज्यादा जिस तरह उसका अन्त हुआ, वह अच्छा लगा।

—राजेंद्र प्रसाद

३ | संविधान और संसद

जब अंग्रेज इस देश से गये वे हमारे लिए एक संविधान छोड़ गये थे, किंतु हमारे आत्म-सम्मान का तकाजा था कि हम अपने लिए एक नया संविधान तैयार करें, जिसका निर्माण राष्ट्र के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा किया जाय। यह काम सहज नहीं था, क्योंकि इस दिशा में हमारे पहले प्रयास असफल रहे थे और हम एकमत से संविधान की कोई रूपरेखा नहीं बना पाये थे। हमें परस्पर विरोधी दिखाई देनेवाली मांगों और धर्म-संप्रदाय, क्षेत्र-भाषा आदि से संबंधित मतभेदों तथा पिछड़े हुए और तथा-कथित उन्नत वर्गों के बीच साम्य स्थापित करना था। इसके अलावा वैधानिक और तकनीकी किस्म के भी ऐसे अनेक प्रश्न थे, जिन्हें हमें सुलझाना था। संसद-प्रणाली, संविधान-निर्माण की पेचीदगी, संविधान की वैधानिक तकनीकियों तथा उसके रूप और महत्व के विषय में राजेन्द्र-बाबू ने अपने पत्रों में इस प्रकार उल्लेख किया है :

१७–९–५६

प्रिय ज्ञान,

संविधान का निर्माण अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण काम था। यह काम जिस संविधान परिषद के सुपुर्द किया गया था उसमें प्रांतीय विधान सभाओं द्वारा निर्वाचित और रजवाड़ों द्वारा नामजद सदस्य शामिल थे। शुरू-शुरू में बहुत-सी रियासतों ने अपने प्रतिनिधि नहीं भेजे, किंतु नवम्बर १९४९ में जब संविधान तैयार हो गया था, तबतक प्रायः उन सभी रियासतों के प्रतिनिधि परिषद में शामिल हो गये थे, जो भारत में मिल चुकी थीं। इस प्रकार सभीने संविधान का समर्थन किया और

उसे विना किसी शर्त के स्वीकार किया। संविधान परिषद ने एक प्रारूप समिति और कई-एक उपसमितियां बनाईं। इसके बाद सिद्धान्तों और संविधान के मसविदे पर गहरे वाद-विवाद के बाद संविधान स्वीकृत हो गया। परिषद में सभी दल शामिल थे, लेकिन बहस और मतदान के समय सभी सदस्यों ने स्वतंत्र और निर्दलीय सदस्यों की तरह अपनी-अपनी राय दी। जब संविधान परिषद ने संविधान पर बहस की तब कार्य-संचालन संसद की तरह नहीं किया जिसमें मतदान दलों के आधार पर होता है।

बहुत हद तक हमारा संविधान ब्रिटिश पार्लामेंटरी गवर्नमेंट की प्रणाली पर आधारित है। संसद के दो सदन हैं—लोकसभा और राज्य-सभा। लोकसभा के सदस्यों की संख्या अधिक-से-अधिक ५०० है जो आबादी के हिसाब से वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जाते हैं। प्रत्येक सदस्य करीब-करीब ७,५०,००० लोगों का प्रतिनिधित्व करता है। अनुसूचित जातियों और कबीलों के लिए उनकी आबादी के आधार पर दस वर्ष तक सीटें आरक्षित हैं। किंतु चुनाव की प्रणाली सबके लिए मिली-जुली है। राज्य सभा के सदस्यों की अधिक-से-अधिक से संख्या २५० है, जिनमें से १२ सदस्य कला, सार्वजनिक सेवा और विद्वत्ता के प्रतिनिधियों के रूप में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। दूसरे सदस्यों का चुनाव राज्यों की विधान सभाओं द्वारा प्राय: आबादी के अनुपात से होता है। विषयों के परिच्छेद में तीन सूचियां दी गई हैं। एक उन विषयों की सूची है जिनपर केवल संसद का अधिकार है और दूसरी ऐसी जो केवल राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में आती है, तीसरी सूची में वे विषय हैं जिन पर संसद और राज्यों की विधान-सभा दोनों का अधिकार है। कर लगाने-संबंधी प्रस्तावों पर मतदान का अधिकार केवल लोकसभा को है। लोकसभा का कार्यकाल पांच वर्ष है, किंतु समय से पहले भी इसे बरखास्त किया जा सकता है। राज्य सभा बरखास्त नहीं की जा सकती, किंतु इसके एक-तिहाई सदस्यों का हर दो साल पर चुनाव होता है, इस प्रकार प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल ६ साल रहता है। राष्ट्रपति की अनुमति पाने और कानून बनने से पहले यह जरूरी है कि प्रत्येक विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित किया जाय।

इसका एक मात्र अपवाद वित्तीय विधेयक है, जिसपर मतदान केवल लोक सभा द्वारा होता है, यद्यपि वहस राज्य सभा में भी होती है। संविधान में संसद के कार्य-संचालन की क्रियाविधि की विस्तार से व्याख्या की गई है और संसद द्वारा निर्णीत नियमों आदि से इनकी अभिवृद्धि होती रहती है।

राष्ट्र का कार्यकारी अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है, जिसका चुनाव पांच वर्ष के लिए होता है। संविधान के उल्लंघन के लिए राष्ट्रपति का अविक्षेद किया जा सकता है। एक उपराष्ट्रपति होता है, जिसका कार्यकाल भी पांच वर्ष है। राष्ट्रपति जिस निर्वाचन-क्षेत्र से चुना जाता है उसमें सभी राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य, और संसद के दोनों सदनों के सदस्य शामिल हैं। उपराष्ट्रपति को केवल संसद के सदस्य ही चुनते हैं। आम तौर से उप-राष्ट्रपति राज्य सभा की अध्यक्षता करता है।

विभिन्न कार्यों के संचालन के लिए कुछ स्वतंत्र एजेंसियां हैं। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण न्यायपालिका है, जिसके शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है। एक निर्वाचन आयोग है, एक महालेखा परीक्षक और लेखा-नियंत्रक है और एक लोक सेवा आयोग है।

—राजेंद्र प्रसाद

२०-१२-५६

प्रिय ज्ञान,

इन विशेष एजेंसियों के अधिकार, अभिप्राय आदि विस्तार से संविधान में दिये गए हैं। सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्टों से संबंधित व्यवस्था में न्याया-धीशों की नियुक्ति के तरीके और उनकी योग्यता के बारे में ही नहीं कहा गया, बल्कि उसकी इस प्रकार रचना की गई है, जिससे कार्यकारिणी से न्यायपालिका की स्वतंत्रता को आंच न आये। इसी प्रकार लोक सेवा आयुक्त और महालेखाकार की स्वतंत्रता की रक्षा भी लगभग उच्च न्याया-लय के न्यायाधीशों के समान ही की गई है। चुनाव आयुक्त को केंद्रीय और राज्यों की विधान सभाओं की रक्षा करनी होती है और यह देखना होता है कि चुनाव दलगत क्षेत्रों के हस्तक्षेप से प्रभावित न हों, जिससे कि सत्ता-

रूढ़ दल और सत्ताहीन दल दोनों को ही चुनाव जीतने के समान अवसर मिल सकें।

इन विशेष एजेंसियों के अतिरिक्त, संविधान में सेवाओं के अधिकारों के संरक्षण और राज्यों तथा केंद्रीय सरकार का कामकाज चलाने के लिए भाषा की व्यवस्था भी की गई है। एक परिच्छेद में भाषाओं की सूची दी गई है और राज्य अपने कामकाज के लिए इनमें से किसी एक अथवा हिंदी का उपयोग कर सकते हैं। केंद्र के कामकाज की भाषा हिंदी को माना गया है और चूंकि देश के सभी भाग हिंदी से परिचित नहीं हैं और एतदर्थ हिंदी का उपयोग देशभर में होता रहा है, भाषा-संबंधी परिवर्तन के लिए राष्ट्रपति के आदेशानुसार १९५० में संविधान के लागू होने के बाद से १५ वर्ष की अवधि नियत की गई है। पांच वर्ष के बाद परिवर्तन के परिणाम और उपाय पर रिपोर्ट देने के लिए एक आयोग नियुक्त किया जायगा। इस आयोग की नियुक्ति हो चुकी है। आयोग की रिपोर्ट पर संसद की एक समिति विचार करेगी और राष्ट्रपति इस रिपोर्ट में दी गई सिफारिशों के अनुसार आदेश जारी करेंगे। दस वर्ष बाद ऐसा ही एक आयोग फिर नियुक्त किया जायगा।

पिछड़ी जातियां की परिस्थितियों में सुधार के लिए विशेष व्यवस्था की गई है। इस कार्य के लिए एक आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था थी। आयोग अपनी रिपोर्ट पेश कर चुका है।

संविधान की एक और विशेषता यह है कि इसमें गणतंत्र के सभी नागरिकों के मूल अधिकारों का जिक्र किया गया है। इन अधिकारों को हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट के आदेशों द्वारा सुरक्षित रखने की पूरी व्यवस्था है। जाति-पांति, धर्म, और स्त्री-पुरुष के भेद-भाव के बिना प्रत्येक नागरिक कानून के सामने एक समान है—यह एक मौलिक अधिकार है। दूसरे ऐसे अधिकार ये हैं—भाषण, संपर्क और धार्मिक विचारों की पूर्ण स्वतंत्रता और प्रत्येक नागरिक की व्यक्तिगत सुरक्षा की गारंटी। ये सब अधिकार मौलिक हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि संविधान में दिये एक विशेष तरीके को छोड़कर इन अधिकारों को किसी प्रकार रद्द नहीं किया जा सकता। संविधान में संशोधन द्वारा ही इन्हें वापस किया जा सकता है।

ये अधिकार विधि-संगत हैं और इनके उल्लंघन पर अदालतों द्वारा इनकी रक्षा और पुनः स्थापना की जा सकती है। मौलिक अधिकारों के अलावा संविधान में कुछ सैद्धांतिक आदेश भी दिये गए हैं जिनका गणराज्य की ऐसी नीतियों से संबंध है, जो विधि-संगत नहीं हैं और जिनके अनुसरण की गणराज्य द्वारा आशा की जा सकती है। इन आदेशों का अभिप्राय है, समाज-कल्याण को प्रोत्साहन, जैसे ग्राम-पंचायतों का निर्माण, रोजगार, शिक्षा, रहन-सहन की स्थिति में सुधार, मातृत्व-सहायता, उचित मजदूरी, मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा, पोषण के स्तर में सुधार, कृषि, पशुपालन आदि की उन्नति।

जैसाकि मैंने कहा, राष्ट्रपति गणराज्य के शासन के अध्यक्ष और सेनाओं के सर्वोच्च सेनानायक हैं। इस कार्य में उन्हें मंत्री-परिषद् की सहायता और सलाह की व्यवस्था है। राष्ट्रपति प्रधान मंत्री को नियुक्त करेंगे और प्रधान मंत्री की सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति होगी। ये सब राष्ट्रपति की इच्छानुसार पद का भार ग्रहण करेंगे और लोक सभा के प्रति इनका दायित्व सामूहिक होगा। यह अंतिम व्यवस्था ही समस्त शासन प्रणाली को इंग्लैंड में प्रचलित पर्लामेंटरी जनतंत्र का व्यावहारिक रूप दे देती है, जिसमें राष्ट्रपति संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में अपने मंत्रियों की सलाह पर काम करता है और मंत्री स्वयं लोक सभा के प्रति उत्तरदायी हैं। लोक सभा की जवाबदारी को कई तरीकों से दृढ़ किया गया है। पहले तो हर पांच साल के बाद लोक सभा के चुनाव की व्यवस्था है, यदि इस अवधि से पहले लोक सभा बरखास्त न कर दी गई हो। दूसरे, प्रत्येक मंत्री को चुनाव का सामना करना पड़ता है और निर्वाचक उसे चाहें तो मत दें और चाहें न दें। यही नहीं, मंत्री को अपने रोजमर्रा के काम में अपनी जिम्मेदारी का भार उठाना होता है, क्योंकि सभी विचारणीय प्रश्नों, प्रस्तावों और विधेयकों पर लोक सभा में मत लिये जा सकते हैं। यही काम किसी हद तक प्रश्नोत्तर द्वारा और वित्तीय मंजूरी की मांग पर बहस द्वारा भी होता है। इस तरह लोक सभा के प्रति मंत्रिमंडल की जिम्मेदारी ठोस और सच्ची होती है और कोई भी मंत्री लोक सभा का विश्वास खोने पर मंत्री पद पर बना नहीं रह सकता। भारतीय संविधान संघीय संविधान है अर्थात

इसके अनुसार सत्ता केंद्र और राज्यों में बंटी है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शासन के सभी विषय तीन सूचियों में बंटे हैं। एक सूची में वे विषय हैं, जिनपर केवल केंद्र का अधिकार है, दूसरी सूची के विषय केवल राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं और तीसरी सूची है, जिसके विषय केंद्र और राज्यों के मिले-जुले अधिकार के अन्तर्गत आते हैं। यदि केंद्र द्वारा कानून और राज्यों द्वारा पारित कानूनों में परस्पर विरोध होगा, तो उस दशा में केंद्रीय कानून लागू माना जायगा। यदि कोई विषय ऐसा हो, जो किसी सूची में भी नहीं दिया गया हो, वह केंद्र के अधिकार-क्षेत्र में समझा जायगा। जब हम यह कहते हैं कि विशिष्ट सत्ता केंद्र में निहित है, उसका अभिप्राय इस व्यवस्था से ही होता है। इस प्रकार राज्य उन विषयों के संबंध में स्वतंत्र हैं, जो उन्हींके अधिकार-क्षेत्र में आते हैं। इनमें केंद्र संविधान में संशोधन किये बिना हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसका मतलब यह हुआ कि सभी विवादग्रस्त मामले जिनमें केंद्र और राज्यों के अधिकार के बारे में झगड़ा अथवा संदेह हो, निर्णय के लिए अदालत के सुपुर्द किये जा सकते हैं। अदालतों के निर्णय के अनुसार ऐसा बराबर होता रहता है कि अमुक कानून केंद्र के लिए अथवा राज्यों के लिए अधिकार के बाहर या अधिकार के अधीन माना गया हो। अदालतें ऐसे कानूनों को बराबर वैध या अवैध घोषित करती रहती हैं।

चूंकि राज्य अपने विषयों के संबंध में करीब-करीब स्वाधीन हैं, उन सबके बारे में विस्तृत व्यवस्था की गई है। राज्यों को पहले 'क' 'ख' 'ग' इस तरह तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया था। 'क' राज्य ब्रिटिश भारत के सूबों या प्रान्तों के उत्तराधिकारी थे और उन्हें वह सब सत्ता प्राप्त थी, जो गवर्नमेंट एक्ट १९३५ के अन्तर्गत संविधान द्वारा उनमें निहित होती थी। 'ख' राज्य वे थे, जो मूल रूप से राजाओं की रियासतें थीं और जिन्हें बाद में एक अथवा अधिक रियासतों के विलय के फलस्वरूप राज्यों का रूप दिया गया। 'ग' राज्यों में कुछ विभिन्न क्षेत्र शामिल थे। 'क' राज्यों से संबंधित संविधान के एक भाग में लगभग उसी तरह की व्यवस्था है जैसी केंद्रीय विषयों के बारे में। केवल शासन के अध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति के बजाय राज्यपाल होता है, जो राष्ट्रपति की तरह निर्वाचित नहीं, बल्कि

राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और उसीकी इच्छानुसार पद का भार संभालता है।

राज्यों के लिए एक विधान सभा की व्यवस्था है, जो बालिग मताधिकार पर चुनी जायगी। प्रति एक लाख की जनसंख्या के आधार पर एक व्यक्ति चुना जायगा और किसी भी विधान सभा के सदस्यों की संख्या ५०० से अधिक नहीं होगी। जो राज्य ऐसा चाहते हों, वे दूसरे सदन के रूप में विधान परिषद भी बना सकते हैं, जिसका चुनाव अप्रत्यक्ष होगा और निर्वाचन-क्षेत्र जिला-बोर्ड, नगरपालिकाएं तथा इसी तरह की अन्य संस्थाएं होंगी और कुछ लोग राज्यपाल द्वारा नामजद होते हैं। इसके अलावा न्याय-पालिका (ज्युडीशियरी), महालेखाकार (अकाउंटेंट जनरल), संघीय लोक सेवा आयोग की भी व्यवस्था की गई है। 'ख' राज्यों को 'क' राज्यों के स्तर पर लाने का यत्न किया गया है। उनके संबंध में विशेष व्यवस्था यह है कि उनका शासनाध्यक्ष राज्यपाल की जगह राजप्रमुख होगा। राजप्रमुख भूतपूर्व नरेश होंगे, जिन्हें 'क' राज्यों में राज्यपाल के समान राष्ट्रपति द्वारा अधिकार सौंपे जाते हैं।

'ग' राज्य में वे प्रदेश शामिल हैं, जिनकी शासन-व्यवस्था लोक सभा के अधिनियम द्वारा होती है। इनमें विधान सभा की व्यवस्था है, किन्तु इस सभा की सत्ता और उसके अधिकार-क्षेत्र 'क' और 'ख' राज्यों की सभाओं की अपेक्षा कम हैं और इनके कामकाज की देखरेख केंद्रीय सरकार द्वारा की जाती है।

संविधान में संशोधन द्वारा अब 'ख' और 'ग' राज्यों को समाप्त कर दिया गया है और अब सब राज्यों का एक समान दर्जा है तथा सभी 'क' राज्यों के समान शासित होते हैं। राज्यप्रमुख का पद भी हटा दिया गया है। 'ग' राज्य या तो दूसरे राज्यों के साथ मिला दिये गए हैं या उन्हें केंद्र द्वारा शासित प्रदेशों का दर्जा दिया गया है। इस प्रकार १९५६ में राज्य पुनर्गठन अधिनियम में संशोधन द्वारा राज्यों की संख्या में कमी हो गई है और सभी राज्यों को समान पद देकर संविधान की सामान्य व्यवस्थाओं के अन्तर्गत लाया जा रहा है।

भारत का संविधान पेचीदा संविधान है, जो संसार के किसी भी दूसरे

देश के संविधान से पूरी तरह मेल नहीं खाता। यह संघीय (फैडरल) है, यद्यपि इसके अन्तर्गत ऐसे राज्य नहीं, जो स्वाधीन रहे हों और जिन्होंने स्वयं संघ की व्यवस्था की हो। हमारा संघ ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों और उनके अर्ध-स्वाधीन ऐसी रियासतों को मिलाकर बना है, जिनके अधिकार सनदों और संधियों के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न स्तर के थे। हमारे संविधान का ढांचा ब्रिटिश संविधान का-सा है और यद्यपि इसके अनुच्छेद संख्या में अधिक और बहुत लंबे हैं, फिर भी, कई एक महत्वपूर्ण मामलों में वे व्याख्या और परम्परा की दृष्टि से युनाइटेड किंगडम के अतिरिक्त संविधान पर आधारित हैं।

हमारा संविधान लिखित है। इसलिए अदालतों द्वारा व्याख्या-संगत है। यद्यपि संघ और राज्यों की सत्ता निर्धारित कर दी गई है, फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों और कुछ मामलों में संघीय सत्ता सर्वोपरि है। वास्तव में राज्यों की स्वाधीनता कई तरह से सीमित है और शासन-व्यवस्था में ऐसा व्यवधान आने पर, जो साधारण संविधान के अनुसरण में बाधा डाले, राज्यों का संपूर्ण शासन राष्ट्रपति द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। बहुत-सी व्यवस्थाओं की कसौटी पहले ही हो चुकी है और हमने उन्हें व्यवहार में उपयोगी पाया है। अभी तक कोई बहुत ही उग्र मामला सामने नहीं आया है, कन्तु यदि ऐसा कुछ हो तो सभी संविधान टूट सकते हैं और कोई भी अपवाद रूप में नहीं रह सकता।

—राजेंद्र प्रसाद

२७-१२-५६

प्रिय ज्ञान,

संविधान सभा द्वारा नवम्बर १९४९ में भारत का जो संविधान स्वीकृत हुआ था वह २६ जनवरी १९५० को लागू किया गया। तब से इस समय तक इसे सात संशोधन विधेयकों द्वारा बदला गया है। सबसे महत्वपूर्ण और व्यापक संशोधन वे थे, जो राज्यों के पुनर्गठन के फलस्वरूप करने पड़े। उन्हें हम संक्षेप में दे सकते हैं, किंतु उसके लिए मौलिक व्यवस्थाओं का देना भी जरूरी होगा। जब मौलिक संविधान तैयार हुआ उस समय संघ के राज्यों

को क,ख,ग इस प्रकार तीन श्रेणियों में बांटा गया और उन्हें एक परिच्छेद में गिनाया गया। इन राज्यों के अलावा कुछ और क्षेत्र भी थे, जिन्हें राज्यों से भिन्न क्षेत्रों के रूप में गिनाया गया था। राज्यों की तीन श्रेणियों के संबंध में अलग से संवैधानिक व्यवस्था की गई थी, यद्यपि 'क' और 'ख' श्रेणी के राज्यों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं था। उन राज्यों को वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधान सभाएं और विधान सभा के प्रति उत्तरदायी मंत्रिमंडल की व्यवस्था की गई थी। जो राज्य चाहें उन्हें दूसरे सदन के रूप में विधान परिषद् चुन लेने की भी व्यवस्था थी। सबके लिए एक उच्च न्यायालय और अन्य सरकारी ताम-झाम था। 'ग' श्रेणी के राज्यों का शासन संसद के अधिनियम के अनुसार होता था और यद्यपि विधान सभा और उत्तरदायी मंत्रिमंडल की इनके लिए व्यवस्था थी, ये राज्य अधिकतर भारत सरकार की देख-रेख के अन्तर्गत थे। ये सभी क्षेत्र भारत सरकार के अधीन थे। इन राज्यों और क्षेत्रों की संख्या इस प्रकार थी—

क १० राज्य, ख ८ राज्य, ग ११ राज्य। बाद में दो राज्यों को दूसरे राज्यों में मिला देने के कारण क राज्यों की संख्या नौ रह गई।

अंडमान और निकोबार द्वीप-समूहों को 'घ' श्रेणी में रखा गया। इस प्रकार इनसब राज्यों की संख्या कुल २९ हो गई। सन १९५६ के संशोधन के अनुसार इस विभिन्नता को मिटाकर सब राज्यों को एक ही श्रेणी में रख दिया गया और संविधान की व्यवस्था के अनुसार सभी राज्यों का शासन, अधिकार और विषय एक समान हो गये। भारत के सारे क्षेत्र अब केवल दो वर्गों में बंटे हुए हैं, एक तो वे जो 'राज्य' कहलाते हैं और दूसरे वर्ग को 'क्षेत्र' का नाम दिया गया है। पहले 'क' श्रेणी के राज्यों में राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त राज्यपाल थे, जो इन राज्यों के शासनाध्यक्ष होते थे। 'ख' श्रेणी के राज्यों में राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त उन राज्यों के भूतपूर्व राजा-महाराजा होते थे, जो राजप्रमुख कहलाते थे। अब संशोधित कानून के अनुसार सब राज्यों के लिए एक ही व्यवस्था है और सब राज्यों में केवल राज्यपाल ही शासनाध्यक्ष हैं। 'क्षेत्रों' का शासन केन्द्रीय सरकार द्वारा चलाया जाता है। अब कुछ और राज्यों को भी मिला दिया गया है और २१ राज्यों के स्थान पर अब केवल १४ राज्य तथा ६ संघशासित क्षेत्र रह गए हैं, जिनके

नाम इस प्रकार हैं—

राज्य	क्षेत्र
१. आंध्र प्रदेश	१. दिल्ली
२. असम	२. हिमाचल प्रदेश (इसे १९७२ में पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया है)
३. विहार	३. मणीपुर
४. वम्बई	४. त्रिपुरा
५. केरल	५. अंडमान और निकोवार द्वीप-समूह
६. मध्य प्रदेश	६. लकादीव और मिनीकाय द्वीप-समूह
७. मद्रास (तमिलनाडु)	
८. मैसूर	
९. उड़ीसा	
१०. पंजाव	
११. राजस्थान	
१२. उत्तर प्रदेश	
१३. पश्चिम वंगाल	
१४. कश्मीर	

कश्मीर के शासन की व्यवस्था कुछ मामलों में उसके अपने संविधान के अनुसार है और कुछ मामलों में भारत के संविधान की व्यवस्था के अनुसार। राज्यों के पुनर्गठन और उसके कारण वड़े-वड़े क्षेत्रों का एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरण और कई राज्यों के अलग भाग हो जाने की वजह से संविधान में कई संशोधन करने की जरूरत पड़ी, जैसे विधान सभाओं की संख्या में घट-वढ़, उच्च न्यायालयों के क्षेत्र और अन्य अधिकार आदि।

यहां अन्य कुछ संशोधनों का जिक्र भी किया जा सकता है। जैसे, राज्यों को सामाजिक, शैक्षिक तथा अन्य प्रकार से पिछड़े वर्गों और अनुसूचित जाति और कवीलों के लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था के अधिकार देने के लिए संशोधन।

२. राज्यों की सुरक्षा के हित में भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर उचित रोक लगाने के लिए कानून बनाने, विदेशों से मित्रतापूर्ण संवंध

स्थापित करने, राज्यों में सुव्यवस्था, नैतिकता, न्यायालय का अपमान और इसी तरह की अन्य बातों को रोकने के लिए राज्यों को अधिकार देने के लिए संशोधन।

३. राज्य के हित में संपत्ति प्राप्त करने के संबंध में भी संशोधन किया गया, जिससे राज्यों को संपत्ति ग्रहण करने के लिए संपत्ति की कीमत और उसके लिए मुआवजा आदि निश्चित करने के लिए कानून बनाने का अधिकार मिल गया, और इस कानून के अन्तर्गत निर्धारित मुआवजे आदि के संबंध में न्यायालय में चुनौती नहीं दी सकती।

अन्य बहुत-से संशोधन भी किये गए हैं, जो इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं और आम क्रियाविधि के अन्दर आ जाते हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

२२-१०-१९५७

प्रिय ज्ञान,

भारतीय संविधान के निर्माताओं के सामने बहुत-से देशों के संविधान थे, जिनमें से वे जिसको भी भारत की स्थिति के सबसे अधिक अनुकूल हो उसे ले लेने को स्वतंत्र थे। भारत में जबकि बहुत-से प्रांत और भारतीय रियासतें थीं, जिनके कारण हमें फैडरल गवर्नमेंट का रूप अपनाना पड़ा, लेकिन फिर भी हमने ब्रिटिश संविधान से बहुत-कुछ लिया, यद्यपि उनका संविधान एकात्मक संविधान है, जहां एक ही संसद है और वह हर प्रकार से सार्वभौमिक या सर्वोपरि है। हमारे संविधान में कम-से-कम दो प्रकार के विधान मंडल हैं—एक केन्द्रीय और दूसरा राज्य विधान मंडल। हरेक विधान मंडल के अपने अधिकार-क्षेत्र हैं और इस विषय में हमने अपने संविधान को अमरीकी संविधान के नमूने पर बनाया है। संक्षेप में, हम अपने संविधान को संसद-प्रणाली के अनुरूप कह सकते हैं, जबकि अमरीकी संविधान प्रेसिडेंशियल प्रणाली पर आधारित है।

संसद-प्रणाली के साथ-साथ हमने ब्रिटेन से दलगत प्रणाली भी ली है, यद्यपि संविधान में दलों को स्पष्ट रूप से मान्यता नहीं दी गई है। दलगत

प्रणाली को अपनाना हमारे लिए कहांतक उचित है, यह कहना मुश्किल है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह देश के लिए लाभदायक है या नहीं। इंग्लैंड में भी जहां इस प्रणाली का जन्म और पूर्ण विकास हुआ, इसके विरोध में यदा-कदा कुछ सुनने को मिलता है। भारत में तो हमने इसे एक सैद्धान्तिक सत्य और संसद-प्रणाली के एक आवश्यक अंग के रूप में लिया है। इसकी जगह हम और क्या कर सकते थे, इसपर भी हमारे यहां कोई विचार नहीं हुआ। अब समय आ रहा है जब हमें इस प्रणाली की वांछनीयता और उपादेयता पर विचार करना होगा। अंग्रेजी प्रणाली के सुचारु रूप से चलने का सबसे बड़ा कारण यह है कि वहां कालांतर में लोगों और राजनीतिज्ञों में ऐसी परम्पराओं का विकास हो सका है, जिनके कारण उस प्रणाली के दोष छिप गये हैं। हमारे देश को ऐसी परम्पराएं विकसित करने का समय नहीं मिला है, और जिस ढंग पर और जैसे वातावरण में हमारे दल काम कर रहे हैं, ऐसी परम्पराओं के विकास की आशा भी नहीं होती। दलों में उपदलों की उत्पत्ति का हमारा अनुभव अच्छा नहीं है। हम नहीं जानते हैं कि हम किधर जा रहे हैं। हम यह भी नहीं कह सकते कि प्रत्येक राज्य की विधान सभा में हमेशा एक प्रमुख दल रहेगा। फिलहाल, कांग्रेस केन्द्र में और दो को छोड़कर सभी राज्यों में बहुमत में है। किन्तु दो राज्यों में तो अब उसकी वह स्थिति नहीं रही और उनमें विभिन्न दलों में समझौते के आधार पर मिली-जुली सरकारें बनानी पड़ी हैं। यह प्रवृत्ति संभवतः बढ़ती जायगी और स्थायी सरकारों का निर्माण अधिकाधिक मुश्किल होता जायगा। कुछ सालों बाद यदि केन्द्र में भी फ्रांस की तरह हर तीन या छः महीने के बाद नई सरकार का निर्माण करना पड़े तो आश्चर्य नहीं होगा। सुनते हैं, फ़्रांस में किसी सरकार के न होने से भी साधारण प्रशासन पर बुरा असर नहीं पड़ता और राष्ट्रीय सेवाएं, राजकाज बराबर चलाती रहती हैं। इसके लिए कुशल और ईमानदार प्रशासकों का होना जरूरी है। मैं नहीं कह सकता कि हम अपने मौजूदा प्रशासकों के संबंध में यह दावा कर सकने हैं। इंडियन सिविल सर्विस को भारतीय प्रशासन का स्टील फ़्रेम कहा जाता था। मेरे ख्याल से लार्ड जार्ज ने इसे यह नाम दिया था। इसमें संदेह नहीं, इस सर्विस के सदस्य

आमतौर से कुशल और ईमानदार प्रशासक थे। नाममात्र के लिए इस सर्विस के कुछ सदस्य अब भी मौजूद हैं और अभी कुछ साल के बाद रिटायर हो जायंगे। नई भारतीय प्रशासन सेवा (इंडियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस) ने इसका स्थान लिया है, किन्तु अभी इसकी अपनी कोई परम्परा नहीं, और न ही यह अपने पूर्वाधिकारियों के पदचिह्नों पर चल रही है। जिन हालत और परिस्थितियों में हमारे नए प्रशासकों को आरंभ से ही काम करना पड़ा है, उन्हें इस सर्विस के स्वस्थ और उचित विकास के लिए आदर्श नहीं कह सकते।

आज से कुछ वर्ष बाद जब हमारे राजनीतिज्ञ अनुभवहीन होंगे और राष्ट्रीय सेवाएं भी परम्पराहीन होंगी, हमारा प्रशासन किधर जायगा, यह कोई नहीं कह सकता। हमारे सामने यह एक गंभीर समस्या है। इंग्लैंड में कुछ परम्पराएं और अलिखित नियम हैं, जो राजनीतिज्ञों का पथ-प्रदर्शन करते हैं। किन्तु हमारे यहां अभी ऐसा कुछ नहीं। इसी कारण समस्या खड़ी हुई है।

—राजेंद्र प्रसाद

जून १९७२ में संसद ने एक विधेयक पारित किया, जिसके अनुसार आई० सी० एस० के सभी विशेषाधिकार समाप्त कर दिये गए हैं।

इसीके साथ-साथ इस बात का उल्लेख करना भी असंगत न होगा कि १९७२ में ही बहुत संकोच और विरोध-अवरोध के बाद संसद ने राजा-महाराजाओं के प्रिवी पर्स और सभी विशेषाधिकारों-सहित उनके टाइटल (विशेष नाम) और उन्हें मिलनेवाली विशेष सुविधाओं को भी समाप्त कर दिया है।

इनसब बातों से यह स्पष्ट होता है कि एक प्रकार से संसद संविधान से भी बड़ी है, क्योंकि संविधान में उलटफेर करने और यथासमय संशोधन करने का अधिकार भी केवल संसद को है। इंग्लैंड की संसद, जो प्रजातांत्रिक प्रणाली की जननी है, वहां तो लिखित संविधान है ही नहीं। परम्पराओं और व्यवहार के आधार पर ही जो प्रथाएं स्वीकृत हो चुकी हैं उन्हें सर्वमान्य मान लिया गया है और उन्हींको संविधान का रूप प्राप्त

हो गया है। उनकी ठीक-ठीक व्याख्या करना और उनके संबंध में हर प्रकार के विवाद का निपटारा करना और अधिकृत रूप से निर्णय देना इंग्लैंड की संसद अथवा 'हाउस आफ कामन्स' का सर्वोपरि अधिकार है।

हमारे देश में भी संसद की जो स्थिति है और उसे जो अधिकार प्राप्त हैं, वे अंग्रेजों की प्रथा के ही अनुरूप हैं। यहां भी संसद के आगे सभी व्यक्तियों, सभाओं, संस्थाओं आदि की सत्ता अथवा अधिकार गौण हैं। अन्तिम रूप से वही बात संवैधानिक और वैध मानी जाती है, जिसे संसद का समर्थन प्राप्त हो।

हमारे देश में संसद का क्या स्वरूप है, इसपर भी थोड़ा गौर करें। हमारा प्रजातंत्र ब्रिटिश प्रजातंत्र के नमूने पर दलगत प्रणाली का समर्थक है। संसद में कई दल हैं, जिनमें संख्या की दृष्टि से इस समय सबसे बड़ा दल कांग्रेस है। यद्यपि मंत्रिमंडल का निर्माण कांग्रेस दल के नेता द्वारा अपने दल के सदस्यों की सहायता से किया जाता है, तो भी यह कहना ठीक न होगा कि विरोधी दलों की एकदम अवहेलना की जाती है। आरंभ के वर्षों में चाहे कुछ होता रहा हो, किन्तु इधर यह स्वस्थ प्रथा बराबर जोर पकड़ती जा रही है कि जब-जब सरकार को ऐसे गंभीर प्रश्नों से जूझना पड़ा, जिनका संबंध अखिल राष्ट्र के कल्याण अथवा सुरक्षा से हो, तब-तब प्रधानमंत्री ने विरोधी दलों के नेताओं से विचार-विनिमय किया है और सरकारी निर्णयों को सर्वदलीय निर्णयों के स्तर तक उठाया है। १९६२ में चीनी हमले का मुकाबला करने के समय और कुछ महीने हुए, पाकिस्तानी आक्रमण के प्रतिरोध के समय सरकार की सुरक्षा-नीति के संबंध में जितने प्रमुख निर्णय किए गए उन सबके बारे में किसी-न-किसी रूप में विरोधी दलों के साथ बातचीत की गई थी। यह स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार जहां प्रशासक दल ने अपनी उदारता का परिचय दिया वहां संसदीय अधिकारों को भी अधिक व्यापक बनाने में सहायता की है।

धीरे-धीरे, जैसे-जैसे हमारा अनुभव बढ़ता जा रहा है, संसद के अधिकारों की परिधि बराबर विस्तृत होती जा रही है। राष्ट्रीय महत्व का कोई भी प्रश्न हो, उसे सुलझाने की दिशा में सबसे पहला प्रयास संसद द्वारा उसपर विचार का होता है। और फिर, संसद की स्थिति भी ऐसी है, इसके सदस्यों

को ऐसी सुविधाएं दी गई हैं, जो किसी भी समस्या पर स्वतंत्र रूप से विचार करने और राष्ट्रहित में उसका हल खोजने में सहायक होती हैं। संसद-सदस्य प्रश्नों द्वारा और बेरोक-टोक सरकारी कामकाज की आलोचना तथा टीका-टिप्पणी द्वारा राष्ट्र की समस्याओं की ओर सरकार का ही नहीं, वलिक जन-साधारण का ध्यान आकर्षित करते हैं। इस प्रकार एक अज्ञात किन्तु देश के लिए महत्वपूर्ण विषय को अंधकार से प्रकाश में लाया जाता है। इसके फलस्वरूप जो स्वतंत्र विचार-विनिमय होता है और संसद-सदस्यों की आलोचना का सरकार को जवाव देना पड़ता है, उससे एक ओर जहां लोगों की जानकारी में वृद्धि होती है वहां दूसरी ओर संसद के व्यक्तित्व का भी निर्माण होता है और उसके अधिकारों का आधार दृढ़ से दृढ़तर बनता जाता है।

प्रशासन के विभिन्न अंग किसी विषय विशेष से संबंध रखते हैं अर्थात् उनका अधिकार-क्षेत्र सुनिश्चित सीमाओं में बंधा होता है। केवल संसद् ही ऐसी एकमात्र संस्था है, जिसका अधिकार-क्षेत्र सीमाओं को स्वीकार नहीं करता और जिसकी सत्ता निर्विवाद और असंदिग्ध है।

ये सब विचार चिरकाल तक राजनैतिक सिद्धांतों का विषय रहे हैं। इधर १००-५० वर्षों से ही अधिकतर ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव के फलस्वरूप जबसे जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का प्रचार हुआ है, संसार के बहुत-से देशों को इन विचारों को व्यवहार की कसौटी पर कसने का मौका मिला है। व्यावहारिक परीक्षण और गलतियों के बाद अब यह स्पष्ट हो गया है कि जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली में जो लोच है और प्रत्येक नागरिक के अधिकारों को सुरक्षित रखने के साथ-साथ मानव-समाज को आगे बढ़ाने की क्षमता है, वह दूसरी शासन-प्रणालियों में दुर्लभ है। जन-तंत्रात्मक प्रणाली का केंद्र-बिंदु राष्ट्र की संसद् है। प्रशासन की बागडोर चाहे किसी दल या वर्ग के हाथ में हो, जबतक संसद् के अधिकार अक्षुण्ण हैं और कार्यक्षेत्र तथा कार्य-संचालन की दृष्टि से उसका स्वरूप सार्वभौमिक है, वह राष्ट्र बड़े-से-बड़े संकट का सामना कर सकता है। प्रजातंत्र में जनशक्ति निहित है और संसद इस अपार शक्ति के उपयोग का सर्वोत्तम साधन है। ऐसी संसद प्रहारों की चोट को सह सकती है और प्रतिकूल

परिस्थितियों को अपने अनुकूल कर उनपर पनप सकती है।

यह सौभाग्य का विषय है कि भारतीय संसद इस स्वस्थ परंपरा का ही अनुसरण कर रही है। यद्यपि हमारा प्रजातंत्रात्मक गणराज्य अभी केवल २५ वर्ष पुराना है, हमारी संसद अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने के साथ-साथ समस्त राष्ट्र और भारतीय जनगण के हितों की रक्षा और उनके कल्याण का चिंतन करने में सफल रही है। देखा जाय तो एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि भारतीय जनता की सुख-समृद्धि और इस प्राचीन राष्ट्र की भावी महानता का लक्षण तथा साथ ही उसकी गारंटी भारतीय संसद ही है।

इसलिए हम कह सकते हैं कि संसद वह नींव है, जिसपर प्रजातंत्र की भव्य इमारत खड़ी है। संसद वह स्रोतस्विनी है, जो अपनी अविरल, निर्मल और उन्मुक्त धारा से प्रजातंत्र के हर क्षेत्र को सींचती है, जिससे राष्ट्र को पोषण मिलता है। संसद प्रजातंत्र देश की नाभि है, जहां उसके प्राण बसते हैं और देश का जीवन हर घड़ी सांस लेता है। संसद समूचे देश का ऐसा केंद्र-बिंदु है, जहां प्रजा की आत्मा का निवास है। संसद एक दल की नहीं, एक वल की नहीं, किंतु सभीकी है और इसलिए वह सार्वभौम है। स्वाधीन भारत के लि० इस युग की यह सबसे बड़ी देन है कि हमारा देश एक संविधान और एक प्रशासन के अधीन है। सार्वभौमिक सत्ता पाकर यह सार्वभौमिक जिम्मेदारी भी संसद पर ही आती है कि वह जनता की नब्ज़ को पहचाने और यदि अस्वस्थता के कुछ लक्षण दिखलाई दें तो डाक्टर बनकर उसका इलाज भी करे। डाक्टर अनुभव से निपुण और निष्णात बनता है, संसद को सार्वभौमिकता की पदवी पाकर भी उसे प्रजा के मानस और शरीर दोनों का सदा ध्यान रखना होगा। तभी प्रजातंत्र जीवित रह सकता है। यदि डाक्टर योग्य न हो तो मरीज या तो दम तोड़ देता है अथवा वह दूसरा डाक्टर बुलाता है, इसी प्रकार प्रजातंत्र की सफलता और स्थायित्व उसकी प्रजा पर आधारित होता है। "प्रजातंत्र तभी और उस राष्ट्र में स्थायी हो सकता है, जहां की जनता जागरूक हो और उसको यह आभास और विश्वास हो कि यदि किसी शासन अथवा मंत्रिमंडल से वह नाराज हो गई तो उसे हटा देने का अधिकार उसके अपने

हाथों में है।" ये शब्द हैं हमारे प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेंद्र प्रसाद के, जो संविधान के अध्यक्ष ही नहीं, उसके निर्माता भी थे। उन्होंने समय-समय पर संसद के अधिकारों और कर्त्तव्यों पर भी प्रकाश डाला और उसकी सार्वभौमिक सत्ता का मूल आदर्श उसके सामने रखा। संसद की असली सार्वभौमिकता इसीमें निहित है कि वह अपने और जनता के अधिकारों के बीच भेद न करे। यदि प्रजातंत्र को सुस्थिर और सफल बनाना है, तो संसद को अपने अधिकारों की रक्षा के साथ-साथ प्रजा की आवाज़ सुनने को भी सदा तैयार रहना चाहिए। इसीमें देश के गौरव, आत्मसम्मान और स्वातंत्र्य की रक्षा है और इसीमें संसद की शक्ति अंतर्निहित है।

४

प्रथम राष्ट्रपति : गणतंत्र दिवस-समारोह

भारतवर्ष २६ जनवरी, १९५० को गणतंत्र बना और उसी दिन हमारा नया संविधान लागू हुआ। राजेन्द्रबाबू संविधान सभा के अध्यक्ष के रूप में संविधान के निर्माता थे। संविधान को पूरा कर १९५० में उन्होंने हमारे देश में लोकराज्य अथवा प्रजातंत्र की नींव रखी। इस शुभ घड़ी में हमारे प्रजातंत्री देश ने उन्हीं देशरत्न राजेन्द्रबाबू को राष्ट्रपति के पद पर आसीन किया।

कई दृष्टि से असाधारण होते हुए भी राजेन्द्रबाबू का जीवन और उनका व्यक्तित्व भारत के लिये दर्पण के समान था। राष्ट्र का सारा जीवन, प्राचीनता का चित्र, उसकी आशाएं और अभिलाषाएं सभी उनके जीवन में अनूठे ढंग से प्रतिबिंबित होते थे।

संवैधानिक रूप से राष्ट्रपति सभी पार्टियों से अलग अथवा कहना चाहिए कि ऊपर होता है। राजेन्द्रबाबू ने सही अर्थों में इसको अपने जीवन में चरितार्थ ही नहीं किया, देश के सामने एक ऊंचा आदर्श रखा और महान परंपरा की नींव डाली। जीवन-भर कांग्रेस में कार्य करते रहने पर भी, देश की हर पार्टी, हर वर्ग और हर धर्म के लोगों की उनमें इतनी श्रद्धा थी कि वे निरसंकोच उनके पास जाकर अपनी समस्याएं उनके सामने रख देते थे। एक प्रजातंत्र देश के राष्ट्रपति में देश के हर वर्ग का इतना विश्वास होना बहुत बड़ी बात है और उसकी मजबूती का दिग्दर्शक है। राजेन्द्रबाबू भी इसी विचार के थे कि "प्रजा को अपने अधिकार की रक्षा के लिए तैयार और मन्त्रिमंडल को प्रजा की पुकार सुनने को तैयार रहना चाहिए, ताकि जब किसी कारण प्रजा की पुकार जबर्दस्त हो जाय तो उसके सामने झुक जाना उसका धर्म ही नहीं, अपनी रक्षा का एकमात्र

उपाय है।" उनके मतानुसार यही सच्चे और मजबूत प्रजातंत्र का सही मार्ग है। जहां सरकार और प्रजा में विग्रह हुआ वहां प्रजातंत्र का स्थिर रहना कठिन हो जाता है। कई जगह इसके भयंकर परिणाम भी हुए, जिससे प्रजातंत्र पर कुठाराघात ही नहीं हुआ, बल्कि उसकी नींव ही हिल गई। इसी आशंका से त्रस्त होकर उन्होंने प्रजातंत्र के मर्म और मार्ग को बताते हुए एक पत्र में लिखा :

१६–११–५८

प्रिय ज्ञान,

दिन-प्रतिदिन सुनने में आ रहा है कि एशिया अथवा अफ़्रीका के कई देशों में फौजी अफसरों ने शासनाधिकार अपने हाथों में कर लिया और उस देश में इस प्रकार की क्रान्ति हो गई। इन सभी देशों में कहने को अथवा जहां वास्तविक प्रजातंत्र कायम था या उसकी स्थापना करने के लिए ये क्रान्तियां हो रही हैं। यह तो एक प्रकार से स्पष्ट है कि फौजी शासन द्वारा प्रजातंत्र की स्थापना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। पर जहांपर कायम है वहां इस क्रान्ति के कारण ढूंढ़ निकालना आवश्यक है, क्योंकि प्रजातंत्र की उपादेयता और स्थायित्व दोनों की ही जांच आवश्यक हो जाती है। प्रजातंत्र तभी और उस देश और राष्ट्र में स्थायी हो सकता है जहां की जनता जागरूक हो और उसको यह आभास और विश्वास हो कि यदि किसी शासन अथवा मंत्रिमंडल से वह नाराज हो गई तो उसे हटा देने का अधिकार उसके अपने हाथों में है। जब यह अहसास रहेगा तभी न तो फौज को और न दूसरे को साहस होगा कि वह अपना एकछत्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करे और न किसी मंत्रिमंडल की हिम्मत होगी कि वह जनसाधारण की इतनी अवहेलना करे कि किसीको उसको हटाने के लिए चुनाव के अलावा किसी दूसरे उपाय को सोचने की जरूरत पड़े। इसलिए एक तरफ जनता को और दूसरी ओर मंत्रिमंडल को हमेशा वाखबर रहना आवश्यक है, यदि प्रजातंत्र कायम रहना है। नतीजा यह निकलता है कि जब जनता ऊब जाती है और वह समझने लगती है कि प्रजातांत्रिक कहनेवाली शक्तियां डटकर बैठ गई है कि यह प्रजा की

परवाह ही नहीं करती और प्रजा अपनेको बिल्कुल लाचार पाती है और पीड़ित मानती है तब कोई फौजी दल या व्यक्ति अधिकार ले लेता है, तो लोग खुश होते हैं। यही इन सभी जगहों में हो रहा है, इसलिए सभी देशों की प्रजा और मंत्रिमंडलों को, जहां प्रजातंत्र है, सावधान हो जाना चाहिए। प्रजा को अपने अधिकार की रक्षा के लिए तैयार और मंत्रिमंडल को भी प्रजा की पुकार सुनने को तैयार रहना चाहिए, ताकि जब किसी कारण प्रजा की पुकार जबर्दस्त हो जाय तो उसके सामने नम जाना उसका धर्म ही नहीं, अपनी रक्षा का एकमात्र उपाय है। क्या सभी देशों में यह भावना जाग्रत है या उनको भी उसी रास्ते पर जाना है, जिसपर प्रतिदिन एक-न-एक देश जा रहा है?

—राजेंद्र प्रसाद

इन विचारों से हम सावधान हो सकते हैं और क्रान्ति के इस युग में अपने देश की प्रजातंत्रीय प्रणाली को सुस्थिर बनाए रख सकते हैं। राजेन्द्र-बाबू भी इस हमारे संवैधानिक और प्रशासनिक गठन को दृढ़तर बनाने के लिए बार-बार हमारा ध्यान उस ओर दिलाते हैं।

१५-११-६०

प्रिय ज्ञान,

यह बहुत बड़ा देश है, जिसमें अनेक भाषाएं प्रचलित हैं और अनेक धर्म और संप्रदाय चलते हैं। लोगों के रहन-सहन में भी बहुत फर्क है और प्राकृतिक विभिन्नता तो है ही जैसे जलवायु सरदी-गरमी—बहुत और अल्प वर्षा इत्यादि। पर इन अनेकानेक विभिन्नताओं के बावजूद इस देश का उत्तर हिमालय से लेकर दक्षिण कन्या कुमारी तक और पूर्व में जगन्नाथ पुरी से लेकर द्वारिकापुरी तक एक बंधन रहा है, जो इसे बराबर बांध रहा है। वह बंधन है धार्मिक और सांस्कृतिक, जिसमें विभिन्नता के लिए पूरा अवकाश और खुला मैदान बराबर मिलता रहा है। इस देश में राजनैतिक और शासनिक एकता कभी नहीं थी। जो कुछ एकता कभी किसी चक्रवर्ती राजा अथवा बादशाह के समय में देखने में आई थी तो वह

बहुत सीमित हुआ करती थी। प्रायः बरायनाम के ही एकता हुआ करती थी—प्रशासनिक एकता कभी ऐसी नहीं थी कि सारा देश एकसूत्र में बंधा हो, जैसा आज बंध गया है। इसलिए आज यह एक बड़ी देन है, इस युग की कि हम एक संविधान और एक प्रशासन के अधीन सारे देश को पाते हैं, पर यह बंधन अभी उतना गठित और मजबूत नहीं हुआ और जो पुराने बंधन हैं, वे एक-एक करके ढीले पड़ते जा रहे हैं। ऐसी अवस्था में यह एक बड़ा प्रश्न है कि हम प्राचीन बंधन को दृढ़ बनावें और नये प्रशासनिक और संवैधानिक बंधन को भी दिन-प्रतिदिन दृढ़तर बनाते जायं। अभी जहां-तहां कुछ ऐसे आसार भी दीखते हैं कि देश में अलग होने तक की तैयारी कहीं-कहीं है। यद्यपि यह एक अत्यंत छोटे भाग में नागाओं ने मांग की है, पर हमें उससे संतोष मानकर निश्चित नहीं होना चाहिए कि अन्यत्र यह मांग आयेगी ही नहीं। यदि मिसाल के तौर पर हम द्रविड़ मुनेत्र कडगम के कार्यक्रम पर ध्यान दें तो यह नागाओं के कार्यक्रम से बहुत मिलता-जुलता है। केवल अभी उसमें इतनी शक्ति नहीं आई है कि वह उपद्रव आरंभ कर दे। तो भी जहांतक वे कर सकते हैं, बाज नहीं आते और कोई विश्वासपूर्वक नहीं कह सकता है कि उनके साथ कुछ दूसरे लोगों की भी सहानुभूति नहीं है। हो सकता है कि जब कुछ ताकत आ जाय, तो दूसरे भी खुलकर उनका साथ दें। इसलिए स्थिति बहुत ही चिंताजनक है और अभी से इसकी रोकथाम दूरदर्शितापूर्वक होनी चाहिए और किसी भी हालत में हमें अपने संविधान और गणतंत्र की रक्षा करते हुए उसकी एकता को मजबूत बनाए रखना चाहिए।

—राजेंद्र प्रसाद

जिस दिन हमारा देश विदेशी सत्ता के चंगुल से स्वाधीन हुआ वह दिन हमारे इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। किंतु वह दिन जिस दिन हमने अपनी संविधान परिषद् द्वारा निर्मित अपना संविधान स्वतंत्र देश पर लागू किया, वह दिन स्वाधीनता दिवस से कम महत्वपूर्ण नहीं। स्वाधीनता-दिवस नियत करनेवाली विदेशी सत्ता थी। अंग्रेजों ने फैसला किया कि १५ अगस्त, १९४७ को सत्ता हस्तांतरित की जायगी। गणतंत्र दिवस

मनाने के संबंध में पूर्ण निश्चय हमारा अपना है। इसके अतिरिक्त स्वाधीनता-दिवस और गणतंत्र-दिवस में कोमल कल्पना की दृष्टि से देखें तो वही अंतर है, जो एक नवजात शिशु और तीन साल के खेलते-कूदते बच्चे में होता है।

शासन की नींव संविधान को माना जाता है। इसलिए सर्वसम्मति से स्वीकृत संविधान का लागू किया जाना खाली स्वाधीनता से बढ़कर ही है। महत्त्व दोनों का है, किन्तु लोकराज्य या लोक-शासन की दृष्टि से एक अधिक सारगर्भित है। गणतंत्र दिवस के विषय में कुछ ऐसे ही विचार उस दिन राजेंद्रबाबू के मन में उमड़ते थे। १९५० में उस दिन उन्होंने भारत के प्रथम राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया था और दिन-भर की चहल-पहल और उत्सवों के वह स्वयं ही केंद्रबिन्दु होते थे, इसीलिए उनके भाव इस अवसर पर आत्मगत होते थे। उनमें गर्व अथवा गौरव की भावना से कहीं अधिक नम्रता बल्कि अकिंचनता की भावना उमड़ पड़ती थी। देखते थे कि स्वाधीनता-संग्राम में हजारों-लाखों व्यक्तियों ने बलिदान किये और इसपर उन्हें ऐसा लगता मानो देश-भर के समस्त बलिदानों के फल का उपभोग वह अकेले ही कर रहे हैं। मित्रों और सहयोगियों के प्रति उनकी सहृदयता और सहानुभूति उनके मस्तिष्क पर छा जाती। ये विचार उन्हें इस प्रकार अभिभूत कर देते कि वह दिन-भर हर घटना को एक दार्शनिक की दृष्टि से देखते। सैनिकों की परेड और सांस्कृतिक झांकियों में उन्हें देश की पुकार सुनाई पड़ती। राजनयिकों के अभिनन्दन में उन्हें भारत के प्राचीन वैभव की गूंज का आभास होता। कभी-कभी उन्हें ऐसा लगता मानो राष्ट्रपति के रूप में दिल्ली के तख्त पर बैठनेवाले वह ही ऐसे सम्राट हैं, जिन्होंने खून-खराबे की बजाय स्नेह और अहिंसा से उच्चपद प्राप्त किया। अतीत उनकी आंखों के आगे नाच उठता—और भविष्य के सुनहले स्वप्न उनकी आंखों के आगे चित्रपट के समान साकार हो दिखाई देते।

राजेंद्रबाबू ने अपने एक पत्र में लिखा है कि गणतंत्र-दिवस के दिन जनसमूह के अपार उत्साह और चारों ओर के सजधज के वातावरण को देखकर वह नम्रता के भार से झुक पड़ते हैं, उनका गला रुंध जाता है और उन्हें उन अनेक शहीदों की याद आती, है जिन्होंने कष्ट सहकर और बलि-

दान देकर राष्ट्रपति के गौरव और राष्ट्रपति भवन की गरिमा के चित्रों में रंग भरे।

२६-१-५८

प्रिय ज्ञान,

२६ जनवरी एक बार फिर आई और कुछ ही घंटों में वह चली भी जायगी। मैं इतना विह्वल और गद्गद कभी नहीं होता जितना इस दिन, जब मैं परेड की सलामी के लिए राजपथ पर सवारी में जाता हूं। राजपथ के दोनों ओर लाखों की संख्या में जमा लोगों के चेहरों पर राष्ट्रपति के प्रति जो भाव झलकते हैं, उन्हें देखकर मेरा हृदय भावों से भर जाता है।

मैं इतना बेवकूफ या नादान नहीं कि यह कल्पना करूं कि यह सारा प्रेम मेरे लिए है। फिर भी मैं यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि इस महान देश के प्रतीक बनने के लिए भी मैंने ऐसा कुछ नहीं किया। देश का प्रतीक बनने के लिए भी उस योग्यता की आवश्यकता है, खास करके राष्ट्र के प्रतीक—राष्ट्रपति को तो देश के हर क्षेत्र में जो भी सबसे सुन्दर और सबसे महान है वही उसके जीवन में प्रतिबिंबित होना चाहिए और उसे विनम्र होना चाहिए। लेकिन मेरा मन भार से दब जाता है जब मुझे उन लोगों के त्याग और बलिदान की याद आती है, जिसके फल भोगने का सौभाग्य कुछ हद तक मुझे मिला है। यह बात नहीं है कि मैं इस ऊंचे पद को सौभाग्य की पराकाष्ठा अथवा आनन्द का साधन मानता हूं, लेकिन मैं यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि हमारे वे हजारों साथी, जो आन्दोलन के दिनों में हमारे साथ थे, आज गरीबी और अभावग्रस्त हालत में दिन बिता रहे हैं। मेरा हृदय इस बात से विदीर्ण हो जाता है कि उन लोगों को देश के लिए अपने किये महान बलिदान का कोई फल नहीं मिला और सबकी तरह सामान्य स्थिति में वे भी अपने दिन गुजार रहे हैं। मैं अपनी अकिंचनता का ध्यान करके केवल भरे दिल से मौन रूप से ही उन सबके आगे सिर झुकाता हूं, जिन्होंने अतीत या वर्तमान में महान बलिदान किये हैं।

आज सुबह सलामी के लिए जाते हुए मेरे हृदय में यही भाव और विचार उमड़ रहे थे और मैं अभिभूत-सा चुपचाप मानो यंत्रवत हाथ जोड़ता

हुआ सलामी मंच तक पहुंच गया। अंगरक्षकों की सलामी के बाद पहला कार्यक्रम उन तीन वीरों को (मरणोपरांत) अशोक चक्र, प्रथम श्रेणी पदक देना था, जिन्होंने नागा क्षेत्र में देश की रक्षा के लिए अपनी जान दे दी। जब प्रशस्तियां पढ़ी जा रही थीं, मैं अपने-आपको न रोक सका। हृदय पहले ही भावों से भरा हुआ था, इन वीरों की गाथाएं सुनकर मैं द्रवित हो गया और मेरी आंखों से आंसू बह निकले। किसी बहाने मैं रूमाल से उन्हें पोंछ डालता। उस वीर पुरुष की विधवा पत्नी और वृद्ध पिता की आंखें गीली देखकर मुझसे रहा न गया और असहाय-सी स्थिति में मेरी सहानुभूति आंसू बनकर उनके आंसुओं से जा मिली।

किंतु यह सबकुछ होने के बाद ध्वंसात्मक शस्त्रों का प्रदर्शन हुआ, जिन्हें जुटाने में दूसरे देशों की नकल कर हम भी सतत प्रयत्नशील हैं। साथ ही वे लोग भी सामने आये, जिन्हें अपनी जान दे देने और दूसरे की जान ले लेने की खास तौर से ट्रेनिंग दी जा रही है। अपने दिलों और मस्तिष्कों से इस निरर्थक संघर्ष के विचार को निकाल देने का क्या कोई उपाय नहीं है? क्या मानवता इतनी पागल हो गई है कि सुख-समृद्धि को जुटाने की बजाय वह मानवीय बुद्धि, ज्ञान, विज्ञान और तकनीक का उपयोग केवल विनाश और मृत्यु के आवाहन के लिए करे? क्या वे लोग जो हताहत हो चुके हैं और जिनका हम सम्मान कर रहे हैं, हमें नैराश्य के ऐसे ही कामों की ओर सदा प्रेरित करते रहेंगे, अथवा क्या वे ऐसे युग के अभ्युदय के लिए जब शांति, युद्ध की अपेक्षा अधिक गौरवमय विजय की भागी बनेगी, प्रकाशपुंज बन हमारा मार्गदर्शन करेंगे? इस विचार से मैं कांप उठता हूं कि मानव में समझदारी का इतना अभाव है और ऐसी आशा करने में ही कुशल समझता हूं कि मानव विश्व के सभी प्राणियों में वास्तव में सर्वोत्तम है और 'अशरफुल मखलूकात' की जो उपाधि उसे दी गई है, उसे वह चरितार्थ कर सकेगा?

—राजेंद्र प्रसाद

इसी प्रकार राष्ट्रपति २६ जनवरी को राजपथ पर अपने मंच से परेड की सलामी के बाद ऐतिहासिक और सांस्कृतिक झांकियों को देखते। उनके

सामने उन प्रदेशों के चित्र आ खड़े होते और वहां के लोगों की अनोखी परंपराओं और रहन-सहन के सजीव दृश्यों के सामने और सबकुछ ओझल-सा हो जाता। एक इतिहास के विद्यार्थी की तरह वह बीते युगों पर दृष्टिपात करते और चल झांकियों को भूलकर अचल अतीत के चित्र-चिन्तन में डूब जाते। अकबर के जीवन की झांकी को देखकर उनकी मानस-दृष्टि के आगे मुग़ल बादशाहों, और उनकी बादशाहत के दृश्य आ खड़े हुए। और इसीके परिणाम-स्वरूप हिंसा और अहिंसा, धर्म और मानवता-संबंधी मार्मिक विचार उनकी लेखनी में उतर आये :

२७-१-५८

प्रिय ज्ञान,

कल परेड में सांस्कृतिक झांकियों के एक दृश्य से मुझपर ऐसा प्रभाव हुआ, जिससे मेरे मन में अनेक विचार पैदा हुए। उस दृश्य में अकबर के जीवन की झांकी थी। उसमें अकबर को फतेहपुर सीकरी के दरबार में बैठे हुए दिखाया गया था, जिसके चारों ओर अनेक विद्वानों और विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधि बैठे थे। मेरे मन में दो विचार उठे। एक विचार यह आया कि अकबर की मृत्यु हुए आज करीब चारसौ वर्ष से भी अधिक बीत गए, फिर भी हमारे देश में धार्मिक संघर्षों का अंत नहीं हुआ है। दूसरों की तरह ही अकबर का भी एक ऐसा धर्म स्थापित करने का प्रयत्न असफल रहा, जिसमें सब धर्म आपसी मतभेदों को भुलाकर एक धर्म के नीचे आ जायं। वास्तव में हर धर्म यह दावा करता है कि वही सबसे अच्छा है और इसी वजह से सबको उसे स्वीकार करना चाहिए—कुछ लोग बलपूर्वक अपने धर्म को मनवाते भी हैं, जबकि अधिकतर धर्म लोगों की सद्बुद्धि पर इसे छोड़ देते हैं। किन्तु हर धर्म में आधारभूत विश्वास यही होता है कि वही सर्वोत्तम है, अन्यथा धर्म-परिवर्तन का आधार ही कुछ नहीं रहता। दूसरी ओर धर्मों के मामलों में व्यावहारिक दृष्टि से अच्छा यही है कि हम सब धर्मों का आदर करें। हां, धर्म का अर्थ अंध-श्रद्धा नहीं और न ही इससे यह आशा की जानी चाहिए कि हम हर धर्म की हर अच्छी-बुरी बातों को उसी रूप में स्वीकार कर लेंगे। वास्तव में इसका मतलब केवल यह है

कि हमें दूसरों के विचारों और उनके मतों के प्रति पूरी-पूरी सहिष्णुता रखनी चाहिए और अपने विचारों को बलपूर्वक या हिंसा से दूसरों पर थोपना नहीं चाहिए। शायद अकबर के 'दीन-इलाही' का यही अभिप्राय था। लेकिन मैं निश्चयपूर्वक उसके बारे में कुछ अधिक नहीं कह सकता कि उसमें अन्य मतों अथवा धर्मों के प्रति कहांतक सहिष्णुता थी।

दूसरा जो विचार मेरे मन में उठा वह यह था कि सभी मुग़ल बादशाह और पठान राजा तथा सुलतान जो दिल्ली के तख्त पर बैठे उन्हें तख्त पर बैठने से पहले अथवा बाद में रक्त की धारा में स्नान करना पड़ा। मैं सोचने लगा, क्या दिल्ली का यह तख्त या और कोई भी गद्दी वास्तव में इतना बड़ा वरदान है कि उसके लिए इतने खून-खराबे की आवश्यकता हो और क्या इतिहास में उसके लिए जो भी हुआ उसे ठीक माना जा सकता है? किंतु फिर भी विश्व का इतिहास यही है। क्या मानव कभी इससे उपर उठ सकेगा? हां, यह तभी हो सकता है जब वह अहिंसा के मर्म को समझे और उसके अनुसार चले।

—राजेंद्र प्रसाद

ये झांकियां उन्हें केवल अतीत इतिहास की याद ही नहीं दिलाती थीं, वर्तमान भारतीय संस्कृति की ओर भी उनका ध्यान खींचती थीं। भारतीय संस्कृति की विविधता पर जहां उन्हें गर्व होता था, कुछ बातें उन्हें खटकती भी थीं :

२८—१—५८

प्रिय ज्ञान,

गणतंत्र-दिवस के समारोहों में भारतीय झांकियों के दृश्य और लोक-नृत्यों ने भारतीय जीवन की विभिन्नता का पूरी तरह से प्रतिनिधित्व किया है। लेकिन उसमें कुछ ऐसी असंगतियां भी देखने को मिलीं, जिनकी ओर आयोजकों का शायद ध्यान ही न गया हो। पांडिचेरी, जो फ्रेंच संस्कृति का केंद्र माना जाता है, उसका प्रतिनिधित्व लोक-नृत्य के एक ऐसे दल ने किया, जो बिल्कुल आदिवासियों की तरह दिखाई देते थे। जवाहरलालजी ने जब इस दल को मंच पर आते हुए देखा तो हँसते हुए

कहा, यह फ्रेंच संस्कृति की झांकी आ रही है। मैं इसका जवाब दिये बिना न रह सका और बोला—यदि ये भारत में फ्रेंच संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं तब यह कहना होगा कि भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि वे नर्तक हैं, जो अधिकतर पर्वतीय वनजातियों से संबंध रखते हैं, और तथाकथित उन्नत और प्रगतिशील संप्रदाय हमारी संस्कृति का प्रतिनिधित्व बिल्कुल नहीं करते। मैं कभी-कभी यह सोचकर हैरान होता हूं कि कहीं हम सांस्कृतिक प्रदर्शनों पर आवश्यकता से अधिक जोर तो नहीं दे रहे? हम इन सांस्कृतिक झांकियों को केवल गणतंत्र दिवस पर ही नहीं, बल्कि विदेशों में जानेवाले सांस्कृतिक दलों को, जिनमें संगीतकार और नर्तक होते हैं, बड़ी उदारतापूर्वक प्रोत्साहन दे रहे हैं और वैसी ही उदारता उन लोगों को पुरस्कार देने में भी दिखाई देती है। पुरस्कार पानेवालों में संगीतकारों, नर्तकों, कलाकारों और फिल्म अभिनेताओं की काफी संख्या है। इस रूप में या और किसी प्रकार उन्हें प्रोत्साहन मिलना तो चाहिए, पर उनमें संतुलन होना चाहिए। मेरा विचार है कि भविष्य में कभी सरकार का ध्यान इस ओर दिलाऊंगा।

—राजेंद्र प्रसाद

राजेंद्रबाबू का विचार था कि गणतंत्र दिवस के संबंध में जिन अनेक उत्सवों और समारोहों का आयोजन किया जाता है, उनमें से कई निरर्थक होते हैं और केवल भेड़चाल के सहारे जीवित रहते आये हैं। इन्हींमें से एक 'बीटिंग दि रिट्रीट' है। इसका कभी किसी समय कुछ अर्थ रहा होगा, किंतु अब न वे सिपाही रहे, न वे छावनियां और न वे परिस्थितियां, जिनमें कूच के बिगुल का कुछ महत्व था। फिर भी 'बीटिंग दि रिट्रीट' जारी है, क्योंकि इंग्लैंड में इसका चलन है, इसलिए हमारे देश में भी यह होना ही चाहिए। इसी बात पर उन्होंने चुटकी ली .

२९–१–५८

प्रिय ज्ञान,

अंग्रेज जाति परंपरावादी है। उन्होंने ऐसे विशेष समारोहों तथा प्रतीकों की परंपरा बनाए रखी हैं, जिनका आज की स्थिति में न कोई अर्थ है और न महत्व। ऐसा एक समारोह है जो 'बीटिंग दि रिट्रीट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार छावनियों और उन शहरों में, जहां सैनिक रहते हैं, सब टुकड़ियों को सूर्यास्त से पहले-पहल अपने बैरेक में आ जाना पड़ता था, शायद इसलिए क्योंकि उन दिनों रोशनी की व्यवस्था आज की तरह अच्छी नहीं थी और रात को अचानक हमला होने का भी खतरा रहता था। इसलिए उन टुकड़ियों को हुकुम मिलने पर फौरन ही मोर्चा लेने के लिए तैयार रहना जरूरी होता था। बैंड वाजा बजानेवाले गलियों में चक्कर लगाते थे और इसी बैंड की आवाज से टुकड़ियों को सावधान करते थे कि बैरेक में जाने का समय हो गया। दूसरी ओर बहुत-सी बातों के साथ-साथ हमने यह प्रथा भी अंग्रेजों से उधार ले ली है और प्रतिदिन संध्या को सूरज डूबते समय राष्ट्रपति भवन के गुंबज से झंडे को इसी तरह बिगुल बजाकर उतारा जाता है। इसी तरह हर वर्ष गणतंत्र दिवस के समारोहों की समाप्ति २९ जनवरी को इस 'बीटिंग दि रिट्रीट' के साथ होती है। यह समारोह बड़ा सुन्दर और रंगीन होता है। आज शाम को हम उसमें शरीक हुए।

दूसरा अर्थहीन समारोह और अर्थहीन शब्द, जो आज भी इंग्लैंड में प्रचलित है, वह है 'स्पीकर' शब्द और उसके पदग्रहण का समारोह। स्पीकर वहां के 'हाउस आफ कामन्स' का अध्यक्ष होता है, जो उसकी बैठकों की अध्यक्षता करता है। शुरू के दिनों में जब पार्लमिंट के अधिकार नहीं बने थे, हाउस आफ कामंस का अध्यक्ष उसके विचार वहां के राजा तक पहुंचाता था। यह काम खतरनाक था, क्योंकि 'स्पीकर' को प्रायः राजा का कोप-भाजन बनना पड़ता था। अध्यक्ष को पार्लमिंट के विचार राजा के पास पहुंचाने होते थे, इसी कारण वह 'स्पीकर' कहलाने लगा। अब अध्यक्ष जो 'स्पीकर' होता है, उसे बहुत ही कम बोलना पड़ता है। इस खतरे के कारण ही सदन के सदस्य 'स्पीकर' बनने के सम्मान को स्वीकार करने में हिच-

किचाते थे। और जो कोई भी 'स्पीकर' बनता था उसे सदस्यों को जबरदस्ती उस कुर्सी पर बिठाना पड़ता था। आज भी 'स्पीकर' का चुनाव होने के बाद वह अपने स्थान को बनावटी संकोच के साथ ग्रहण करता है, मानो उसे बाध्य किया जा रहा हो। सौभाग्य की बात है, हमने केवल नाम को ही अपनाया है, बलप्रयोग और बनावटी संकोच को नहीं लिया और सच तो यह है कि हमारे देश में यह शब्द निरर्थक भी नहीं है, क्योंकि हमारा 'स्पीकर'[1] किसीसे कम नहीं बोलता।

—राजेंद्र प्रसाद

इस प्रकार गणतंत्र-दिवस के विभिन्न समारोहों और आयोजनों की प्रतिक्रिया-स्वरूप हमारे राष्ट्रपति के हृदय में कैसे विचार उमड़ते थे उसका आभास मिलता है और उनके अंतर्मन की झांकी। इन विचारों में हमें जनता के प्रति राजेंद्रबाबू की प्रेम-विह्वलता और हार्दिक कृतज्ञता के दर्शन होते हैं और मानवता का संदेश मिलता है। अपनी भारतीय संस्कृति की गौरव-गरिमा को मौलिक व स्थायी बनाए रखने के लिए शब्दों के इशारे में ही राजेंद्रबाबू ने एक सबक भी दिया है। यदि हम इनपर घड़ी-भर चिंतन करेंगे तो अवश्य ही अपने देश की संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने में सफल हो सकेंगे और अपने गणतंत्र दिवस को महिमा और गरिमा से अधिकाधिक मंडित कर सकेंगे।

इसी गौरव-गरिमा के संबंध में विचार करते हुए राजेंद्रबाबू ने पिछले वर्षों में देश में क्या-क्या किया गया, इसपर एक विहंगम दृष्टि डाली। समारोहों और उत्सवों की चहल-पहल से हटकर उनका ध्यान देश-दर्शन की बजाय देश-दिग्दर्शन की ओर गया। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश ने क्या कुछ प्राप्त किया और क्या कुछ खोया, यह भी उनकी दृष्टि से ओझल न हो सका। भौतिक रूप से हमने काफी तरक्की की, किंतु नैतिक मूल्य को खोकर। इसी कारण एक ओर देश के जीवन-स्तर को ऊंचा उठते देखकर उन्हें खुशी होती थी, दूसरी ओर गिरते हुए नैतिक स्तर से वह क्षुब्ध ही नहीं,

---

१. श्री अनंतशयनम आयंगर

आशंकित-से होते थे और इस भय से चिंतित होकर वह गणतंत्र की धूम-धाम-भरी घड़ियों में भी अपने देशवासियों से कहने में नहीं चूकते थे। उन्हें डर था कि कहीं प्रगतिशीलता की इस दौड़ में हम जीवन के मूल तत्व को ही खोकर कमजोर न बन जायं :

३–११–५८

प्रिय ज्ञान,

भारत २६ जनवरी, १९५० को गणतंत्र बना। इसके अनुसार इस तरह यह हमारा नवां गणतंत्र दिवस है। इस समय में या कहें १९४७ में जब से सत्ता हमारे हाथ में आई, हमारी सरकार ने जीवन-स्तर को उठाने के लिए बहुत-सा सामाजिक कल्याण का कार्य किया है। जैसे, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन अर्थात मध्यम वर्ग और किसान के बीच की मध्यस्थता, जो एक प्रकार से जमींदार करता था, उसका खत्म किया जाना, बड़ी-बड़ी बहुद्देशीय योजनाओं को शुरू करना, जिनमें से बहुत-सी तो पूरी भी हो गई हैं, अन्य बहुत-सी पूरी होने को हैं; जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बहुत-से कारखाने स्थापित किये गए हैं और बहुत-से बन रहे हैं; कुछ स्टील और मशीन बनाने के कारखाने भी बन चुके हैं या बन रहे हैं; इंजन, रेल के डिब्बे और वैगन इत्यादि अधिकाधिक संख्या में बनाए जा रहे हैं और इस विषय में हम शीघ्र ही आत्मनिर्भर हो जायंगे। मोटरकार और यहांतक कि हवाई जहाजों के कल-पुर्जे इकट्ठा करके उन्हें यहीं तैयार किया जाता है तथा उसके कुछ पुर्जे हिंदुस्तान में ही बनाए जा रहे हैं; औषधि और दवाइयां तैयार करने के लिए भी कारखाने स्थापित किये जा रहे हैं; सिंचाई और बाढ़ की रोकथाम के लिए बड़ी योजनाएं हाथ में ली गई हैं और इनमें से कुछ पूरी की गई हैं। कृषि-उत्पादन बढ़ा है; सामुदायिक विकास का कार्य भी गांवों में हो रहा है; स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ी है।

इतना कुछ करने के बाद भी यह कहना ठीक होगा कि सरकार आशा के अनुसार लोगों में उत्साह पैदा नहीं कर सकी है। इसके विपरीत देश के क्षितिज पर असंतोष के चिह्न दिखाई देते हैं और इससे भी बुरे चिह्न

हैं अराजकता-सूचकता के। जिस उत्साह और आदर्श ने हमें स्वराज्य हासिल करने के लिए प्रेरित किया और जिसके कारण हम स्वराज्य पा सके, आज उन संघर्ष के दिनों का शतांश उत्साह भी जनता में नहीं है। यह हमारे गिरते हुए चरित्र और आध्यात्मिक मूल्यों से स्पष्ट है। ऐसा लगता है, जैसे मानव-चरित्र राष्ट्रीय प्रगति के साथ चलने में पिछड़ रहा है अथवा असमर्थ है। इसके कारणों की खोज की जाय, यह देश के हित में होगा। पर हमारे पास सोचने के लिए भी समय कहां ? किन्तु यदि हम अधोगति से बचना चाहते हैं तो इसके लिए हमें समय निकालना होगा।

—राजेंद्र प्रसाद

राजनैतिक और व्यावहारिक जीवन में राजेंद्रबाबू एक प्रकार से व्यावहारिक थे। उनका दृष्टिकोण बड़ा साफ और उनके विचार बड़े सूझ-बूझवाले होते थे। वह स्वभाव से बहुत कोमल और नरम थे, इसलिए अपने विचारों को दृढ़ता के साथ तो रखते थे, पर अपने शब्दों में उग्रता अथवा कटुता नहीं आने देते थे। जब कभी उनके साथी उग्र भाषा का प्रयोग करते तो उन्हें आश्चर्य भी होता। एक बार २६ जनवरी के अवसर पर जब एक ओर जनता के भाव और उत्साह को देखकर उनका हृदय भर आया, दूसरी ओर देश की स्थिति की कटु आलोचना से उनके मन को थोड़ी ठेस भी पहुंची। यही भाव उनके पत्रों में व्यक्त हैं, जो उन्होंने गणतंत्र-दिवस पर लिखे हैं :

२६–१–५९

प्रिय ज्ञान,

इस बार गणतंत्र दिवस पर पिछले वर्षों से भी अधिक भीड़ थी। मुझे बताया गया कि इस साल १५ लाख से भी अधिक लोग परेड देखने आये। पिछले सालों की तरह ही इस साल भी मेरा हृदय भर आया और अपने प्रति व्यक्तिगत रूप से चाहे न सही, पर अपने गणराज्य के प्रतीक राष्ट्रपति के प्रति लोगों का प्रेम और श्रद्धा भाव देखकर मैं गद्गद् हो गया।

एक ओर जब आनन्द और श्रद्धा से भरे इस जनसमूह को देखकर हमें खुशी होती है, दूसरी ओर अखबारों के कई विशेषांकों के विशेष लेखों में मैं देखता हूं कि आजतक जो कुछ भी किया गया अथवा जो प्रयत्न हो रहे हैं, उनकी बड़ी आलोचना की गई है। श्री सी० राजगोपालाचारी सामान्य रूप से सरकार की नीतियों और देश में जो कुछ हो रहा है उसके प्रति असंतोष व्यक्त तो करते ही हैं, इस बार उन्होंने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में एक विशेष लेख लिखा है, जो न केवल आलोचनात्मक है बल्कि कटु भी है। उन्होंने जो कुछ भी कहा है, उसके साथ किसीकी सहानुभूति अथवा सहमति हो सकती है, किंतु मेरे विचार से भाषा की कटुता तर्क की शक्ति को बढ़ाती नहीं, विशेषकर राजाजी जैसे व्यक्ति के लिए, जिनका सब सम्मान करते हैं और जिनकी बात अन्य किसी भी व्यक्ति की बात से अधिक सुनी जाती है। उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसकी भाषा और शैली को देखकर मुझे और भी आश्चर्य हुआ। इस बारे में मैंने जो कुछ कहा है, उसके लिए यह जरूरी नहीं कि राजाजी द्वारा कही गई बातों के तथ्य से इंकार किया जाय।

—राजेंद्र प्रसाद

२५-१-६०

प्रिय ज्ञान,

गणतंत्र दिवस से संबंधित समारोह आज 'बीटिंग दि रिट्रीट' के साथ समाप्त हो गये। यह एक बहुत ही सुन्दर और हृदयस्पर्शी समारोह था, जिसमें २४ बैंड बाजों की टुकड़ियों ने भाग लिया। इस वर्ष बैठने की व्यवस्था पहले से अच्छी थी, इसलिए पहले से ज्यादा लोग इसे देख सके और शोरगुल भी ज्यादा नहीं हुआ। इस भीड़ में बच्चों की संख्या अधिक होती है। खास बात यह है कि सभी बच्चे भारतीय और विदेशी—पूरे समय तक चुपचाप एक घंटे तक बड़ी शांति से बैठकर इसे देखते हैं और आम सभा की तरह इतना शोर नहीं मचाते, जो ध्यान में आये। इस बार की और एक खासियत यह रही कि इस साल 'बीटिंग दि रिट्रीट' के दो या तीन रिहर्सल हुए। एक तो रूस के राष्ट्रपति वोरोशिलोव के लिए हुआ और एक-दो

सामान्य। मैंने तो इनमें भाग नहीं लिया, पर सुना है, इनको देखने के लिए भी बड़ी भीड़ जमा थी। पर आज की भीड़ तो बहुत भारी थी। समारोह भी आशानुकूल ही था। उसमें ऐसी कोई बात नहीं थी, जो हमारी समझ में न आई हो। संगीत अधिकतर अंग्रेजी था अर्थात गाने अंग्रेजी में थे। धुनें तो बैंड की थीं ही। इसमें दो गाने हिन्दी या हिन्दुस्तानी में थे। एक तो था 'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा,' और एक ऐसा ही दूसरा था। मुझे यह बात समझ में नहीं आई कि यदि दो गाने हिन्दी में हो सकते हैं तो दूसरे भी हिन्दी में क्यों न नहीं ?

—राजेंद्र प्रसाद

गणतंत्र-दिवस-समारोह में सन् १९६१ में महारानी एलिजाबेथ भी शरीक हुई थीं। उनका अपना एक विशेष आकर्षण था। जनता में अपार उत्साह था और वह जहां कहीं जातीं, उनके दर्शनों के लिए जनता उमड़ पड़ती। राष्ट्रपति भवन में आयोजित चायपार्टी के लिए भी आमंत्रित मेहमानों की संख्या इसी उत्सुक आकर्षण और जिज्ञासा के कारण दुगनी-तिगुनी हो गई। लेकिन इस पत्र में एक उदाहरण देकर बाबूजी ने हँसी-हँसी में ही एक बड़े मज़े की, पर जीवन की बुनियादी बात भी कह डाली और वह यह कि केवल इस तरह के बड़े समारोहों और आयोजनों में भाग लेकर ही मनुष्य सम्मानित व्यक्ति नहीं बन जाता।

२६-१-६१

प्रिय ज्ञान,

गणतंत्र-दिवस के उपलक्ष में हमेशा की तरह ही आज हमारी ओर से चायपार्टी का आयोजन किया गया। उसमें करीब ७५०० मेहमान शरीक हुए। इस पार्टी का मुख्य आकर्षण इस बार महारानी एलिजाबेथ थीं। इसके अलावा प्रिंस फिलिप्स भी उपस्थित थे। मुझे राष्ट्रपति भवन के स्टाफ को इस सुन्दर व्यवस्था के लिए शाबाशी देनी चाहिए, जिसके कारण सब मुख्य अतिथि का दर्शन कर सके और कइयों को उनके निजी संपर्क का सुअवसर भी मिल सका। ऐसी महान विभूतियों से मिलना वास्तव में गौर

की बात है। लेकिन मुझे आजतक यह समझ में नहीं आया कि ऐसे समारोहों के निमंत्रण पाने के लिए लोग क्यों उत्सुक रहते हैं। पुराने दिनों में जब वाइसराय द्वारा चायपार्टी अथवा अन्य समारोहों के लिए दिये जानेवाले निमंत्रणों को बड़ा कीमती माना जाता था, लोग निमंत्रण-पत्रों का संग्रह करके रखते थे। एक बार मुझे याद है कि जब मैं जिस केस की वकालत कर रहा था, एक प्रसिद्ध सज्जन वहां गवाह के रूप में पेश हुए। जब उन्होंने कागजों का एक पुलिंदा खोला और अपने सम्मानित व्यक्ति होने के प्रमाण में, यद्यपि इसमें किसीको शक न था, उन्होंने उनको जज महोदय के सामने पेश किया तो हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह सब इसी तरह के निमंत्रण-पत्र थे, जिनका मैंने जिक्र किया है। किन्तु उनके दुर्भाग्य से, यद्यपि उन्हें यह बताया नहीं गया, जज ने उनपर विश्वास नहीं किया और अपने सम्मान के गवाह के रूप में पेश किये गए इनसब प्रमाणों से उनकी कोई सहायता नहीं हुई।

—राजेंद्र प्रसाद

२८–१–६१

प्रिय ज्ञान,

गणतंत्र महोत्सव पर हमारे देश के विभिन्न भागों से कुछ ऐसे दल इसमें भाग लेने आते हैं, जो उन-उन प्रदेशों की विशेषता का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस दृष्टि से आदिम जाति के लोगों और कबीलों की अपनी विशेषता होती है, जिसके कारण स्वाभाविक है कि इन उत्सवों में भले ही सबसे प्रमुख स्थान न सही, पर उनको प्राथमिकता मिले। उनकी अपनी वेशभूषा, विशेष नृत्य और उनके शस्त्र, सभी अपनी-अपनी खासियत रखते हैं और सब मिल-जुलकर उनका विशेष असर होता है। हमें बताया गया कि दुनिया में और कहीं भी हमें जीते-जागते स्त्री और पुरुषों का ऐसा विविध प्रकार का सामूहिक दर्शन नहीं होगा। यह सोचकर सबको आश्चर्य होता है कि हमारे देश में भाषा, रीति-रिवाज और सांस्कृतिक परंपराएं इतनी भिन्न-भिन्न होने पर भी हम कैसे सदियों तक इस विभिन्न सांस्कृतिक परंपरा को टिकाए रख सके हैं। यदि हम इसके लिए कुछ गहराई में जाकर देखें तो

हमें मालूम होगा कि मतभेदों और विभिन्नताओं के बावजूद सहिष्णुता के बुनियादी दृष्टिकोण के कारण ही हम आपस में मिल-जुलकर रह सके हैं और अपना विकास करने में समर्थ हुए हैं। यही हमारे देश के जीवन की और दृढ़ सांस्कृतिक परंपरा की जड़ है, जिसके कारण इतनी भिन्न-भिन्न शाखाओं का विकास हुआ है, पर कभी-कभी इन्हीं विभिन्नताओं के कारण हमारे अंदर ऐसे मतभेद पैदा हो गए जिनकी वजह से अपने देश की स्वतंत्रता खोकर हमें बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है। हमें आशा है कि जहां हम इस परंपरागत सहिष्णुता का आदर करेंगे, अपनी इस स्वतंत्रता की रक्षा भी करेंगे जो हमें लंबे संघर्ष के बाद प्राप्त हुई है।

—राजेंद्र प्रसाद

राजेंद्रबाबू को अपने जीवन में सभी कुछ मीठा मिला हो, ऐसी बात नहीं, किंतु वह एक ऐसे व्यक्ति थे कि मिठास को कभी मादक नहीं बनने देते थे और कटुता को विष नहीं मानते थे। आत्मगत निर्लिप्तता का ऐसा उदाहरण इतिहास में कठिनाई से मिलेगा। परिस्थितियां अनुकूल और प्रतिकूल सदा रहती हैं। इस नियम का अपवाद वह भी नहीं हो सकते थे, किंतु उनके गंभीर व्यक्तित्व से टकराकर अनुकूलता और प्रतिकूलता को अपना स्वरूप खोते हमने सदा देखा है। सर्वसम्मति से उनको दी गई 'अजातशत्रु' की उपाधि वास्तव में औचित्य और सार्थकता की पराकाष्ठा है।

ऐसे व्यक्ति को देश ने स्वतंत्र भारत का प्रथम राष्ट्रपति चुना, यह बहुत गौरव की बात थी। इस गौरव की गंध आनेवाली पीढ़ियों को वर्षों तक आती रहेगी। राष्ट्रपति के पद पर रहते हुए उन्होंने जिन ऊंचे आदर्शों का पालन किया और जिन संवैधानिक परंपराओं की नींव डाली, वे हमारे गणराज्य की दृढ़ता की सदा मजबूत आधारशिला रहेंगी। हमारे संविधान के वह निर्माता थे, फिर भी इस संबंध में उन्होंने अपना मत कभी किसी पर नहीं लादा। सबकुछ स्वयं जानते-समझते हुए भी दूसरे की बात को ही प्रधानता देना, इस गुण के दर्शन उन्हींमें होते थे। राजेंद्रबाबू के इस स्वभाव में खाद्य मंत्री बनने से तो क्या, राष्ट्रपति के सर्वोच्च पद पर आसीन होने पर भी कोई अंतर नहीं पड़ा। मुझे कभी ऐसा लगता था मानो

उनके लिए सदाकत आश्रम और राष्ट्रपति भवन में जरा भी अंतर नहीं और सचाई भी यही है कि उनके लिए दोनों एकसमान थे। वह जहां भी रहे एक-से रहे और उन्होंने जो कुछ किया, देश के लिए किया।

उनके इन अलौकिक गुणों के कारण ही जवाहरलालजी ने राजेंद्रबाबू के दिल्ली से प्रस्थान के समय कहा था कि "यह युग राजेंद्रबाबू के युग से जाना जायगा।" इस कथन में जहां राजेंद्रबाबू की महानता झलकती है, वहां इतिहासवेत्ता के रूप में जवाहरलालजी की दूरदर्शी दृष्टि का ही नहीं, राजेंद्रबाबू के रूप में राष्ट्रपति के प्रति उनकी ऊंची भावना और प्रजातंत्र के प्रति अटूट निष्ठा का प्रमाण भी मिलता है। हमारा देश बड़ा भाग्यवान है कि हमें अपने प्रथम राष्ट्रपति के रूप में राजेंद्रबाबू जैसे राष्ट्रपति, जवाहरलालजी जैसे प्रधानमंत्री और सरदार पटेल जैसे गृहमंत्री मिले, जिन्होंने हमारे देश की संस्कृति, उसकी शान और भारतीय प्रजातंत्र को ऐसा दृढ़ बनाया। ऐसी शानदार विरासत हमें उनसे मिली है। हम इसे संभालने के योग्य बनें और अपने राष्ट्र की रक्षा करने के लिए सदा तैयार रहें। गणतंत्र दिवस की हर वर्षगांठ पर हमें इस शुभ-संकल्प का स्मरण करना चाहिए कि जो स्वतंत्रता हमें हासिल हुई है, हर कीमत पर उसकी रक्षा करेंगे।

५ एक मार्मिक प्रसंग

एक दिन ऐसा भी हुआ कि भगवान ने भी मानो राजेंद्रबाबू की सहिष्णुता और कर्त्तव्यपरायणता की कसौटी ली। कसौटी बड़ी कड़ी थी। ठीक गणतंत्र-दिवस की पहली रात को उनकी बड़ी बहन की मृत्यु हो गई। वह राजेंद्रबाबू से चौदह वर्ष बड़ी थीं और बाल-विधवा होने के कारण सदा अपने मां-बाप के घर ही रही थीं, इसलिए उनके प्रति राजेंद्रबाबू का मां के समान प्यार और श्रद्धा थी। इसी प्रसंग को लेकर पाकिस्तान के एक मंत्री ने अपने वक्तव्य में कहा था कि भारत के राष्ट्रपति ने कर्त्तव्य-परायणता का जो उदाहरण पेश किया है, वह हिन्दुस्तान के लिए ही नहीं, दुनिया के लोगों के लिए भी अनुकरणीय है।

इस दुःखद घटना का उल्लेख राजेंद्रबाबू ने अपने पत्र में किया है, जो बड़ा मार्मिक है। उसमें कर्त्तव्यनिष्ठ राजेंद्रबाबू मानो स्थितप्रज्ञ होकर हमें जीवन-मृत्यु और सुख-दुःख के मर्म को भी बताते जाते हैं :

२७–१–६०

प्रिय ज्ञान,

कई कारणों से कल का दिन मेरे लिए एक कठिन दिन था। पहली रात को बहन की मृत्यु हो गई और दूसरे दिन गणतंत्र-दिवस की परेड में मुझे सलामी लेने जाना था। रात के ११–३० बजे बहन की मृत्यु के बावजूद मैंने यह ठीक नहीं समझा कि गणतंत्र-दिवस के अवसर पर होनेवाली परेड में शरीक न होकर उस कार्यक्रम में बाधा डालूं, क्योंकि हजारों-लाखों लोग इसे देखने आते हैं। परेड में सलामी लेने का काम ही बहुत थकानेवाला है, क्योंकि मुझे अधिकांश समय तक सावधान होकर खड़े रहना पड़ता है। हम १२ और १ के दरम्यान परेड से लौटे और एक

बजे हम बहन की अन्त्येष्टि के लिए निगमबोध घाट गये। उनका अंतिम संस्कार करके हम शाम को ६ बजे लौटे। हम दो भाई और दो बहनों या कहूं तीन बहनों के बीच यह बहन सबसे बड़ी थीं। तीन मैं इसलिए कहता हूं, क्योंकि एक बहन की मृत्यु काफी छोटी उम्र में ही हो गई थी और इस समय की पीढ़ी उनके बारे में कुछ नहीं जानती। जीवित भाई-बहनों में मेरी यह बहन ही ऐसी थी, जिसने मुझे जन्म से पाला-पोसा और अपनी मृत्यु तक मुझे प्यार करती रही। इस तरह पूरे ७५ साल तक (अभी इस ३ दिसंबर को ही मैंने ७५ साल पूरे किये हैं) हमारा साथ रहा और दूसरी बहनों से विपरीत वह अधिकतर हमारे परिवार में ही रहीं, क्योंकि विवाह के कुछ साल बाद ही वह विधवा हो गई और हमारे साथ रहने लगीं। कभी-कभी खास अवसरों पर थोड़े-से दिनों के लिए वह अपनी ससुराल जातीं। इसलिए उनका लगाव और प्यार हमारे ही परिवार से, खासकर हम दो भाइयों से और भाई के स्वर्गवास के बाद मुझसे ही रहा। उनके देहावसान से जो घाव दिल पर हुआ है, उसके बावजूद केवल एक ही संतोष मन को होता है कि वह बड़ी शांतिपूर्वक गई। एक दिन अचानक वह बेहोश हो गई और मृत्युपर्यंत उसी बेहोशी की हालत में रहीं, जिसके कारण उन्हें बहुत कष्ट का अनुभव नहीं करना पड़ा। उनके चेहरे पर हमेशा एक प्रकार की शांति झलकती थी।

—राजेंद्र प्रसाद

२८–१–६०

प्रिय ज्ञान,

बहन की मृत्यु की खबर अब अखबारों में छप चुकी है और इसलिए आज बहुत-से लोग अफसोस जाहिर करने आये, संवेदना के बहुत-से तार और पत्र भी मुझे मिले। कल भी कुछ आये थे, पर आज उनकी संख्या बहुत थी। हम अपने उन मित्रों से, जो संवेदना के लिए आते हैं, कहते हैं कि अब बहन के जाने का समय हो गया था और इस बात से हमें संतोष होता है कि वह बिना किसी दर्द या कष्ट के चली गई। आखिर जन्म और मृत्यु क्या है? जैसा कि गीता में और हमारे सभी धर्मों और शास्त्रों में बताया

गया है, मृत्यु केवल एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्रवेश करने के सिवा और कुछ नहीं है। यह परिवर्तन ज़रा उस स्थिति से अधिक चमत्कारिक है, जो एक नवजात शिशु और मेरी बहन की तरह एक ९० साल के वृद्ध मनुष्य में होता है। यदि हम अपने बचपन के संबंध में दूसरों से कुछ न सुनें और अचानक वृद्धावस्था में यह जानें कि एक दिन हम उस बाल्यावस्था में थे, तो ऐसी स्थिति में हमारा आश्चर्य कुछ-कुछ वैसा होगा, जैसा मृत्यु को देखकर होता है। क्योंकि हमें मृत्यु के बारे में ऐसी बातें बतानेवाला कोई नहीं मिलता जिन्हें हम समझ सकें अथवा स्वीकार कर सकें, हम मृत्यु को एक रहस्य मान लेते हैं। जो व्यक्ति इस बात का थोड़ा ज्ञान हासिल कर लेते हैं कि मृत्यु के बाद क्या स्थिति होती है, उनके लिए मृत्यु भयावह नहीं रहती और न ही सामान्य मनुष्य की तरह अज्ञात की ओर जाने में किसी भय का अनुभव होता है। यदि मनुष्य अपनी बुद्धि और अपना समय इस ज्ञान को पाने के प्रयत्न में लगाये कि मनुष्य मृत्यु के भय से कैसे मुक्त हो सकता है, तो निश्चय ही वह उससे कहीं अधिक सुखी होगा, जो ज्ञान वह अपने इस जीवन को सुखी बनाने के लिए अर्जित करता है। आधुनिक आराम के सब साधनों के बावजूद मृत्यु का भय बना रहता है और हमारे जीवन के उस सुख को छीन लेता है, जो हम भौतिक साधनों से प्राप्त करते हैं। इस भय पर हम कब और कैसे विजय पा सकते हैं?

—राजेंद्र प्रसाद

६ | भावी खतरे की ओर संकेत

द्वितीय महायुद्ध के बाद एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देशों में एक नई चेतना उत्पन्न हुई। वे न केवल विदेशी सत्ता के जुए को उतार फेंकने के लिए आतुर हो उठे, अपितु तानाशाही के विरुद्ध उनमें विद्रोह की आग भड़क उठी। कुछ देशों में क्रांतियां भी हो गई। इन घटनाओं से राजेंद्र-बाबू को जो चिंता हुई, वह उन्होंने कुछ पत्रों में व्यक्त की है :

१८-१०-५८

प्रिय ज्ञान,

विश्वयुद्ध नं० २ के बाद एशिया और अफ्रीका के बहुत बड़े भागों में जनसाधारण में राजनैतिक जागृति बहुत हुई है। इसके दो रूप देखने में आते हैं। कुछ देश, जो विदेशियों के कब्जे में थे, वे तो उनके चंगुल से निकलना चाहते हैं। दूसरे जो विदेशियों के नहीं, अपने ही देश की तानाशाही से ऊबे हुए थे, वे उस तानाशाही से अपनेको बचाना चाहते हैं। भारत, इन्डोनेशिया, फ्रेंच इन्डोचाइना, बरमा, सीलोन इत्यादि उन देशों में हैं, जो विदेशियों के चंगुल से निकलना चाहते हैं और निकल गये हैं। इसी तरह अफ्रीका में भी कई ऐसे देश हैं, जिनमें से कुछ एक प्रकार से स्वतंत्र हो गये हैं यद्यपि अपना सम्बन्ध ब्रिटेन के साथ बनाये हुए हैं। कुछ विदेशियों के खिलाफ लड़ रहे हैं। दूसरे प्रकार के देशों में इजिप्ट (मिस्र) इराक इत्यादि समझे जा सकते हैं। यह अभी भी कहना कठिन है कि इनमें से कितने देश सच्चे प्रजातंत्र के पक्षपाती हैं और कितने केवल विदेशी अथवा स्वदेशी तानाशाही से बचना मात्र चाहते हैं। हम देखते हैं कि कई देशों में सैनिक राज्य स्थापित हो रहा है। हो सकता है कि यह स्थिति थोड़े दिनों

के लिए ठीक हो और शीघ्र ही वहां प्रजातंत्र स्थापित हो जाय। पर आज भारत के चारों तरफ सेनाशाही स्थापित होती दीख रही है—बर्मा में परोक्ष रीति से, पर पाकिस्तान में साफ-साफ खुलकर घोषणा करके। इराक में केवल घोषणा ही नहीं, खून-खराबी करके। इजिप्ट में भी सेना-शाही राज्य ही है और उसके साथ सीरिया भी अब मिल गया है। इस तरह स्थिति बहुत ही डांवाडोल है और यह कहना कठिन है कि प्रजातंत्र कहांतक और कब पूरी तरह स्थापित हो सकेगा। अपने देश की स्थिति अन्य देशों से कुछ भिन्न अवश्य है, पर इससे संतुष्ट होकर निश्चित हो जाना बड़ी भूल होगी और हमको चाहिए कि अपनी त्रुटियों को देखें और दूर करें। आज कल एक सूबा छोड़कर सभी जगहों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल काम कर रहे हैं। पर जनता में असंतोष के चिह्न देखने में आ रहे हैं और बहुतेरे मंत्रियों के प्रति जितनी श्रद्धा लोगों में होनी चाहिए नहीं है। ऊपर के चोटी के नेताओं की तपस्या के कारण दूसरों को भी लोग मान लेते हैं, पर अब प्रश्न उठने लगे हैं और यदि समय रहते उपाय नहीं किया गया तो स्थिति बिगड़ सकती है। इसलिए जयप्रकाशजी ने अपने भाषणों में जोर दिया है कि लोगों में उत्साह, विश्वास और श्रद्धा पैदा करने के लिए जवाहरलालजी और मुझे अपने पद से हटकर जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करके काम करना चाहिए। मैं दूसरे कारण से कुछ दिनों से अपने लिए कुछ इसी तरह का सोचता रहा हूं, पर कुछ निश्चय नहीं कर पाया हूं। यह नई बात जयप्रकाशजी ने पेश की। क्या मुझसे अब इस तरह का काम हो सकता है? यह सोचने की बात है।

—राजेंद्र प्रसाद

२८–१०–५८

प्रिय ज्ञान,

७-१०-५८ की रात को जनरल मिर्जा ने पाकिस्तान के संविधान को रद्द कर दिया और सैनिक राज्य कायम करके जनरल अयूब खां को उसका महान संचालक बना दिया। साथ ही, सभी राजनैतिक दलों को बर्खास्त कर दिया और पूरी तरह सैनिक राज्य हो गया। वह स्वयं प्रेसीडेंट रहे, पर

यह भी घोषित कर दिया कि संविधान के अनुसार वह प्रेसिडेंट नहीं हैं, क्योंकि संविधान तो रद्द हो गया है। वह क्रांति द्वारा ही प्रेसिडेंट हैं। जनरल अयूब खां ने अपने एक बयान में कहा कि वह और प्रेसिडेंट दोनों देश की स्थिति से परेशान थे और उन्होंने जनरल मिर्जा से कहा कि समय आ गया है कि कुछ आप करो और यदि आप नहीं करोगे तो मैं फौज की मदद से कुछ करूंगा। पीछे इस वक्तव्य की कुछ स्पष्टता की गई कि यह चुनौती नहीं थी, बल्कि उन्होंने राय दी थी जो जनरल मिर्जा की राय से मिलती थी। प्राय: तीन सप्ताह काम चला और कल ता० २७।१० को एक केबिनट की नियुक्ति बाजाब्ते शपथ देकर की गई, जिसमें जनरल अयूब खां प्रधान मंत्री बने और तीन फौजी अफसर और चार पूर्व पाकिस्तान के और चार पश्चिम पाकिस्तान के गैर-फौजी लोग दूसरे सदस्य बनाये गए। उसके चन्द घंटों बाद ही रात ११-१२ बजे (२७।१०) को जनरल मिर्जा ने घोषणा की कि वह हट गये और जनरल अयूब खां उनकी जगह पर प्रेसिडेंट हो गये। जनरल अयूब खां ने भी इसका समर्थन किया और कहा कि जो नीति उन्होंने घोषित की है उसमें कोई फरक नहीं होगा। आज रेडियो से यह खबर सुनी गई और सवेरे के पत्रों में भी आ गई। पीछे यह भी मालूम हुआ कि नाविक और हवाई सैनिक सरदार भी सैनिक कानून के संचालक बना दिये गए। जनरल मिर्जा अपनी पत्नी के साथ क्वेटा आराम के लिए चले गये और प्रेसिडेंटी से हट गये। अब देखा जाय, क्या गुल खिलता है। अभी तक इसका कोई विश्वस्त पता नहीं है कि आखिर इतने महत्वपूर्ण परिवर्तनों का क्या असर वहां की जनता, कर्मचारी और सैनिकों पर पड़ा है। पर आज के 'हिंदुस्तान स्टैंडर्ड' के संवाददाता का कहना है कि फौज के अंदर भी असंतोष है क्योंकि आखिर फौज के सभी अफसरों को तो स्थान दिया नहीं जा सकता और गैरफौजी कर्मचारी बहुत रुष्ट हैं कि उनके हाथों से सब अधिकार ले लिये गये हैं। पर राजनैतिक लोगों का क्या हाल है, अभी पता नहीं है।

—राजेंद्र प्रसाद

२०-५-५७

प्रिय ज्ञान,

१८५७ की महान क्रांति के बारे में मैंने इधर कई किताबें पढ़ी हैं। मेरे खयाल में यह घटना अपने-आपमें बहुत बड़ी नहीं थी। इतिहास की और बड़ी घटनाओं की तरह ऐसा हुआ कि यह घटना भी कुछ पहले होने-वाली और बाद में होनेवाली परिस्थितियों के कारण और उस समय देश की जो स्थिति थी उसके कारण १८५७ का आन्दोलन महत्वपूर्ण बन गया। कुछ दूरदर्शी अंग्रेजों ने भी इस बात को भांप लिया था कि कुछ होने जा रहा है। पर मैं नहीं समझता कि कोई भी अंग्रेज यह अनुमान लगा सका होगा कि असंतोष की लहर एक विस्फोट का रूप ले लेगी और सारे देश में इस तरह से फैल जायगी।

इस आंदोलन का अध्ययन दो प्रकार से मूल्यवान है। एक तो सभी देशभक्तों को राष्ट्र के लिए बलिदान करने की इससे प्रेरणा मिल सकती है, किन्तु इसके अच्छे-बुरे दोनों ही पहलू हैं। इसका कारण यह है कि जहां हम एक तरफ देखते हैं कि देशभक्तों ने बड़ी-बड़ी कुर्बानियां कीं, दूसरी तरफ यह भी पाते हैं कि जिन्होंने इसमें जी-जान से मदद दी, उनका उद्देश्य पूरी तरह से देशभक्तिपूर्ण नहीं था, बल्कि उनके कार्यक्रम पर निजी स्वार्थ और निजी हितों की छाया थी। लेकिन सबसे बुरी बात यह है कि ऐसे भी बहुत से दल और लोग थे, जिन्होंने अंग्रेजों की खुल्लमखुल्ला सहायता की। और जैसा भारत के लम्बे इतिहास में कई बार पहले हुआ है, दमन के काम में भी ये लोग हिस्सेदार हो गये। इस अध्ययन का दूसरा लाभ यह है कि हम आज की स्थिति में इससे लाभ उठा सकते हैं। मेरे कहने का मतलब यह है कि हमें आंदोलन से पहले हुई घटनाओं से सबक सीखना चाहिए और अपने देश के वर्तमान और भविष्य के हित में और स्वाधीन भारत की संपन्नता और विकास की दृष्टि से उनसे हमें सावधान होना चाहिए। उस समय की परिस्थितियों और आज के हालात में कुछ सादृश्य है। मिसाल के तौर पर उस समय अंग्रेज सिक्खों के साथ भयंकर युद्धों से मुश्किल से निवृत्त हो पाये थे, किन्तु देश-भर में कोई उनकी सत्ता को चुनौती देने-वाला नहीं रह गया था। एक-एक करके उन्होंने देश के सभी भागों पर

अपना कब्जा कर लिया था और ईस्ट इंडिया कंपनी के आधिपत्य में वे सभी भाग आ गये, जो बाद में ब्रिटिश प्रांत कहलाए और १९४७ तक वे उसी तरह बने रहे।

ब्रिटिश सत्ता के हितों को ध्यान में रखते हुए उस समय प्रशासन की जो कार्यविधि निर्धारित की गई वह भी अच्छी कामचलाऊ थी। विश्वविद्यालयों की स्थापना, रेलों के निर्माण आदि जैसे जनता की सुख-सुविधा के काम भी हाथ में लिये गए। अब हमारी आज की हालत को लीजिये। भयंकर ध्वंसकारी लड़ाई के बाद हम अंग्रेजों के पंजे से निकले हैं। आजादी हमें मिल गई है लेकिन उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व में दो बड़े-बड़े भूभाग हमसे अलग कर दिये गए हैं। हम पूरे देश को एक गणतंत्र का रूप दे सके हैं और इसके लिए लोकतांत्रिक संविधान की व्यवस्था भी कर पाये हैं। ऊपर सतह पर मालूम होता है कि सरकार के अधिकारों को चुनौती देनेवाली अब और कोई शक्ति देश में नहीं रही, ठीक उसी तरह जैसे १८५७ के बाद भारत में अंग्रेजों की शक्ति को ललकारनेवाला कोई और नहीं रह गया था।

किन्तु इस सादृश्य को हमें अधिक नहीं खींचना चाहिए। १० वर्ष के स्वराज्य के बाद और भारत के जनसाधारण के हित में बहुत-कुछ रचनात्मक कार्य कर चुकने के बाद भी हम देश के सभी लोगों का विश्वास प्राप्त करने में अभी तक सफल नहीं हुए हैं। इसके विपरीत राजनैतिक दलों में इतना आपसी खिंचाव है, जितना पहले कभी नहीं था। आम चुनावों से यह सिद्ध हो गया है कि यद्यपि शासक दल (कांग्रेस) ने बहुमत प्राप्त किया है, फिर भी यह जाहिर है कि देश-भर के लिए अथवा शासक दल के लिए सभी लक्षण शुभ नहीं हैं। हो सकता है कि हमें साफ नहीं दिखाई देता हो, किंतु यह निर्विवाद है कि देश में असंतोष की जड़ें फैल चुकी हैं और गहरी जा चुकी हैं। कारण चाहे कुछ भी हो, विभिन्न दलों और वर्गों को सरकार विरोधी पक्ष की ओर धकेल रही है। यह स्वाभाविक है कि इसके फलस्वरूप असंतोष और भी व्यापक होता जाय। असल में हमें देश के सभी लोगों के पूर्ण समर्थन और दृढ़तापूर्ण सहायता की आवश्यकता है। लेकिन दुर्भाग्य से हम उन्हें प्रेरित नहीं कर पाये हैं। यदि यह असंतोष अभी तक

रंग नहीं लाया है, इसका एकमात्र कारण यह है कि लोग निस्पृह और असहाय बन गए हैं। यह स्थिति शुभ नहीं है। हमें चाहिए कि हम उन सभी गलतियों से सबक लें, जो अंग्रेजों ने १८५७ से पहले की थीं। निराश होने की जरूरत नहीं है, आवश्यकता इस बात की है कि हम परिस्थितियों को समझें और उनके लिए अपने-आप को तैयार करें।

—राजेंद्र प्रसाद

११–१०–५७

प्रिय ज्ञान,

हम इस समय बड़े उत्तेजनापूर्ण समय से होकर गुजर रहे हैं। चारों ओर ऐसी घटनाएं घट रही हैं, जिन्हें तुम किसी भी तरह से देखो, वे तुम्हारा ध्यान खींचे बिना नहीं रहतीं और उनसे उत्तेजना पैदा होती है तथा वे आवेश और चिंता का भी कारण बन जाती हैं। मैं यहां केवल एक ही पहलू का उल्लेख करता हूं। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच बराबर तनाव बना हुआ है। रूस द्वारा छोड़े गये भू उपग्रह (सैटलाइट) मेरे सामने बड़े संगत और कठिन प्रश्न प्रस्तुत करते हैं। क्या इस नई खोज का विनाशकारी कार्यों में भी प्रयोग किया जायगा ? यदि ऐसा हुआ तो निश्चय ही इससे यदि आधुनिक सभ्यता का अंत न भी हो, पर सर्वनाश हो जायगा। देखना है कि मानवता और विशेषकर वे लोग जो वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत उन्नत हैं, क्या वे अपने रुख और कार्यों से यह भी साबित करते हैं कि विज्ञान के साथ-साथ मानव की नैतिक और आध्यात्मिक तरक्की भी हो रही है।

अब मैं उन छोटे-छोटे विषयों पर चर्चा करना चाहता हूं, जो आगे चलकर बड़ा रूप धारण कर सकते हैं। मध्य-पूर्व अर्थात सीरिया और तुर्की, सीरिया और अन्य दूसरे अरब देशों में भी बड़ा तनाव चल रहा है। यह खुशी की बात है कि वहांपर स्थिति में कुछ सुधार हुआ है।

दक्षिण-पूर्व एशिया खासकर वियतनाम में तनाव कम नहीं हुआ है, बल्कि थाईलैंड में पिछले कुछ दिनों से और कठिनाइयां पैदा हो गई हैं। साम्यवादी चीन और चांगकाई शेक के फारमूसा के बीच संबंध अच्छे नहीं

हुए हैं। पाकिस्तान के साथ हमारे संबंध भी संतोषजनक नहीं हैं। इस समय कश्मीर के मामले को लेकर सुरक्षा परिषद में कटु वादविवाद चल रहा है। इस बीच पाकिस्तान की स्थिति भी बहुत ही अनिश्चित है। उसके बारे में जितना कहा जाय कम है। श्री सुहरावर्दी ने आज अपने प्रधान मंत्री पद से इस्तीफा दे दिया है, क्योंकि मिली-जुली सरकार में एक बड़े दल रिपब्लिकन पार्टी ने, अवामी लीग से मतभेद होने के कारण मंत्रिमंडल से अपना समर्थन हटा लिया है। उनका इस्तीफा स्वीकार कर लिया गया है और उनके उत्तराधिकारी के लिए खोज हो रही है। हमारी स्थिति भी बहुत कठिन है, क्योंकि हम नहीं जानते कि आगे क्या होगा। किंतु यदि पुरानी प्रथा ही चली तो कोई भी प्रधान मंत्री बने, तथा कोई भी दल सत्ता में आये, हम उनसे किसी युक्तिसंगत व्यवहार की आशा नहीं कर सकते। भारत के प्रति घृणा रखने के अलावा पाकिस्तान के पास आंतरिक और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की और कोई नीति नहीं है और इस घृणा के भाव को वह जीवित ही नहीं रखना चाहता, बल्कि इसको हमेशा गरम रखना चाहता है। इसे हम अपना दोष नहीं, दुर्भाग्य ही कह सकते हैं, क्योंकि हम पाकिस्तान के प्रति कोई दुर्भावना अथवा किसी प्रकार की शत्रुता नहीं रखते। हमारा विश्वास है कि देर-सवेर उनकी यह दुर्भावना भी अवश्य ही समाप्त हो जायगी। काफी हो चुका और मैं समझता हूं कि अब समय आ रहा है जब दोनों ही ओर सद्भावना पैदा होगी और लोग इस दुर्भावना के रुख तथा घृणा की भावना और कार्य को न केवल कम करेंगे, बल्कि खत्म भी कर देंगे।

—राजेंद्र प्रसाद

११-१-५८

प्रिय ज्ञान,

आज सुबह की मुलाकात में डा० राधाकृष्णन ने तीन बातें कहीं, जिन पर सरकार को बहुत गंभीरता से विचार करना चाहिए। द्रविड कड़गम और द्रविड़ मुनेत्र कड़गम द्वारा बड़ा भारी प्रोपेगेंडा चलाया जा रहा है और सरकार ने इस स्थिति को यूंही चलने दिया, यहांतक कि प्रधानमंत्री

की मद्रास-यात्रा के समय बहुत बड़े प्रमाण पर जुलूस निकाले गये और पुलिस को अश्रुगैस तक छोड़नी पड़ी और बहुत लोगों को हिरासत में भी लिया गया।

दूसरा मामला इंश्योरेंस कंपनी के फंड में भारी गफलत (स्कैंडल) का मामला था। सरकार ने जस्टिस चागला को मामले की जांच के लिए नियुक्त किया है, किन्तु डा० राधाकृष्णन की बात से ऐसा लगा कि उन्होंने वित्तमंत्री से बातचीत की थी और वह (वित्तमंत्री) इस मामले को बहुत गंभीर नहीं मानते। डा० राधाकृष्णन अनुभव करते हैं कि लोगों के दिलों में इस बारे में बड़ी आशंकाएं हैं, जो आपस की बातचीत इत्यादि में व्यक्त होती हैं और जिसके कारण अपने नाम और सम्मान की रक्षा के लिए सरकार को इसपर गंभीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए और यथाशीघ्र जांच करवानी चाहिए।

चिंता का तीसरा विषय कश्मीर था, शेख अब्दुल्ला के रिहा हो जाने से स्थिति पेचीदा बन गई है। उनकी हरकतों पर सावधानीपूर्वक ध्यान रखना जरूरी है, अन्यथा शरारत हो सकती है। उनका विचार है कि इन सभी बातों को बड़े ध्यान से और तरीके से किंतु दृढ़ता के साथ सुलझाना चाहिए, अन्यथा इनसे सरकार के लिए बड़ी कठिनाइयां पैदा हो सकती हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

७ भारत-विभाजन की समस्याएं

हमें आजाद हुए कई साल होने को आये हैं। यह देखना उचित मालूम होता है कि हम सरकार की उपलब्धियों की समीक्षा करें और यह देखें कि वह कहां असफल रही है, और सबसे बढ़कर यह भी सोचें कि सभी वर्गों और श्रेणियों के लोग उनसब परिवर्तनों के बारे में क्या सोचते हैं, जो हमने इन बरसों में किये हैं और आम तौर से लोगों का रुख कैसा है।

देश को हम राजनैतिक स्थिरता दे पाये हैं और भारी कठिनाइयों के बावजूद स्थिरता बराबर बनी रही है और प्रशासन में ढिलाई नहीं आई है। इसलिए हमारा प्रश्न विशेष रूप से महत्वपूर्ण बन जाता है। अगर हम उनसब कठिनाइयों और अड़चनों पर पूरा ध्यान नहीं देंगे, जिनका सामना सरकार को स्वाधीनता के बाद करना पड़ा है, तो हम स्थिति को ठीक-ठीक नहीं आंक पायगे। स्वाधीनता के उत्तरकाल में अनेक बड़ी-बड़ी कठिनाइयां हमारे सामने आई हैं। स्वाधीनता का जन्म देश के विभाजन के साथ हुआ। इसके कारण जैसा वातावरण पैदा हुआ, वह सभी जानते हैं। इसके बारे में कुछ शब्द कह देने ही काफी हैं। विभाजन की मांग मुस्लिम लीग ने इस आधार पर की थी कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्र हैं, जो एक ही देश में मिल-जुलकर नहीं रह सकते। इस मांग के दौरान जो उपद्रव हुए उनका फल अविश्वास और कटुता की भावना के रूप में प्रकट हुआ और इन भावनाओं की छाया दोनों देशों अर्थात हिंदुस्तान और पाकिस्तान पर पड़ी। दुर्भाग्य से इन दोनों भावनाओं का प्रभाव इतने साल बीत चुकने पर भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ। विभाजन के तुरन्त बाद जो भयंकर घटनाएं घटीं वे इतनी दुःखदायी थीं कि लोग उन्हें अभी तक भूल नहीं पाये हैं। देश में शांति स्थापित करने में हम सफल हुए हैं, किन्तु यह कहना गलत होगा कि विचार और

मनोभाव स्वस्थ होकर साधारण स्तर पर आ गये हों अथवा हिन्दुओं और मुसलमानों में पारस्परिक विश्वास और मैत्री के संबंध पूरी तरह स्थापित हो गये हों।

स्वाधीनता के बाद पैदा होनेवाली दूसरी कठिनाई का जन्म अंग्रेजों की नीति से नहीं हुआ, यद्यपि विभाजन के लिए वही नीति जिम्मेदार थी। उन्होंने यह घोषणा कर दी थी कि सभी श्रेणियों और छोटी-बड़ी ६०० देशी रियासतों के साथ की गई संधियां रद्द समझी जायंगी और रजवाड़ों में से प्रत्येक स्वतंत्र होगा कि चाहे वह स्वाधीन रहे अथवा भारत या पाकिस्तान के साथ मिल जाय। बड़ी और महत्वकांक्षी रियासतों के लिए यह बहुत बड़ा प्रलोभन था और श्री जिन्ना ने इस प्रलोभन से लाभ उठाने और अपना काम गांठने में देर नहीं लगाई। कुछ रजवाड़े स्वाधीनता का स्वप्न देखने लगे। यह ठीक है कि इनमें से अधिकांश इतने छोटे और साधनहीन थे कि उनके लिए स्वाधीनता की घोषणा करना एक गंभीर दुस्साहस होता, फिर भी, बहुत-सी रियासतों को मिलाकर अलग से एक संघ का निर्माण असंभव प्रस्ताव नहीं था। उनकी सद्भावना, देशभक्ति और यथार्थ दृष्टिकोण को ही इस बात का श्रेय दिया जायगा कि अधिकतर रजवाड़ों ने हिन्दुस्तान के साथ शामिल होना मंजूर कर लिया। सरदार वल्लभभाई पटेल की दूरदर्शितापूर्ण नीति और उनकी दूरदर्शी दृष्टि तथा दृढ़ रुख के कारण स्थिति को संभाला जा सका और यह चकरा देनेवाली समस्या थोड़े समय में और कहीं कम परेशानी के साथ सुलझा दी गई। हममें से बड़े-से-बड़े आशावादी को भी ऐसी सफलता की आशा नहीं थी। उधर एकमात्र कश्मीर का ऐसा मामला है जो पूरी तरह भारत में शामिल नहीं हुआ था और यह मामला हमारे लिए आज भी एक समस्या बना हुआ है। इस संबंध में बाबूजी के पत्र बड़े रोचक और महत्वपूर्ण हैं :

१७-१०-५७

प्रिय ज्ञान,

जवाहरलाल नेहरू आज १५ दिन तक जापान, हांगकांग और बर्मा का दौरा करके लौटे हैं। पालम हवाई अड्डे पर उपराष्ट्रपति, कांग्रेस

अध्यक्ष, पं० पंत और अन्य मंत्रियों तथा राजनयिक दल के सदस्यों ने उनका स्वागत किया। सबसे पहले उनसे मेरा मिलना हुआ और वह और मैं एक ही गाड़ी में प्रधानमंत्री भवन वापस आये। उनका यह दौरा बहुत सफल रहा। जहां कहीं वह गये, उनका भव्य स्वागत हुआ। इस स्वागत और भारत के प्रति सद्भावना के प्रदर्शन से वह बहुत प्रभावित हुए हैं। इन दौरों के संस्मरण हमें बाद में उनसे सुनने को मिलेंगे।

एक और महत्वपूर्ण घटना पाकिस्तान में घटी है। पाकिस्तानी केन्द्रीय विधान की मुस्लिम लीग के नेता श्री चुंदरीगर को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया है और चार दलों (मुस्लिम लीग, रिपब्लिकन पार्टी, कृषक श्रमिक पार्टी और निजामे इस्लाम पार्टी) की सहायता से मंत्रिमंडल बनाने को आमंत्रित किया गया है। देखें, मंत्रिमंडल में कौन-कौन शामिल होते हैं। जहांतक हिन्दुस्तान का संबंध है, मैं नहीं समझता कि पाकिस्तान की नीति में कोई परिवर्तन होगा, चाहे कोई भी प्रधानमंत्री हो और चाहे कोई भी मन्त्रिमंडल में शामिल हों। हां, यह जरूर है कि वे अपनी बात को दुनिया के सामने कैसे रखते हैं यह मंत्रि-विशेष की योग्यता और रुख पर निर्भर करता है।

सुनने में आ रहा है कि यदि कश्मीर के मामले में सुरक्षा परिषद कुछ न कर सकी तो पाकिस्तान का इरादा दूसरे तरीकों को अपनाने का है। यह जानकर स्वभावतः जनसाधारण के मन में आशंका पैदा होती है। यह बात नहीं कि हम तैयार नहीं थे हमने अपनी सीमा की रक्षा करने में किसी तरह की अवहेलना की हो। किन्तु यह जानकर हमारा चिंतित होना ठीक ही है कि अमेरिका ने पाकिस्तान को नवीनतम और उन्नत शास्त्रास्त्र दिये हैं। यद्यपि अमेरिका ने यह भी आश्वासन दिलाया है कि ये हथियार हिंदुस्तान के खिलाफ नहीं बल्कि दूसरे शत्रुओं अर्थात कम्युनिस्टों के विरुद्ध इस्तेमाल किये जायंगे। हो सकता है, अमेरिका का ईमानदारी से यही इरादा हो। कोई कारण नहीं कि हम ऐसा न मानें। किंतु सवाल उठता है कि यदि पाकिस्तान ने इन हथियारों का उपयोग हिंदुस्तान के खिलाफ किया, तो अमेरिका क्या कर सकता है। अगर यह भी मान लिया जाय कि उसके बाद वह पाकिस्तान को हथियार देना बंद कर देगा या

उसके खिलाफ कार्रवाई करने को तैयार होगा, तो यह भी स्पष्ट है कि यह सबकुछ शरारत हो चुकने के बाद होगा।

यही नहीं, उसके बाद यह विवाद शुरू हो जायगा कि क्या पाकिस्तान ने उन हथियारों का इस्तेमाल आत्म-रक्षा के लिए नहीं किया ? हम लाख कहते रहें कि पाकिस्तान की नीयत बुरी है और उन हथियारों से उसने हमपर आक्रमण किया है, वह बराबर इन्कार करता रहेगा। अमेरिका यदि हमारी बात का विश्वास भी करे तो भी उस समय सबकुछ हो चुकने के बाद उसका कोई परिणाम नहीं निकलेगा। असली खतरा यही है। साथ ही यह बात है कि आजकल किसी भी सशस्त्र संघर्ष को राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं में सीमित रखना बहुत कठिन है। कोई भी शक्ति, विशेषकर बड़ी शक्ति, आज ऐसा युद्ध नहीं चाहती जो विश्वयुद्ध बन जाय और जिससे सर्वनाश हो जाय। पाकिस्तान के जंगी इरादों पर रोक युद्ध के लिए बड़ी शक्तियों की अनिच्छा से ही लग सकती है। खैर, देखें क्या होता है। सभी परिस्थितियों के मुकाबले के लिए हमें तैयार रहना है। यह भी हमारे लिए बहुत बड़ी बात है, क्योंकि इसका अर्थ होगा हमारी योजनाओं में कांट-छांट और हमारे साधनों का सैनिक तैयारी पर व्यय। यदि ऐसा हुआ तो दुःख की बात होगी, किंतु हम असहाय हैं। पर यह बात हमारे बस की भी नहीं।

—राजेंद्र प्रसाद

१३–१२–५६

प्रिय ज्ञान,

पूर्ण शांति बनाए रखना, भीतरी अराजकता और बाहरी हमलों से देश की रक्षा करना किसी भी राष्ट्र का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। हमारा देश स्वाधीन हुआ, किन्तु स्वाधीनता के साथ ही देश का बंटवारा हो गया, जिसके फलस्वरूप पूर्व और पश्चिम में हमारे काफी बड़े भू-भाग देश से बाहर चले गए। इन दोनों भू-भागों में काफी घनी आबादी थी, खासकर पूर्वी भू-भाग में। दोनों में मुसलमानों की बहुसंख्या थी, लेकिन फिर भी अल्प-

संख्यक लोग काफी तादाद में थे और ये मुसलमानों की अपेक्षा शिक्षा और आर्थिक विकास की दृष्टि से अधिक उन्नत थे।

देश के विभाजन की मांग इस आधार पर की गई थी कि मुसलमान एक अलग राष्ट्र हैं और उन्हें अपने लिए अलग देश चाहिए। इन भू-भागों में उनकी बहुसंख्या भी थी। यह भी कहा गया कि चूंकि वे अलग से एक राष्ट्र हैं, इसलिए मुसलमान एक गैर-मुस्लिम बहुसंख्यकों के नीचे सदा के लिए नहीं बने रह सकते। तात्पर्य यह कि बहुसंख्यक इलाकों को मुसलमान एक दूसरा स्वतंत्र राष्ट्र बनाना चाहते थे, जिसको उन्होंने 'पाकिस्तान' का नाम दिया। अन्त में जो विभाजन हुआ उसका अभिप्राय इन सभी मांगों और दावों को पूरा करना था।

जहांतक भारत के गैर-मुस्लिम लोगों का संबंध है, उन्होंने विभाजन की मांग यह समझकर स्वीकार की कि इससे मुसलमान संतुष्ट हो जायंगे और इस प्रकार अल्पसंख्यकों की समस्या का यह सर्वोत्तम हल होगा। इस समस्या के कारण उन्नति के सभी दरवाजे अवरुद्ध हो चुके थे और ऐसी विकट स्थिति पैदा हो गई थी, जिसके कारण देश के सभी लोगों के लिए लूटपाट, मारकाट आदि का खतरा बना रहता था। किन्तु दुर्भाग्य से विभाजन द्वारा भी अल्पसंख्यकों की समस्या का निपटारा न हो सका, क्योंकि भारत की तरह पाकिस्तान में भी काफी संख्या में अल्पसंख्यक लोग मौजूद थे। यह आशा थी कि दोनों देश अपने अल्पसंख्यकों के साथ न्याय-पूर्ण व्यवहार करेंगे और इस प्रकार गैर-मुस्लिमों की सहमति से स्थापित हुए पाकिस्तान में अल्पसंख्यक जातियां संतोषपूर्वक रह सकेंगी। हिंदुस्तान में यह किसीने नहीं सोचा था कि यह देश अथवा पाकिस्तान कभी स्वयं अल्पसंख्यकों को ही देश से निकालकर इस समस्या को हल करने का यत्न करेगा। इसलिए व्यापक उपद्रवों और आबादियों के बड़े पैमाने पर स्थानान्तरण की आशंका किसीको नहीं थी। इसके प्रतिकूल ख्याल यह था कि अब विभाजन हो जाने के बाद मंत्रिमंडल के मुस्लिम सदस्यों की विरोधात्मक कार्रवाई का अन्त हो जायगा, इसलिए सब लोग शांति-पूर्वक रचनात्मक कार्य में जुट जायंगे।

आन-की-आन में अचानक पश्चिम पाकिस्तान में ऐसा झंझावात उठा

कि किसी भी गैर-मुस्लिम ने अपने-आपको सुरक्षित नहीं समझा और हजारों-लाखों की संख्या में ये लोग भारत में आने के लिए पूरब की ओर चल पड़े। कोई नहीं कह सकता कि इस तूफान के कारण कितनों की जानें गई। अगर लाखों नहीं तो हजारों तो जरूर मौत के घाट उतरे। पश्चिमी पाकिस्तान ने तो सभी हिंदुओं और सिक्खों को बाहर धकेलकर अपनी अल्पसंख्यक समस्या लगभग सुलझा-सी ली। पचास लाख से ऊपर लोग वहां से हिन्दुस्तान आ पहुंचे। उधर भारत में भी इन घटनाओं के कारण प्रतिशोध की भावना उमड़ पड़ी और नई सीमा के इस ओर भी लगभग वैसे ही उपद्रव हुए और जान और माल को नुकसान पहुंचा।

पूर्वी पाकिस्तान से भी भारत के लिए स्थानांतरण की लहर उठी। किंतु उसी समय नहीं और न उस रफ्तार से, जैसी पश्चिमी पाकिस्तान से उठी थी। पूर्वी पाकिस्तान से हिन्दुओं द्वारा स्थानान्तरण की प्रक्रिया बराबर जारी है और लाखों आदमी सीमा के इस ओर आ चुके हैं।

स्वाधीनता के बाद ही देश में शांति बनाए रखने की समस्या सर्वप्रथम हो गई। बाहर से आये हुए इन लाखों बेघर लोगों को, जो अपना सबकुछ पीछे छोड़ आये थे, फिर से यहां बसाना और उन्हें अपने पांव पर खड़े करना, शांति-स्थापना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। समस्या प्रशासनिक ही नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक भी थी। इसे सुलझाने के लिए प्रशासनिक अनुभव और सूझबूझ के अलावा कोमल कल्पना और सहानुभूति की भी जरूरत थी, क्योंकि इन लोगों को फिर से बसाना था। जहां तक पश्चिमी पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थियों का प्रश्न है, समस्या करीब-करीब सुलझाई जा चुकी है। हम यह कह सकते हैं कि प्रायः वे सभी लोग, जो वहां से भयंकर परिस्थितियों के बीच यहां पहुंचे थे, किसी-न-किसी तरह बसाए जा चुके हैं, यद्यपि उनके नुकसान की पूरी-पूरी क्षतिपूर्ति नहीं की जा सकी है और जो असंभव-सी है। इसके साथ ही यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्वी पाकिस्तान से आनेवाले सभी लोगों को भी इसी प्रकार बसाया जा चुका है। इसके अनेक कारण हैं, शायद सबसे बड़ा कारण तो यह है कि पश्चिम से स्थानांतरण की रफ्तार तेज थी और वह पूर्ण था, अर्थात तीन-चार महीने के अल्प समय में प्रायः सभी हिंदू और

सिक्ख प० पाकिस्तान से भारत में आ चुके थे और एक बार यहां आने पर उन्होंने फिर वापस जाने का इरादा छोड़ दिया था। इसके विपरीत पूर्वी पाकिस्तान से स्थानांतरण बराबर जारी है और अभी भी वहां करीब ८० लाख हिन्दू मौजूद हैं। जो लोग भारत आ भी गये हैं उनमें से बहुतेरों के सामने वापस लौट जाने के प्रलोभन भी मौजूद हैं, क्योंकि बहुतों के सगे-संबंधी अभी भी वहीं रह रहे हैं। यही कारण है कि पुनर्वास की समस्या इतनी पेचीदा और मनोवैज्ञानिक बन गई है और अभी तक इसे पूरी तरह से सुलझाने में हम समर्थ नहीं हो पाये हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

१६–१२–५६

प्रिय ज्ञान,

पश्चिम पाकिस्तान से आये हुए लोगों के लिए और उनके बीच के काम को तीन भागों में बांटा जा सकता है। उदाहरण के लिए पश्चिम पाकिस्तान से हिंदु और सिक्खों का भारत को स्थानांतरण और हिंदुस्तान के पश्चिम पाकिस्तान के पास के इलाकों से मुसलमानों का पाकिस्तान को स्थानांतरण। हालांकि यह स्थानांतरण अनिवार्य नहीं था, लेकिन वहां की सरकार द्वारा उकसाए जाने और मदद पाने पर वहां के लोगों के व्यवहार से परेशान होकर, जानमाल, इज्जत और अपनी संपत्ति को जोखिम में देखकर पश्चिम पाकिस्तान में रहनेवाले हिंदुओं और सिक्खों को आत्मरक्षा के लिए हिंदुस्तान आने को बाध्य होना पड़ा। किसी हद तक मुसलमानों के लिए भी यह कहा जा सकता है। लेकिन वास्तविकता यही है कि जब पश्चिम पाकिस्तान में रहनेवाली लगभग पूरी-की-पूरी हिंदू और सिक्खों की आबादी को अपना घर, संपत्ति और अपने मरे हुए सभी स्वजनों को छोड़कर हिंदुस्तान आने के लिए बाध्य होना पड़ा, तब भारत में पश्चिम पाकिस्तान के आसपास के इलाकों में रहनेवाले मुसलमानों को भी इस तरह की कठिनाइयों में से गुजरना पड़ा। वैसे बाकी सारे देश में लगभग शांति थी और इस देश में मुसलमानों ने अपना जीवन, अपनी इज्जत और संपत्ति को सही-सलामत पाया, इसलिए वे जहां थे शांति से रहे।

स्थानांतरण की समस्या बहुत ही कठिन और तात्कालिक थी, भले ही वह सबसे भयंकर न हो। बहुत-से तो अपने-आप भाग निकले, लेकिन उनमें से अधिकतर लोगों को सुरक्षित कारावान या सेनाओं की निगरानी में रेलगाड़ियों में एक जगह से दूसरी जगह ले जाया गया। यहां भी डर बना ही रहता था, क्योंकि बहुत-से कारवां और रेलगाड़ियों को लूट लिया जाता था और इस लूटपाट में बहुत-से मर भी जाते थे। लेकिन इस काम को सेना ने बहुत ही सुचारु रूप से संभाला और बड़ी जल्दी ही तीन-चार महीनों में ही इस काम को पूरा कर दिया।

इस समस्या का दूसरा अध्याय था, शरणार्थियों का स्वागत, उन्हें राहत देना और कम-से-कम उनके रहने के लिए अस्थायी ही सही, किसी तरह की व्यवस्था करना। बहुत-से शरणार्थी कैम्प खोले गए और एक समय तो ऐसा आया जब सरकार को इन शिविरों को चलाने के लिए एक दिन में कम-से-कम दस लाख रुपए खर्च करने पड़े। गैर-सरकारी संगठनों, जनता और सरकार द्वारा स्थापित इन बाकायदा शिविरों के अलावा बहुत-से शरणार्थी अपने-आप, जहां भी उन्हें जगह मिली, वहां जाकर बस गए और किसी-न-किसी तरह उन्होंने अपने लिए छोटा-मोटा काम-धंधा खोज लिया। इस तरह राजस्थान, दिल्ली, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और कई राज्यों के शहरों में ये शरणार्थी छा गये। उन्हें जहां भी जगह मिली सड़कों की पटरियों पर, फुटपाथ पर, खुले मैदान या बगीचों में इन शरणार्थियों ने अपना अड्डा जमा लिया। दिल्ली में तो शायद ही कोई बच गया हो। फुटपाथ की इंच-भर जमीन पर भी ये शरणार्थी कीड़ियों की तरह छा गये थे और उन्होंने अपनी झुग्गी-तम्बू डाल लिये, चाहे उन्हें झुग्गी कहें या झोंपड़ी, तम्बू कहें या केवल टीन का शेड—शरणार्थियों ने अपने लिए उन्हींमें घर बसा लिया। शरणार्थी इन शिविर और अस्थायी घरों में एक या दो साल तक बसे रहे और जैसे-जैसे सरकार ने उनके लिए दूसरे निवासों की व्यवस्था की वे फुटपाथ छोड़कर वहां बस गए और बहुतों ने अपने लिए भी छोटे-छोटे स्थायी निवास ढूंढ लिये। इसी अवधि में इन नागरिक परिवारों के लिए रोजगार ढूंढना था और इनके बच्चों की शिक्षा तथा अन्य नागरिक व्यवस्था की समस्याओं को भी हल करना था। सरकार तथा

उनके प्रयासों से शरणार्थियों की समस्याएं धीरे-धीरे सुलझती गईं।

चूंकि बहुत-से मुसलमान हिंदुस्तान छोड़कर चले गए थे, इसलिए पंजाब में और कुछ कम आसपास के इलाकों में ऐसी भूमि उपलब्ध थी, जिसपर कम-से-कम अस्थायी रूप से खेतिहर शरणार्थी बसाए जा सकें। भूमि पर कब्जा करते ही इन लोगों ने खेती का काम शुरू कर दिया। बहुतों को छोटा-मोटा व्यापार और उद्योग चलाने में मदद दी गई और कुछ लोग सरकारी नौकरी और दूसरे धंधों में खप गए। इस प्रकार जहां और जैसे ही इस समस्या की विशालता प्रकट हुई वहां साथ-साथ कम-से-कम आंशिक रूप से यह सुलझती भी गई। इस तरह जो अनुभव होता गया उसीके आधार पर पुनर्वास का काम आगे बढ़ता गया।

शरणार्थियों को स्थायी रूप से बसाने के लिए बहुत बड़ा निर्माण कार्यक्रम हाथ में लिया गया। नए नगर बसाए गए और आगंतुक किसानों में भूमि को स्थायी रूप से बांट दिया गया। ऋण और दान के रूप में व्यापार आदि के लिए इन लोगों की सहायता के लिए उदारतापूर्वक धन दिया गया।

पश्चिम पाकिस्तान में गैर-मुस्लिम लोगों के अधिकार में हजारों एकड़ नहरी जमीनें थीं। मिंटगुमरी, लायलपुर, सरगोधा आदि नए बसाए हुए जिलों में उन लोगों ने कृषि को बड़े पैमाने पर उन्नत ही नहीं किया था, बल्कि अपने लिए भव्य निवास-स्थान भी बना लिये थे। शहरों में इनके पास बड़ी कीमती संपत्ति थी। इनके द्वारा चलाए हुए स्कूलों, कालिजों, अस्पतालों आदि सार्वजनिक संस्थाओं के अधीन भी काफी संपत्ति थी। यह सबकुछ पीछे छोड़कर इन लोगों को हिंदुस्तान आना पड़ा और इस तरह जो सकड़ों एकड़ भूमि के मालिक थे, अचानक बेघर और भूमिहीन बन गये। एक इंच ऐसी भूमि न थी जिसे वे अपनी कह सकें और उनके ऊपर कोई ऐसी छत न थी, जिसे वे अपना घर कह सकें।

हिंदुस्तान से बाहर जानेवाले मुसलमान जो भूमि पीछे छोड़ गये थे वह पाकिस्तान में छोड़ी गई जमीन की अपेक्षा बहुत कम थी। फिर भी इस जमीन पर ये शरणार्थी बसाए गये, किंतु सरकार पाकिस्तान में छोड़ी गई १०० एकड़ जमीन के पीछे सिर्फ १० एकड़ ही दे सकी। चाहे पाकिस्तान

में किसीके पास कितनी ही जमीन रही हो, यहां शरणार्थी के लिए अधिक-से-अधिक १० एकड़ को इकाई माना गया। इन लोगों के लिए सरकार ने वहुत-से घर वनाए और कुछ इन लोगों ने अपने-आप वना लिये। इस प्रकार इन आठ वरसों में पुनर्वास का काम लगभग पूरा हो सका।

एक समस्या अभी सुलझानी वाकी रहती है। पाकिस्तान और हिंदुस्तान के वीच एक समझौते के द्वारा यह तय हुआ था कि उस देश में जो संपत्ति हिंदू और सिक्ख छोड़ आये हैं और यहां जो संपत्ति वाहर जानेवाले मुसलमान छोड़ गये हैं, उस संपत्ति को प्रत्येक देश स्थानान्तरण के वाद भी असली मालिक की मिल्कियत समझेगा। लेकिन चूंकि एक वार अपने देश से चले जाने के वाद अपनी संपत्ति की दूसरे देश से देख-रेख करना संभव नहीं, यह काम स्वाभाविक ही देश विशेष की सरकार पर आता है। इस संपत्ति का निपटारा कैसे किया जाय इस संवंध में भारत और पाकिस्तान के वीच मतभेद रहा है। पाकिस्तान का आग्रह है कि संपत्ति को ठिकाने लगाना असली मालिक की जिम्मेदारी है। भारत सरकार का कहना है कि यह काम व्यक्ति विशेष के लिए संभव नहीं, इसलिए यह काम सरकार का है कि वह उस संपत्ति का मूल्य दूसरे देश की सरकार को दे। इस प्रकार भारत ने छोड़ी हुई सारी संपत्ति का मूल्य आंककर एक निधि स्थापित कर ली है, जिसमें से पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थियों को क्षतिपूर्ति दी जाती है। ऐसा अनुमान है कि जो संपत्ति हिंदू और सिक्ख शरणार्थी पाकिस्तान में छोड़ आये हैं उसका मूल्य मुसलमान शरणार्थियों द्वारा भारत में छोड़ी गई संपत्ति से चार-पांच गुना अधिक है। इसलिए अगर छोड़ी गई संपत्ति से ही क्षतिपूर्ति देनी है तो जाहिर है कि किसी भी शरणार्थी को २० प्रतिशत से अधिक नहीं दी जा सकती। क्षतिपूर्ति संवंधी इस पेचीदा और कठिन समस्या को सुलझाने के लिए वहुत वड़े पैमाने पर एक संगठन वनाया गया है। क्षतिपूर्ति की अदायगी का आधार यह है कि सवसे पहले समाज के कमजोर अथवा दरिद्र लोगों की सहायता दी जाय और उनके वाद समर्थ लोगों को।

पूर्व पाकिस्तान में कई एक और कारणों से यह प्रश्न जटिल वन गया है, यद्यपि वहां की सरकार को स्थानांतरण की समस्या का सामना वहुत

बड़े पैमाने पर नहीं करना पड़ा है। वहां से स्थानांतरण क्रमिक और धीरे-धीरे हुआ है। अभी तक करीब ४० लाख लोग पूर्व पाकिस्तान से भारत आ चुके हैं। इस समय ३०-३५ हजार लोग हर महीने भारत आ रहे हैं। स्थानांतरण की क्या रफ्तार हो और इसका क्या स्वरूप हो, यह उस देश की आंतरिक स्थिति और सांप्रदायिक वातावरण पर निर्भर करता है। इस विकट समस्या का रूप न तो पूरी तरह से मालूम है और न ही शायद मालूम हो सकता है। चूंकि बहुत-से शरणार्थी अभी भी पूर्व पाकिस्तान से संबंध बनाये हुए हैं, इसके कारण एक मनोवैज्ञानिक चीज पैदा हो गई है, जिसे दूर करना सरकार और शरणार्थी दोनों के लिए कठिन है। जो भी हो, पूर्व पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थियों की समस्या को सुलझाने के लिए और उन लोगों को भारत में बसाने के लिए वही कुछ किया जा रहा है, जो पहले पश्चिम पाकिस्तान से आनेवाले शरणार्थियों के लिए किया गया था। हां, अब यह बड़े पैमाने पर किया जा रहा है। इस प्रयास का कोई चरण समाप्त हो चुका है, यह कहना मुश्किल है, क्योंकि रोज शरणार्थियों की भीड़ आ रही है, जिसका परिणाम यह है कि हजारों शरणार्थी हर रोज कलकत्ता या उसके आसपास दिखाई देते हैं।

एक खास कठिनाई यह है कि इसके बराबर ही शरणार्थी हिंदुस्तान से पूर्व पाकिस्तान नहीं गए। इसलिए वहां से आनेवाले शरणार्थियों को क्षतिपूर्ति देने के लिए किसी तरह की खाली की हुई संपत्ति नहीं है और क्षतिपूर्ति का सारा भार भारत पर आ पड़ा है। जो अनुभव अभी तक हमें शरणार्थी-संबंधी समस्याओं को सुलझाने में हुआ है, उनके आधार पर हम यथासंभव पूर्व पाकिस्तान से स्थानांतरण के प्रश्न को निपटाने का प्रयत्न कर रहे हैं। जबतक लोगों का आना-जाना जारी रहता है, उस दिशा में हमारे प्रयत्न भी जारी रहेंगे।

—राजेंद्र प्रसाद

१३–७–५६

प्रिय ज्ञान,

पुरानी रियासतों के विलय की कहानी रियासत मंत्रालय के भूतपूर्व

सचिव श्री वी० पी० मेनन ने बड़े रोचक ढंग से बयान की है। इन रियासतों के विलय के अवसर पर नरेशों से बातचीत करनी पड़ी, वह भी इन्होंने ही की। ज्ञान, मेरे विचार से यह किताब तुम्हें जरूर पढ़नी चाहिए। इससे तुम्हें परीक्षा[1] में मदद मिलेगी। सब रियासतों का भारत में पहले ही विलय हो चुका है, केवल जम्मू-कश्मीर की रियासत ही अलग है, जो हमारे लिए एक कठिन समस्या बनी हुई है और जो पाकिस्तान के साथ हमारे झगड़े का एक कारण है।

मुस्लिम लीग ने इस आधार पर विभाजन की मांग की थी कि हिंदू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्र हैं। इन दोनों का अपना इतिहास और अपनी परंपराएं हैं। दोनों में अंतर इतना ही है कि मुसलमानों के पास हिंदुस्तान का कोई भू-भाग ऐसा नहीं जिसे वे अपना कह सकें, यद्यपि उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम की आबादी का वह बहुसंख्यक है। जहांतक रियासतों का संबंध था, श्री जिन्ना ने अनेक बार यह कहा कि अमुक रियासत पाकिस्तान के साथ जाना चाहती है या हिंदुस्तान के, इसका अंतिम निर्णय करने का अधिकार उस रियासत के नरेश को है। वह उन दिनों नरेशों की चापलूसी कर रहे थे और उन्हें पाकिस्तान में मिलाने के लिए उनसे बातचीत कर रहे थे। उन्हें आशा थी कि वह कुछ ऐसी रियासतों को पाकिस्तान में मिला सकेंगे, जिनके नरेश ही नहीं, बल्कि अधिकांश जनता भी हिंदू हो। मुसलमान नरेशों के बारे में तो उन्हें विश्वास था ही कि वे पाकिस्तान के साथ मिलेंगे।

अधिकांश रियासतें, जो भूगोल की दृष्टि से अनिवार्य रूप से भारत के साथ जुड़ी थीं, खुशी से भारत के साथ मिल गईं। भोपाल और हैदराबाद जैसी मुस्लिम रियासतों ने, जिनके अधिकांश लोग हिंदू थे, भारत के साथ विलय में आनाकानी की। किंतु बहुत देर तक तटस्थ खड़े रहना उनके लिए असंभव था, इसलिए अंततोगत्वा वे भारत में मिल गईं। विलय की यह कहानी रोचक है और पढ़ने योग्य है।

जम्मू और कश्मीर की रियासत हिंदुस्तान और पाकिस्तान के बीच

---

1 उस समय मैं बी० ए० एम० परीक्षा की तैयारी कर रही थी।

में स्थित है। भूगोल की दृष्टि से वह दोनों देशों में से किसीके साथ मिल सकती थी। इस रियासत का नरेश हिंदू था, किंतु आवादी की बहुसंख्या मुस्लिम थी। महाराजा फैसला करने में पहले कुछ हिचकिचाए और इसके कारण कुछ देर हो गई। भारत सरकार ने उन्हें आश्वासन दिया कि वह निर्णय लेने में स्वतंत्र हैं और आग्रह किया कि जो भी हो, उन्हें शीघ्र ही कोई निर्णय ले लेना चाहिए। किंतु महाराजा की अभिलाषा तो स्वतंत्र राष्ट्र का अधिपति बनने की थी—ऐसा स्वतंत्र राष्ट्र जिसकी आजादी की गारंटी हिंदुस्तान और पाकिस्तान दोनों ही ने दी हो। इसके लिए हिंदुस्तान तैयार नहीं था और न ही पाकिस्तान। हिंदुस्तान ने बराबर इंतजार किया और कश्मीर नरेश को अपना निर्णय लेने का पूरा अवसर दिया। पाकिस्तान अधिक समय देने को तैयार नहीं था। कवाइली लोगों को उकसाकर और स्वयं अपनी सेना की शक्ति के बल पर कश्मीर पर हमला कर दिया। अपने-आपको विकट और संकटपूर्ण स्थिति में पाकर राजा हिंदुस्तान के साथ मिल गया। हिंदुस्तान ने विलय स्वीकार कर लिया, किंतु उदारता के आवेश में यह घोषणा की कि कवाइलों के निकाल दिये जाने और कश्मीर में शांति स्थापना के बाद वहां के लोग मतगणना द्वारा विलय के निर्णय का समर्थन कर उसे अंतिम रूप देंगे। कश्मीर के लोकप्रिय राजनैतिक दल का, जिसके नेता शेख अब्दुल्ला थे, समर्थन हिंदुस्तान को प्राप्त था। शेख अब्दुल्ला और उनके दल ने विलय के निर्णय का अनुमोदन किया। इसके तुरंत बाद ही महाराजा के आग्रह पर भारत ने अपनी सेना कश्मीर भेजी। कवाइलों को वहां से निकालने का काम बहुत कठिन था; किंतु हमारे सैनिकों ने उसे बहादुरी और शूरवीरता के साथ किया और इस प्रकार कश्मीर को कवाइलों के हाथ पड़ने से बचा लिया। कवाइली श्रीनगर के नजदीक ही थे और थोड़ी देर में ही इसपर कब्जा करके सारी रियासत को अपने अधिकार में ले सकते थे। उदारता के आवेश का यह दूसरा प्रसंग था कि भारत ने कश्मीर के मामले को संयुक्त राष्ट्र के सुपुर्द कर दिया, जहां १९४७ से यह आजतक लटका हुआ है।

—राजेंद्र प्रसाद

८ | कश्मीर की गुत्थी

१४-७-५६

प्रिय ज्ञान,

कश्मीर की समस्या अभी तक सुलझ नहीं पाई है और ज्यों-की-त्यों बनी है, हालांकि एक बार सभी पार्टियों ने यह मान लिया था कि मतगणना होनी चाहिए। भारत ने कुछ शर्तें रखी थीं, जिनका संबंध सामयिक परिस्थितियों से था। सब लोग, संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् और यहां तक कि हमारे मित्र भी उन परिस्थितियों को भूल गए थे। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कश्मीर भारत के साथ ठीक उसी तरह मिल गया था जैसे भारत या पाकिस्तान के साथ बाकी सब रियासतें मिली थीं। इस कारण से विधि और संविधान दोनों की दृष्टि से कश्मीर भारत का एक अंग है। कबाइलों द्वारा कश्मीर पर चढ़ाई आक्रमणात्मक कार्रवाई थी। मध्यस्थ के रूप में काम करनेवाले आस्ट्रियन न्यायाधीश का यही निर्णय था। हमारी शर्त यह थी कि कश्मीर से सभी आक्रमणकारी लोग हटा दिये जायं। पाकिस्तान ऐसा करने और अपनी सेनाओं को हटाने के लिए तैयार नहीं। पाकिस्तान की बात देखने के लिए सभी पाकिस्तानी सेनाओं के हटाए जाने पर आग्रह नहीं किया, किंतु भारत और पाकिस्तान के अधिकृत भू-भागों में कितने सैनिक रहने दिये जायं, इस बात पर समझौता नहीं हो सका है।

इस बीच में और बहुत-सी महत्वपूर्ण घटनाएं घटी हैं। पाकिस्तान को अमेरिका से बहुत सैनिक सहायता मिली है, जिसका अर्थ यह है कि वह कभी भी उसका इस्तेमाल हिंदुस्तान के खिलाफ कर सकता है। सीआटो और बगदाद-पैक्ट के अधीन पाकिस्तान ने दूसरे कई देशों से सैनिक संधियां कर ली हैं। अब हिंदुस्तान कोई जोखिम नहीं उठा सकता और इन घटनाओं ने स्थिति को बदल डाला है। तो भी हमारे प्रधानमंत्री ने इस समस्या का एक हल सुझाया है, जिसके अनुसार भारत पाकिस्तान-अधिकृत कश्मीर पर

अपना दावा छोड़ने को तैयार है। पाकिस्तान इस सुझाव पर विचार कर
तक को तैयार नहीं। वहां के समाचार-पत्र, नेतागण और कूटनीति
प्रतिनिधि (उदाहरणार्थ सीरिया में लाल-शाह बुखारी) सभी इस बात प
जोर दे रहे हैं कि पाकिस्तान उस दिन की राह देख रहा है जब उनका सैन
बल इतना सुदृढ़ हो जायगा—जब वह तलवार की नोक पर कश्मीर क
निर्णय कर सकेगा। सो ज्ञान, तुम देखती हो कि समस्या उसी तरह बनी
और हालांकि मैं समझता हूं कि हमारा केस बिल्कुल साफ है, हम अपने-आ
को असहाय पाते हैं।

—राजेंद्र प्रसा

४-१-५१

प्रिय ज्ञान,

पाकिस्तान बहुत नाराज है, क्योंकि कश्मीर की विधान सभा ने
कश्मीर के लिए संविधान बना लिया है, जिसके अनुसार भारत का वह
अविभाज्य अंग बन गया है। पाकिस्तान में भारत-विरोधी प्रचार की बाढ़
सी आ गई है, जिसमें वहां के प्रधानमंत्री और विदेश मंत्री भी शामिल हो
गए हैं। यदि समस्या का हल किसी और तरह न हुआ तो वे खुल्लमखुल्ला
सेना के प्रयोग की धमकी दे रहे हैं। इस समय स्थिति यह है कि उन्होंने
सुरक्षा परिषद् को नोटिस भेजा है कि वे कश्मीर के मामले पर फौरन ही
विचार करें। अपने नोट में उन्होंने कहा है कि कबाइली लोग अधीर हो
रहे हैं, जिसका मतलब यह हुआ कि १९४७ की तरह फिर से वे हिंदुस्तान
पर हमला कर सकते हैं। दूसरी तरफ अलामा मशरिकी की यह धमकी है
कि वह दस लाख निरस्त्र स्वयंसेवक हिंदुस्तान में ले जायगा और वह हिंदु-
स्तान की सरकार को तोड़ देगा और इस तरह भारतीय ज्योतिषियों
और कई सदियों पहले एक मुसलमान फकीर की इस भविष्यवाणी को
ठीक सिद्ध कर देगा कि १९५७ भारत के विनाश का साल है।

यह स्पष्ट ही है कि परिस्थितियां बहुत पेचीदा होती जा रही हैं।
इनमें अब एक नया पेच आ मिला है। एक अंतर्राष्ट्रीय समझौते का रसि-

लोना पेक्ट के अनुसार वे देश जिनके बीच से कोई नदी गुजरती हो, आपसी बातचीत और समझौते के बिना एकपक्षीय बात नहीं कर सकते। यह सही है कि उचित समय पर नोटिस द्वारा कोई देश इस समझौते से निकल भी सकता है। चूंकि हम पश्चिम बंगाल में फराका पर गंगा-बांध बनाना चाहते हैं, हमने भी नोटिस दे दिया है। विपक्षियों ने इसे भारत द्वारा पाकिस्तान को नीचा दिखाने का रूप दे दिया है। इस बार हानि उठानेवाला प्रदेश पूर्व पाकिस्तान होगा। इस प्रकार अब पाकिस्तान के दोनों भाग भारत के विरोध में जुट गए हैं। वहां के जनमत और नेताओं के वक्तव्यों से जाहिर होता है कि दाल में कुछ काला है।

यह कहना मुश्किल है कि वे क्या करना चाहते हैं, पर इसमें शक नहीं हो सकता कि वे शरारत पर तुले हुए हैं। ऐसी स्थिति में हम हाथ-पर-हाथ रखे नहीं बैठे रह सकते और न ही अपने-आपको सुरक्षित समझ सकते हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

२७/२८–१–५७

प्रिय ज्ञान,

सुरक्षा परिषद् ने कश्मीर के संबंध में एक प्रस्ताव पास किया है, जिसके परिणाम-स्वरूप वह चर्चा का विषय बन गया है। इस प्रस्ताव के आरम्भ में यह बड़े जोरदार शब्दों में घोषणा की गई है कि कश्मीर की विधान सभा द्वारा की गई किसी भी कार्रवाई से राज्य की व्यवस्था पर कोई असर नहीं पड़ता। इसलिए यह सुझाया गया कि उससे केवल वर्तमान स्थिति दब जाती है और २४ जनवरी को वह बहुत जल्दी में पारित किया गया। इसलिए २६ तारीख को भारत में कश्मीर की विजय के संबंध में की गई कार्रवाई का कोई असर नहीं होना चाहिए। इस अंतरिम प्रस्ताव को पास करके ही सुरक्षा परिषद् चुप नहीं बैठी रहेगी और इस प्रश्न को फिर से उठायगी और हो सकता है कि वह जनमत प्रशासक को अभ्यारोपित करने और संयुक्त राष्ट्रसंघ की फोर्स को वहां तैनात करने

जैसे ठोस कदम उठाए !

कुछ लोगों का यह ख्याल है कि इस प्रस्ताव में सीधी कार्रवाई टाल देना नहीं, वह हिंसक हो या अहिंसक, और जो पाकिस्तान करने की सोच सकता है—इस प्रस्ताव के बाद जिसे पाकिस्तान अपनी विजय मानता है, हो सकता है कि सुरक्षा परिषद् की इस कार्रवाई के बाद पाकिस्तान और आगे कुछ करने की न सोचे ।

और यह भी हो सकता है कि इस प्रस्ताव को पाकिस्तान अपनी पहली विजय मान ले और तब सुरक्षा परिषद् द्वारा कुछ दूसरी ठोस कार्रवाई की जाय ।

खैर, इसका जो भी अर्थ हो पाकिस्तान की कार्रवाइयों पर निगरानी रखनी होगी। वहां की जनता द्वारा बहुत ही आपत्तिजनक भाषण और कार्रवाइयां की जा रही हैं। वे लोग 'लड़के लेंगे हिंदुस्तान' के नारे लगा-कर इस प्रश्न का निपटारा भी तलवार की नोक पर करना चाहते हैं।

हमारे राज दूतावास के सामने वे लोग प्रदर्शन कर रहे हैं, पत्थर फेंक रहे हैं, हमारे झंडे को नीचे करने के प्रयत्न करते हैं और हमारे प्रधान मंत्री के पुतले को जला रहे हैं। पाकिस्तान की पुलिस ने कई जगह पर हस्तक्षेप किया है, लेकिन सब मिलाकर २६ जनवरी को न केवल छोटी-छोटी जगहों में, बल्कि बड़े-बड़े शहरों में जैसे करांची, लाहौर और ढाका में भी आपत्ति-जनक हरकतें देखने में आई हैं, यहांतक कि वहां के मंत्रियों ने भी बड़ी गैर-जिम्मेदारी की बातें कीं, इसलिए हमें बहुत सतर्क रहना है ।

पुतले जलाने की यह आदत अब बड़ी सामान्य हो गई है और कुछ दिन पहले ही हमारे भारतीय विद्यार्थियों द्वारा भी इस तरह की हरकतें की गई थीं। यह एकदम गलत बात है, अलावा इसके कि पाकिस्तान के प्रधान मंत्री के साथ हमारे प्रधान मंत्री को भी बराबर में खड़ा कर दिया जाता है, जो सभी बातों को देखते हुए बिल्कुल बेतुका है। हमारे नौजवानों को यह समझना चाहिए कि इस तरह की बराबरी हमारे लिए गौरवपूर्ण या अच्छी नहीं है। उनकी हरकतों की तरह ही काम करने लगने से हमें कुछ नहीं मिलता, क्योंकि हमारी कार्रवाइयां शांतिपूर्ण और गौरवपूर्ण हैं, जब कि पाकिस्तान की हरकतों के बारे में जितना कहा जाय, उतना अच्छा, जो

बहुत ही निम्न स्तर की हैं। आगे-आगे और क्या होता है यह हमें बड़े धीरज के साथ प्रतीक्षा करनी चाहिए लेकिन उसके साथ ही हमें सतर्क रहना चाहिए।

—राजेंद्र प्रसाद

२९–१–५७

प्रिय जान,

सुरक्षा परिषद में दिये गए अपने भाषण में श्री फीरोज खां नून ने मृदुला साराभाई के कुछ पत्रों का जिक्र किया है। ये पत्र पाकिस्तान प्रेस में छपे है—और मैंने इन्हें पढ़वाकर सुना है। समय-समय पर लिखे गए ये पत्र भारतीय संसद और जम्मू तथा कश्मीर विधान सभा के सदस्यों के नाम हैं। इनमें कश्मीर सरकार के खिलाफ बहुत हानिप्रद बातें कही गई हैं और उसका समर्थन करने के कारण भारत सरकार को भला-बुरा कहा गया है। कश्मीर में उसने आतंक और भय का ऐसा चित्र खींचा है मानो उस मनोरम घाटी की सैर के लिए जानेवाले हजारों सैलानी कश्मीर के प्राकृतिक सौंदर्य में उलझ जाने के कारण ही वहां की उस भद्दी तस्वीर को नहीं देख पाते, जिसकी चर्चा मृदुला ने की है।

सुरक्षा परिषद के सदस्यों पर इन पत्रों का क्या असर पड़ा होगा, मैं नहीं कह सकता, किंतु पाकिस्तान द्वारा उनके उद्धृत किये जाने से मृदुला कुछ घबराई है। उसने प्रतिवाद का पत्र लिखा है, जिसमें फीरोज-खां नून पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने पत्रों के अंश मनमाने ढंग से उद्धृत किये हैं। कुछ भी हो, हमारे सामने प्रश्न यह है कि एक प्रमुख भारतीय नागरिक को ऐसा झूठा प्रचार करने की इजाजत कैसे दी जा सकती है?

यही बात नहीं, मृदुला साराभाई को सरकार ने मकान आदि की और दूसरी सुविधाएं भी दे रखी हैं, क्योंकि वह कुछ सामाजिक काम भी करती है। क्या सामाजिक कार्य की आड़ में भारत-विरोधी प्रचार को सहन किया जा सकता है? अपने संविधान में हमने भाषण और प्रचार की

पूरी स्वतंत्रता दी है और शायद उसे रोकना मुनासिब न हो। वास्तव में उस स्वतंत्रता की परीक्षा ऐसे ही मामलों में होती है, जहां राष्ट्रीय हित को गहरा नुकसान पहुंचता है। जिम्मेदारी स्वतंत्रता के अंतर्हित है और यह वाहर से लादी नहीं जाती, वल्कि अंदर से ही पैदा होनी चाहिए। मैं नहीं कह सकता कि इस अनुभव से मृदुला की आंखें खुलेंगी और वह यह देख सकेगी कि उसके हाथों कैसी शरारत हुई हैं। यह भी नहीं कह सकता कि वह इस शरारत से वाज आयगी। उसकी वातों में अगर सच्चाई का कुछ अंश भी होता तव वात समझ में आ सकती थी। लेकिन उसके पत्रों का मुख्य भाव यह है कि कश्मीर में इतना आतंक है कि स्वयं उसके और जो उसके समर्थक हैं उनके सिवाय और कोई भी सचाई को न देख सकता है और न उसके वारे में कुछ कह सकता है। उसके दावे का खोखलापन इसीसे सावित होता है। वह अपनी वात आप और अपने हिमायतियों के साथ जोर-शोर से कहती रही है और दिल्ली से कुछ पर्चे भी छापती रही है।

जहांतक सुविधाएं देने का सवाल है, उनका स्तर दूसरा है और वह विचारणीय हो सकता है। यद्यपि हमें तुरन्त ही कोई विरोधी कार्रवाई नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह छोटेपन और प्रतिशोध का द्योतक होगा, लेकिन सरकार को इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके द्वारा दी गई सुविधाओं का दुरुपयोग न हो। यह मान लेने पर भी कि किसीकी स्वतंत्रता में दखल नहीं देना चाहिए, ऐसा वुरा काम करनेवाले किसी व्यक्ति को भी विशेष सुविधा नहीं दी जानी चाहिए, भले ही वह कुछ समाज-सेवा का काम क्यों न कर रहा हो।

—राजेंद्र प्रसाद

१९—१०—१९५७

प्रिय ज्ञान,

आज मेरी श्री वलदेव सहाय और श्री अवधेशनन्दन सहाय से, जो कश्मीर से लौटे हैं, वड़ी मजेदार वातचीत हुई। वलदेववावू पिछले नौ-

दस वर्षों से लगातार कश्मीर जाते हैं और इस वजह से वहां के सभी तबकों के लोगों से उनकी बड़ी अच्छी पहचान हो गई है। सबसे पहले वह शेख अब्दुल्ला के बचाव के लिए उनके वकील बनकर गए थे, जब वहां के महाराजा की सरकार ने शेख पर मुकदमा चलाया था। इसके कारण वहां के राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं के निकट संपर्क में वह आ सके और उन्होंने इस संबंध को बराबर बनाए रखा है।

इस समय भी वह सभी वर्गों के लोगों से मिले और उनसे बड़ी खुलकर बातें भी कीं। अभी हाल में वहां की सरकार में जो परिवर्तन हुए हैं, जिनके कारण श्री सादिक और श्री धर को बाहर जाना पड़ा, उनके विचार से यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण और असामयिक है। जबकि सामान्य रूप से लोगों में बख्शी के प्रति उनके साहस, कड़ी मेहनत, जनता के साथ निकट संपर्क और उनकी संगठन-शक्ति के लिए मान है, वे महसूस करते हैं कि श्री सादिक, श्री धर तथा उनके दल के अन्य लोग बुद्धिमान और ईमानदार हैं। इसलिए बख्शी और सादिक इन दोनों दलों का मेल एक माने में आदर्श था, क्योंकि दोनों ही एक दूसरे के पूरक थे और इसलिए इनका अलग हो जाना दुर्भाग्यपूर्ण है। बख्शी के चारों ओर के व्यक्ति, जिनमें अधिकतर उनके भाई-भतीजे ही हैं, विश्वास पैदा नहीं करते और लोगों में उनके प्रति मान की अपेक्षा भय ज्यादा है। लोगों में उनकी ईमानदारी के प्रति भी आशंकाएं हैं। इससे स्थिति और भी बिगड़ गई है।

प्लैबिसिट फ्रंट से भी उनकी बातचीत हुई। उनकी बातें सुनने के बाद बलदेवबाबू ने उनसे पूछा, "मान लो, जनमत-संग्रह हो तो आप किसे वोट देंगे? उन्होंने इसका जवाब नहीं दिया, पर कहा कि उन्हें शेख अब्दुल्ला से पूछना होगा और वह जैसा कहेंगे, समय आने पर वे वैसा ही करेंगे। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्लैबिसिट फ्रंट भारत के पक्ष में अपना वोट नहीं देगा, और क्योंकि जनमत-संग्रह के लिए केवल एक ही सवाल है कि मतदाता कश्मीर का विलय भारत में चाहता है या पाकिस्तान में, मेरी धारणा है कि इसके माने यह हुए कि वह पाकिस्तान में विलय के पक्ष में अपना मत देगा। स्वाधीन कश्मीर का जो तीसरा विकल्प है, उसका प्रश्न जनमत के लिए न है और न उठेगा।

वलदेववावू ने यह भी वताया कि शेख अब्दुल्ला ने अपनी गिरफ्तारी के पहले यह अनुभव किया और कहा भी कि कश्मीर भारत में मिल चुका है। भारत ने जो वायदा किया था वह जनमत-संग्रह का नहीं, वल्कि कश्मीर के लोगों की इच्छा जानने के विषय में किया था। जनमत-संग्रह उनकी इच्छा को सुनिश्चित करने का एक तरीका है। आम चुनाव और चुनी गई विधान परिषद द्वारा मतदान दूसरा तरीका है और इस दूसरे उपाय द्वारा लोगों की इच्छा जान ली गई है। वास्तव में सच वात यह है कि श्री वलदेववावू ने लार्ड माउंटवेटन के पत्र की नकल देखी है। उसमें जनमत-संग्रह का कतई जिक्र नहीं किया गया, केवल लोगों की इच्छा का जिक्र है। इस प्रकार पाकिस्तान के केश में कोई सार नहीं है, लेकिन पाकिस्तानियों-समेत कुछ लोगों को अपनी घरेलू और आंतरिक कठिनाइयों से लोगों का ध्यान हटाने की दृष्टि से इस समस्या को जिंदा रखना अनुकूल पड़ता है।

जम्मू-कश्मीर में वंव फटने के कारण कुछ लोगों पर जो मुकदमा चलाया जा रहा है उससे खुश नहीं हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

१९–१२–५७

प्रिय ज्ञान,

सुरक्षा परिषद में कश्मीर पर वहस जारी है। अमेरिका, ब्रिटेन और कुछ अन्य देशों ने प्रस्ताव रखा है कि डा० ग्राहम हिंदुस्तान आयें और संयुक्त राष्ट्र के १९४८ के निर्णय को कार्यरूप में परिणत करें जिसमें जनमत और आत्मनिर्णय की वात कही गई थी। हमारे प्रतितिनिधि श्री कृष्ण मेनन ने यह साफ तौर से घोषित कर दिया है कि वह निर्णय भारत को मान्य नहीं। देखें, अंत में क्या होता है। हो सकता है कि वहस का दूसरा दौर सुरक्षा परिषद के वजाए आम परिषद के सामने आये। जो भी हो, एक-दो दिन में पता लग जायगा। किंतु आज के 'ईवनिंग न्यूज' में एक असाधारण वात कही गई है। श्री कृष्ण मेनन वोलते समय आपे से वाहर हो गए और ग्रेट-ब्रिटेन पर यह दोषारोपण कर गए कि उसने भारतीय साम्राज्य को जाल-

साजी से हथियाया था। बाद में उन्होंने ब्रिटिश प्रतिनिधि के कहने पर अपने आपत्तिजनक शब्द वापस ले लिये। यह सबकुछ जानकर कुछ दुःख होता है। एक और विचित्र बात यह है कि जो कागजात मुझे मिले हैं, उनमें ब्रिटिश और अमरीकी अखबारों की कुछ कतरनें भी हैं। एक लेखक ने (जिनका नाम जे० के० पाम है) दावा किया है कि उन्होंने मुझे १९४६ में पत्र लिखा है और मुझसे जवाब भी पाया है और यह भी कहा है कि १९५५ में यह सज्जन अपनी स्विस पत्नी-समेत मुझसे मिले भी थे। कृष्ण मेनन के खिलाफ उन्होंने दिल भरकर जहर उगला है और जीप (स्कैंडल) संबंधी अकाउंट्स कमिटी की रिपोर्ट से उद्धरण दिये हैं। उस समय कृष्ण मेनन लंदन में हमारे उच्चायुक्त थे। लेखक ने, मालूम होता है, प्रधान-मंत्री को भी लिखा है और कतरनें भेजकर उनका ध्यान इस बात की ओर दिलाया है।

सच्चाई कुछ भी हो, इसमें शक नहीं कि कृष्ण मेनन उन लोगों में, जो मुझे मिलने यहां आते हैं, बहुत ही बदनाम हैं। इसमें भी शक नहीं कि उनके कारण अमेरिका और ब्रिटेन में हमारे हितों की रक्षा नहीं हो पा रही। सुरक्षा परिषद में आज जो उन्होंने लम्बा भाषण दिया है, उसके दौरान अमेरिका, ब्रिटेन और सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष हाशम जवाद पर बहुत छींटे कसे। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि मीठे शब्दों से हम जरूर ही किसीको अपना मित्र बना पाते हैं। मेरा अभिप्राय यह है कि कटु शब्दों द्वारा हम स्थिति को और भी अधिक बिगाड़ते हैं, जिससे किसीको कोई लाभ नहीं होता। सौजन्य और सौजन्यपूर्ण व्यवहार में किसीका कुछ खर्च नहीं होता। प्रायः यह लाभदायक सिद्ध होता है, कम-से-कम हानि की कोई आशंका नहीं।

—राजेंद्र प्रसाद

२२-१२-५७

प्रिय ज्ञान,

कश्मीर के प्रश्न को लेकर बहुत-से भ्रम पैदा हो गए हैं। यह बहुत उपयोगी होगा, यदि हम कुछ ऐसे सूत्रों की चर्चा कर सकें, जिनके विषय में

पूरी सूचना का अभाव होने के कारण हिंदुस्तान के रुख के बारे में गलत-फहमी फैली है। हम इसकी चर्चा कानूनी अथवा नैतिक दृष्टिकोण से कर सकते हैं। जरूरी नहीं कि ये दोनों दृष्टिकोण हमेशा एकसमान हों। मैं इन दोनों की ही चर्चा करूंगा।

ब्रिटिश काल में प्रशासनिक और राजनैतिक आधार पर भारत दो भागों में बंटा था—ब्रिटिश प्रांत जो सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के अधीन वाइस-राय और गवर्नर जनरल द्वारा शासित होते थे और जिनके शासन के लिए ये अधिकारी ब्रिटिश पार्लमिंट के प्रति उत्तरदायी होते थे। दूसरे भाग के अंतर्गत छोटी-बड़ी रियासतें आती थीं। ब्रिटिश सम्राट की सर्वोपरि सत्ता के अधीन इन रजवाड़ों को थोड़े या अधिक, भिन्न-भिन्न परिमाण में, कुछ अधिकार दिये गए थे। ब्रिटिश सत्ता के साथ इन लोगों के संबंधों का अधिकार संधियां, सनदें और दस्तावेज थे। जब अंग्रेजों ने ब्रिटिश भारत को स्वाधीन करने का निश्चय किया, उन्होंने यह घोषणा की कि सब रिया-सतें ब्रिटिश सम्राट के प्रति दायित्व से अब मुक्त हैं, क्योंकि सम्राट ने अब अपनी सर्वोपरि सत्ता वापस ले ली और इस प्रकार रियासतों के सामने अब तीन रास्ते खुले रह गए :

वे भारत या पाकिस्तान से मिल सकते थे और दोनों में से किसीके भी साथ न मिलकर यदि चाहें तो अपने-आपको स्वतंत्र घोषित कर सकते हैं।

भारत १५ अगस्त १९४७ को स्वतंत्र हुआ और उससे पहले ही अधि-कांश रियासतें उसके साथ मिल गई थीं, कुछेक पाकिस्तान के साथ मिलीं और विलीन हुई रियासतें इन देशों का भाग बन गई। कश्मीर अभी तक किसी भी देश के साथ नहीं मिला था, यद्यपि भारत ने महाराजा से कह दिया था कि वह जो चाहे सो करे। पाकिस्तान कश्मीर को अपने साथ मिलाने के लिए बहुत उत्सुक था। पहले तो उसने महाराजा की दिल भरकर चापलूसी और खुशामद की और फिर जब देखा कि वह अभी भी विलय के लिए तैयार नहीं हुआ, तब कबाइलियों को कश्मीर पर हमला करने को भेज दिया। इन आक्रांताओं से मुकाबला करने के लिए अपने-आपको असमर्थ पाकर महाराजा ने भारत की सहायता मांगी, किंतु जबतक कश्मीर भारत

का भाग नहीं बन जाता, यह सहायता नहीं दी जा सकती थी। तब महाराजा ने भारत से विलय-संबंधी कागजात पर हस्ताक्षर कर दिये और उन सभी लोकप्रिय नेताओं ने, जो लोकप्रिय सरकार के लिए संघर्ष कर रहे थे, इस कार्य में महाराजा का समर्थन किया। इसके बाद भारत ने अपनी सेना भेजी, जिसने कबाइलों को कश्मीर की घाटी से खदेड़ दिया। इस अवसर पर भारत ने घोषणा की कि कबाइलों को पूरी तरह निकाल दिये जाने के बाद वह जनसाधारण की राय जानना चाहेगा। इसके फौरन बाद ही भारत युद्धबंदी के लिए तैयार हो गया और कश्मीर का जो हिस्सा पाकिस्तान के कब्जे में था वह उसीके पास रह गया।

कानूनी दृष्टि से देखा जाय तो कश्मीर का महाराजा ब्रिटिश घोषणा और इंडिपेंडेंस ऑफ इंडिया ऐक्ट के अनुसार भारत या पाकिस्तान किसी एक के साथ मिलने को स्वतंत्र था। कई बार श्री जिन्ना खुद यह कह चुके थे कि किसी भी रियासत का नरेश यदि अपने लोगों से बातचीत के बिना अपनी इच्छा से विलय-संबंधी कागजात पर हस्ताक्षर कर दे तो उसकी रियासत का विलय वैध और पूर्ण माना जायगा। यह उन्होंने उस समय कहा था जब उन्हें आशा थी कि कुछ रियासतों के मुसलान नरेश पाकिस्तान से मिल जायंगे, यद्यपि उनकी जनता इसका विरोध करेगी। उनकी यह धारणा गलत निकली। हिंदुस्तान के एक कोने में एक-दो रियासतें ही इसका अपवाद थीं, जहां के मुस्लिम नरेशों ने पाकिस्तान के साथ विलय किया। लेकिन बड़ी रियासतों के सभी नरेशों ने यथेष्ट रूप से विलय किया, जिसपर कभी विवाद नहीं उठा। इसलिए कानून की दृष्टि से ठीक उसी तरह और ठीक उसी हद तक जैसे मैसूर, ग्वालियर, जयपुर, अथवा इंदौर और ऐसी कोई भी और बड़ी रियासत हिंदुस्तान में मिली, कश्मीर भी हिंदुस्तान का एक भाग बन गया।

कश्मीर के केस में एक और तथ्य भी था, वह यह कि वहां के लोकप्रिय दल के नेता ने भी इस विलय का समर्थन किया। भारत सरकार ने पाकिस्तान के साथ जनमत के लिए कोई वचन नहीं दिया था। जो भी वचन दिया गया था वह केवल कश्मीर के लोगों के लिए था जो उस समय पाकिस्तानी हमले और आक्रमण का शिकार थे और जो तबसे कई बार अपनी

संविधान परिपद और विधान सभा के आम चुनावों द्वारा भारत के प्रति अपनी तरजीह जाहिर कर चुके हैं। इसलिए आक्रांता और हमलावर होने के नाते पाकिस्तान के पक्ष में कोई भी कानूनी आधार नहीं बनता।

—राजेंद्र प्रसाद

२३–१२–५७

प्रिय ज्ञान,

कुछ दिनों पहले तुमने कश्मीर का प्रश्न उठाया था और कुछ उन विचारों को सामने रखा था जो बहुत-से लोगों के मन में घर किये हुए हैं, जो इस समस्या के बारे में अधिक नहीं जानते और जो हिंदुस्तान के खिलाफ हैं। इसलिए मैंने उनपर विस्तार से प्रकाश डालना आवश्यक समझा। कल मैंने इस विपय में थोड़ा लिखा था जिसे आज पूरा करना चाहता हूं।

मेरा खयाल है कि मैंने कल यह स्पप्ट कर दिया था कि जहांतक कानून का प्रश्न है, कश्मीर भारत का उसी तरह एक भाग है जैसे जयपुर, ग्वालियर, मैसूर या इंदौर। इसका नैतिक पहलू भी उसी तरह साफ है। हमने पाकिस्तान के साथ कभी कोई वायदा नहीं किया। वहां (कश्मीर) बने रहने का उसका कोई अधिकार नहीं और न ही कोई कानूनी या दूसरी तरह का दावा। कानून की नजरों में वह एक आक्रमणकारी देश है, एक हमलावर जिसने एक ऐसे क्षेत्र को बलपूर्वक ले लिया है, जो हिंदुस्तान का है। एक बार के लिए यदि हम यह मान लें कि कश्मीर भारत का एक भाग नहीं, तो वह पाकिस्तान का भी नहीं और न ही उसने कभी यह दावा किया कि कश्मीर पाकिस्तान का एक भाग है। इसलिए इस मामले में उनको बोलने का कोई अधिकार नहीं। उसका दावा, यदि उसके कोई माने हों भी तो, केवल यहींतक हो सकता है कि यदि जनमत के द्वारा लोगों की सलाह ली जाय तो हो सकता है वे भारत में मिलने के पक्ष में अपना मत न दें, या हो सकता है वे स्वतंत्रता के पक्ष में मत दें। दूसरे शब्दों में उसका दावा है कि उसका दावा जनमत के द्वारा अनुमोदित या प्रभावित होना चाहिए।

बात ऐसी है कि अब कश्मीर की एक संविधान सभा है, जो बाकायदा

चुनकर बनी है और जिसने कश्मीर के लिए संविधान बनाया है। इस संविधान में कश्मीर को भारत का एक भाग घोषित किया गया है। चुनाव में भी कश्मीर के भारत में मिलने के प्रश्न को उठाया गया था जिसपर लोगों की राय ली गई थी। चुनाव के परिणामों ने स्पष्ट बता दिया कि देश और जनता बहुमत से भारत में मिलने के पक्ष में है। इन हालातों में यह समझना मुश्किल है कि पाकिस्तान का क्या अधिकार है। क्योंकि कश्मीर की आबादी मुस्लिम और गैर-मुस्लिम, इस तरह दो भागों में बंटी है और क्योंकि मुसलमानों की संख्या अधिक है, पाकिस्तान दावा करता है कि मुसलमान पाकिस्तान के पक्ष में मत देंगे। यह एक ऐसा अनुमान है, जिसका कोई आधार नहीं।

मोटे तौर पर ४० लाख में से १२ लाख गैर-मुस्लिम हैं और बाकी के मुसलमान। यदि यह मान लिया जाय कि सब मुसलमान पाकिस्तान के पक्ष में मत देंगे तो ठीक इसी तरह यह भी मान लेना होगा कि सब गैर-मुस्लिम भारत के पक्ष में मत देंगे। इस तरह से यदि २८ लाख मुसलमानों में से ८ लाख भारत के पक्ष में मत देते हैं तो फिर मुसलमानों का बहुमत नहीं रह जाता है। आखिरकार, क्या भारत का दावा इतना अनुचित और असंभव है और पाकिस्तान का इतना उपयुक्त और संभव कि पहले (भारत) को एकदम बिना समझे-बूझे छोड़ देना चाहिए और दूसरे (पाकिस्तान) को बिना किसी जांच के आंख मूंदकर मान लेना चाहिए? और जबतक इस अनुमान को नहीं मान लिया जाता, जनमत के लिए कोई मामला नहीं बनता। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आखिरकार मुस्लिम आबादी की बहुसंख्या और सभी गैर-मुस्लिम, जो कश्मीर में रहते हैं वे भारत के हैं और केवल कुछ अल्पसंख्यक मुस्लिम ही आजाद कश्मीर में हैं। हम आजाद कश्मीर में पाकिस्तानी पुलिस और सेना के द्वारा उत्पीड़न और आंदोलन, गोलाबारी और बमबारी की वारदातों के बारे में बातें सुनते हैं। ऐसी किसी तरह की किसी घटना की और इतने बड़े पैमाने पर भारतीय कश्मीर में कोई बात सुनाई नहीं देती, इसलिए मुझे इसमें कोई शक नहीं कि भारत का दावा न्यायोचित है, उसका सही मजबूत आधार है और यदि भारत ने पाकिस्तान की मांग को स्वीकार कर लिया तो यह भारत द्वारा

कश्मीर के लोगों के प्रति बेवफाई होगी।

—राजेंद्र प्रसाद

८—१—५८

प्रिय ज्ञान,

आकाशवाणी ने अभी घोषणा की है कि नजरबंद शेख अब्दुल्ला को आज शाम को पांच बजे रिहा कर दिया गया। याद रहे कि ९ अगस्त १९५३ को उन्हें नजरबंद किया गया था और इस तरह पूरे चार वर्ष ५ महीने के बाद उन्हें मुक्त किया गया। राज्य की सुरक्षा के हित में प्रशासनिक आदेश द्वारा किसी कोर्ट में मुकदमा चलाए बिना उन्हें नजरबंद किया गया था। ब्रिटिश राज के जमाने में हम लोग कोर्ट में ट्रायल के बिना हिरासत में लिये जाने का सख्त विरोध किया करते थे। किंतु स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद हमने देश-भर में हजारों लोगों को बिना ट्रायल के थोड़े या लम्बे समय के लिए नजरबंद किया है। हमने न केवल उन कानूनों को बनाए रखा है, और उन्हें फिर से जारी किया और लागू किया है, जिनकी हम स्वयं ब्रिटिश काल में कड़ी आलोचना किया करते थे। ऐसे अनेक उदाहरण हमारे सामने आये हैं, जब पुलिस ने मीटिंग बरखास्त करवा दी, जुलूस रोक दिये और एक नहीं, कई जगह अश्रुगसों के गोले छोड़े और गोली भी चलाई, जिसके कारण इन दस वर्षों में सैकड़ों लोगों की जानें गई।

केन्द्र और राज्यों में कांग्रेस की सरकारें हैं। वहां राष्ट्रपति, गवर्नर और मंत्री भी हैं, जिनकी सुरक्षा के लिए पुलिस की व्यवस्था है। यह सब बड़ा विचित्र लगता है, जब हम यह सोचते और याद करते हैं कि हम जनता के प्रतिनिधि माने जाते हैं और जनता जबतक चाहे तभी तक हम इन पदों पर बने रह सकते हैं। इसके लिए केवल दो ही तरह से सफाई दी जा सकती है। या तो सरकारें वास्तव में लोकप्रिय नहीं हैं। यह कहना गलत न होगा कि जनता की इच्छा के खिलाफ शासन कर रही हैं और या जनता में इस तरह का भी तबका है जिसके खिलाफ कार्रवाई जरूरी है और जिसे केवल जनता की राय से नियंत्रित नहीं किया जा सकता और उनके खिलाफ पुलिस कार्रवाई जरूरी हो जाती है। सच पूछें तो इनमें से कोई भी बात

हमारे जनतंत्र के लिए अच्छी नहीं है। हमारी सरकार या मंत्री इतने लोकप्रिय क्यों नहीं कि उन्हें पुलिस की सुरक्षा की जरूरत रहे।

लोगों में मतभेद तो हर देश में ही रहते हैं। लेकिन क्या यह जरूरी है कि ये मतभेद इतना तूल पकड़ें, जिससे पुलिस को दखल देना पड़े? इस चरम-सीमा पर पहुंचने से पहले ही क्या उनको हल नहीं किया जा सकता? क्या हमारा संविधान इतना कड़ा है कि उन लोगों को ही, जो संविधान को कार्यान्वित करने में लगे हैं, सेना और पुलिस की सुरक्षा की आवश्यकता हो? यह बात तो समझ में आती है कि किसी आंदोलन विशेष या उत्तेजना की घड़ी में इस तरह के सुरक्षा उपाय जरूरी हों, लेकिन वे हमारे जीवन और प्रशासन के सामान्य अंग क्यों बनें? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका जवाब पाना है। हमें अपने हृदय के भीतर झांकना चाहिए और हो सके तो इनके जवाब को ढूंढ़ने की कोशिश करनी चाहिए, या फिर इनको खत्म कर देना चाहिए।

—राजेंद्र प्रसाद

२२-१-५८

प्रिय ज्ञान,

अपनी रिहाई के बाद शेख अब्दुल्ला जो बयान दे रहे हैं उनसे कश्मीर सरकार और भारत तथा कश्मीर-विलय के प्रश्न के प्रति उनका क्या रुख है, इसका आभास मिलता है। सभी मुद्दों पर, जैसीकि आशंका थी, उनका दृष्टिकोण न केवल आलोचनात्मक है, पर तीखा है और भाषा बहुत गाली-गलौजपूर्ण है।

बंबई में मुख्य न्यायाधीश चागला मूंदड़ा कंपनियों से संबंधित लाइफ इंश्योरेंस कारपोरेशन फंड के औचित्य की जांच कर रहे हैं। पार्लामेंट में इस संबंध में बहुत गंभीर आरोप लगाये गए थे, जिनके कारण यह जांच की जा रही है। जो तथ्य सामने आये हैं वे आरोपों से अलग नहीं हैं और मालूम होता है कि कारपोरेशन की ओर से यही बताया जा रहा है कि जो हुआ है वह अच्छी नीयत से ही किया गया है। लेकिन अभी देखें क्या होता है, क्योंकि गवाही चल रही है।

देश में इन बड़े प्रश्नों के अलावा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति भी चिंताजनक

है, क्योंकि अमेरिका ने नाटो और बगदाद-करार के देशों को न्यूक्लियर शस्त्र देने का प्रस्ताव रखा और एशिया ने इस बारे में कड़ी चेतावनी दी है कि इन शस्त्रों को स्वीकार करके ये देश भारी जोखिम उठा रहे हैं।

जबकि देश के अन्दर और बाहर ये घटनाएं घट रही हैं, हमारी खाद्य समस्या अधिकाधिक चिंताजनक बनती जा रही है। मैंने उड़ीसा और उत्तर प्रदेश के सूखाग्रस्त क्षेत्रों का दौरा किया और अब कुछ ही दिनों में मध्य प्रदेश और बिहार भी जाऊंगा।

मैं अपने दिन-प्रति-दिन के काम के साथ इस स्थिति का भी अध्ययन कर रहा हूं। हालांकि मेरा स्वास्थ्य ठीक है, लेकिन इस तरह की बातों और घटनाओं का मेरे मन पर असर पड़े बिना नहीं रहता। आज रात भी कुछ ऐसी ही दशा मन की है और इसलिए इन इधर-उधर की बातों की चर्चा करके मैं यहां रुकता हूं।

—राजेंद्र प्रसाद

९ कश्मीर के संबंध में चर्चाएं

सन् १९५५ में राजेंद्रबाबू कश्मीर गये थे, वहां उन्होंने न केवल विभिन्न स्थानों की यात्रा की, अपितु वहां के अधिकारियों ने उन्हें वास्तविक स्थिति से परिचित भी कराया। उसकी अंतरंग झांकी उन्होंने अपने कुछ पत्रों में दी है। आज कश्मीर की स्थिति बदल गई है, परंतु ये पत्र आज भी अपना महत्त्व रखते हैं, क्योंकि इनसे उस समय के इतिहास पर बड़े ही प्रामाणिक रूप में प्रकाश पड़ता है।

२७-९-१९५५

प्रिय ज्ञान,

आज सवेरे ८ बजे हम लोग पठानकोट पहुंचे। स्टेशन पर मुख्यमंत्री श्री सच्चर, युवराज कर्णसिंह और कश्मीर के मंत्री श्री गिरधारीलाल डोगरा स्वागत के लिए, आये हुए हैं। हम लोग वहां से सीधे माधोपुर के लिए, जो यहां से ११-१२ मील है, रवाना हुए।

दोपहर को माधोपुर से जम्मू के लिए, जो यहां से ६० मील की दूरी पर है, रवाना हो गए। सदरे रियासत युवराज कर्णसिंह और श्री डोगरा मेरे साथ थे और मोटर चला रहे थे जनरल यदुनाथसिंह। कश्मीर की लड़ाई में जनरल यदुनाथसिंह जी इलाके में ब्रिगेड का संचालन कर रहे थे और उन्होंने बड़ी बहादुरी से लड़कर रजौरी को, जिसे पाकिस्तान ने दखल कर लिया था, फिर वापस ले लिया था और वह आज तक हमारे कब्जे में है। वह रजौरी की लड़ाई का हाल कह रहे थे कि जब पाकिस्तानी फौज लड़ाई में हार गई और उसे रजौरी छोड़कर पीछे हटना पड़ा तो उसने रजौरी के रहनेवाले प्रायः सभी हिंदुओं को कत्ल कर दिया। जब ये लोग रजौरी में पहुंचे तब सिर्फ ७०-८० आदमी जिंदा मिले जो बिल्कुल नंग-

धड़ंग थे और जिन्हें उसी रात को कत्ल कर देने का हुकुम था। भारतीय फौज जब उनके कुछ नजदीक पहुंच गई तो संध्या हो गई और यद्यपि पाकिस्तानी फौज वहां से हट गई थी, उसकी एक टुकड़ी इस कत्ल के काम को पूरा करने के लिए रह गई थी। उन्होंने शायद समझ रखा था कि भारतीय फौज वहां रात को नहीं पहुंचेगी, दूसरे दिन सुबह पहुंचेगी, इसलिए कत्ल का समय रात को रखा था। पर जब भारतीय पहुंच गये तो उन लोगों को छोड़ वे लोग भाग गये। दूसरे दिन इन्होंने अपनी आंखों से उस स्थान को देखा जहां लोग कत्ल किये गए थे। करीब ८-१० फुट लम्बी-चौड़ी जमीन पर इतना खून बहा था कि वहां की मिट्टी खून से तरबतर होकर खून सूख जाने से कड़ी हो गई थी और उसमें दरारें पड़ गई थीं। वहांपर पाकिस्तानियों की चीजों की तलाशी ली गई तो उसमें एक डायरी मिली जो उसी गांव में रहनेवाले एक पटवारी की थी। उसने दिन प्रतिदिन का हाल कुछ दिन तक लिखा था। वह पहले पटवारी था और बड़ा कट्टर मुस्लिम लीगी हो गया था और उसने वहां के तमाम आंदोलनों में जोर-शोर से भाग लिया था। पहले आक्रमणकारियों के आक्रमण से वह खुश था, क्योंकि वह समझता था कि अब इस इलाके में भी पाकिस्तान कायम हो जायगा। पर जब उसने यह देखा कि आक्रमणकारी अत्याचार करते हैं और मुसलमानों तक को भी नहीं छोड़ते, उनकी बहू-बेटियों को ले जाते थे और उनके घरबार भी लूट लेते थे, जला देते थे, तबसे उसके विचार बदलने लगे। जब रजौरी में कत्ल का काम शुरू हुआ तब वह बहुत घबराया, क्योंकि यहां का वह पटवारी था, सब लोगों को जानता था। वे लोग एक आदमी को पकड़ करके कत्ल करने लगे। उसके दो बच्चे थे। उनमें से एक पटवारी के पास दौड़कर आया और बोला, चाचा, बचाओ—यह क्या होता है? तब वह अपनेको नहीं रोक सका और कहीं भागकर जा छिपा। मालूम नहीं कि वह कहां गया और उसका क्या हुआ। उसकी डायरी वहीं तक खत्म हुई। इस डायरी को भारत के प्रतिनिधि के पास राष्ट्र-संघ में पेश करने के लिये भेज दिया गया था। मालूम नहीं, वह डायरी अब कहां है और उसका क्या उपयोग हुआ।

—राजेंद्र प्रसाद

३-१०-५५

प्रिय ज्ञान,

दोपहर को युवराज कर्णसिंह मिलने आये। बख्शीसाहब के साथ घूमने गया। शालीमार तक जाकर वापस आये, पर उतरे नहीं। काश्मीर की स्थिति के संबंध में बख्शीसाहब से बहुत बातें होती रहीं। कहते थे कि पिछले दो वर्षों में यहां के लोगों की जो सेवा की गई है वह मुझे कुछ अंश में दिखलाएंगे। इसमें कोई संदेह नहीं है कि लोगों की आर्थिक दशा कुछ सुधरी है, पर जबसे अफजल बेग छूटे हैं, उन्होंने जनमत लेने के संबंध में आंदोलन शुरू किया है और जो विरोधी लोग हैं वे तरह-तरह के झूठे प्रचार किया करते हैं। उदाहरणार्थ—जब मेरे यहां आने की बात जाहिर हुई तो यहां यह प्रचार किया गया कि राष्ट्रपति नहीं आनेवाले हैं, महाराजा हरीसिंह आनेवाले हैं और उनके लिए ही ये सब तैयारियां हो रही हैं, क्योंकि महाराजा लोकप्रिय नहीं थे। कुछ दिन पहले खबर छपी थी कि पाकिस्तान से कुछ लोग काश्मीर में सत्याग्रह करने आयेंगे, आजाद काश्मीर के लोग पाकिस्तान से बहुत नाखुश हैं और सत्याग्रह न होने का एक बड़ा कारण यह है कि आजाद कश्मीर के लोगों ने धमकी दी कि अगर पाकिस्तान से सत्याग्रही आना चाहेंगे तो उनको वे आजाद काश्मीर में ही रोक लेंगे और भारतीय काश्मीर तक पहुंचने ही नहीं देंगे। और भी सुना है कि २०-२५ सत्याग्रही कहीं से पैदल रवाना हुए हैं और काश्मीर पहुंचते-पहुंचते दो महीने लग जायेंगे। जनमत की मांग सचमुच जनमत के लिए नहीं है, वह तो केवल एक कहानी मात्र है। पाकिस्तान तो यह चाहता है कि जनमत के बहाने भारतीय फौज यहां से हटे और वह एक साथ धावा बोलकर पहुंच जाय और यहां बैठ जाय। आजाद कश्मीर के लोगों की रंजिश और बगावत का कारण उन लोगों की मुसीबत है। उन लोगों को हर तरह का कष्ट-ही-कष्ट है। इसी वजह से वे (आजाद काश्मीर के लोग) नाराज हैं। जहांतक यहां के लोगों का संबंध है, उन्होंने भारत के साथ रहने का फैसला कर ही लिया है। उसीपर वे कायम हैं। पर इसमें इधर-उधर की बातों से जब कभी कुछ फर्क पड़ता है तो लोग घबराते हैं।

मैंने प्रजापरिषद के अध्यक्ष के साथ हुई बातों का जिक्र किया। उन

पर उन्होंने कहा कि उनकी यह शिकायत बिल्कुल गलत है कि जम्मू पर खर्च नहीं किया जाता है। बात यह है कि गवर्नमेंट की आमदनी ज्यादा काश्मीर से है, जम्मू से बहुत कम है। पर खर्च दोनों का बराबर है। यह शिकायत भी गलत है कि जम्मू के लोगों को गवर्नमेंट में नौकरियां नहीं मिलतीं। यहां विभिन्न विभागों के सर्वोच्च कर्मचारी बहुत करके जम्मू के ही लोग हैं। इसके अलावा पुलिस, राष्ट्रीय सेना (नेशनल मिलीशिया) में जम्मूवालों की संख्या बहुत ज्यादा है। प्रजापरिषद के आंदोलन से बहुत नुकसान होता है, क्योंकि मुसलमानों को संदेह होने लगता है कि आगे चलकर अगर परिषद की ही बात चली तो वह बहुत मुश्किल में पड़ जायंगे।

कहते थे कि शेख अब्दुल्ला के विचार शुरू से ही कुछ दूसरे थे, पर यहां की दिक्कतों के कारण बहुत जोरों से उन विचारों पर चलते नहीं थे। पर जब कहीं मौका होता था तो स्वतंत्र काश्मीर की बातें भारतीय मुसलमानों और विदेशी लोगों से किया करते थे। राष्ट्रसंघ में गये तो बहुत प्रचार किया और गोपालस्वामी आयंगार को तो भारत सरकार को रिपोर्ट करनी पड़ी थी। अंग्रेजी और अमरीकी पत्रकारों से भी बराबर चर्चा किया करते थे। जब बख्शीसाहब को ये बातें मालूम हुई तो उन्होंने इसका यथासाध्य प्रतिकार किया और उनको यहांतक करना पड़ा कि शेखसाहब की व्यक्तिगत राय चाहे जो हो, संस्था की राय काश्मीर का हित देखते हुए भारत के साथ रहने की ही है। कमिटी में एक बार शेख साहब ने गुस्से में आकर यहांतक कह दिया कि जवाहरलालजी और श्यामाप्रसाद मुखर्जी में कोई अंतर नहीं है, दोनों एक ही बात चाहते हैं और श्यामाप्रसाद बल्कि इस माने में बेहतर हैं कि वह सब बातें साफ़-साफ कहते हैं, जो जवाहरलालजी नहीं करते। इस किस्म की कशमकश उनके और शेखसाहब के बीच में बहुत दिनों तक चलती रही।

—राजेंद्र प्रसाद

७-१०-५५

प्रिय ज्ञान,

दोपहर के समय युवराज कर्णसिंह मिलने आये और वहां की स्थिति के संबंध में लगभग एक घंटे से अधिक देर तक बातें हुईं। मुख्यतः बातों का सारांश यह है :

आर्थिक स्थिति सुधरी है, इससे लोग खुश हैं, तो भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनपर ध्यान रखना आवश्यक है। अफजल बेग छूटने के बाद से मत-गणना मोर्चा के नाम पर संगठन कर रहे हैं, सभाएं भी करते हैं और एक केंद्रीय संस्था बनाकर उसकी शाखाएं भी सभी जगहों पर खोल रहे हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उस संस्था में कितनी शक्ति आई है, एक बात निश्चित है कि अगर किसी प्रकार की ढिलाई हुई तो गड़बड़ मचाने में इस संगठन का वह पूरा उपयोग करेंगे।

पाकिस्तान में कश्मीर के विरुद्ध सत्याग्रह करने की बातें चल रही थीं। उसके लिए तैयार रहना चाहिए। उसका मुकाबला केवल सत्याग्रहियों के धर-पकड़ने से ही पूरी तरह से नहीं हो सकेगा। वहां की गैर-सरकारी संस्थाएं सत्याग्रह का आयोजन कर रही हैं। इसी तरह यहां की गैर-सरकारी संस्थाओं को भी आजाद कश्मीर के लिए इधर से भी सत्याग्रह का आयोजन करना चाहिए।

वहां की संविधान सभा को अपना काम जल्द-से-जल्द पूरा कर देना चाहिए और संविधान को तैयार कर देना चाहिए और उस संविधान के अनुसार जल्द-से-जल्द चुनाव कर देना चाहिए। इससे स्थिति के स्थायित्व में सहायता मिलेगी और मंत्रिमंडल को भी नये चुनाव के कारण पूरा बल मिलेगा।

वहां के कर्मचारियों का, जैसे भारत के दूसरे राज्यों में किया गया, पुनर्गठन हो जाय तो बहुत अच्छा होगा। इसमें वहां के लोगों को भय है कि बाहर के लोग आ-जा सकते हैं अथवा वहां के ही किसी विशेष वर्ग को, जो अधिक शिक्षित और अनुभवी है, प्रधानता मिल सकती है। इसके लिए सोचकर कोई ऐसा उपाय कर देना चाहिए कि कोई डर न रह जाय।

आडिटर जनरल का अधिकार इस राज्य पर भी हो जाना चाहिए।

चुनाव आयोग का अधिकार इस राज्य पर नहीं है। उसको अधिकार दिया जाय या न दिया जाय, पर ऐसा नियम अवश्य होना चाहिए कि चुनाव में कोई ऐसा दल भाग नहीं ले सकेगा, जिसका उद्देश्य भारत से संबंध तोड़ने का हो। इसके लिए यदि आवश्यक हो तो भारतीय संविधान में भी संशोधन किया जाना चाहिए।

श्री मोहम्मद सादिक और श्री गिरधारीलाल डोगरा मिलने आये। सादिकसाहब का कहना था कि इस राज्य में एक दल हमेशा ऐसा रहा है, जो पाकिस्तान के साथ कश्मीर का एकीकरण चाहता है। उस दल के बहुतेरे लोग आजाद काश्मीर में हैं अथवा चले गये हैं तो भी उसके आदमी यहां भी हैं। मतगणना मोर्चा का संगठन वे ही लोग कर रहे हैं। शुरू में शेख अब्दुल्ला पाकिस्तान के बड़े विरोधी थे और पाकिस्तान भी उनको अपना दुश्मन नं० १ मानता था। उनके मंत्रित्व काल में लोगों की आशाएं पूरी नहीं हुई और खाने-कपड़े का कष्ट भी लोगों को बहुत रहा, इसलिए लोगों में उस समय की सरकार बहुत अप्रिय हो गई थी, यहां-तक कि शेख अब्दुल्ला की सभाओं में भी १००-२०० से अधिक आदमी जमा नहीं होते थे, जहां शुरू में हजारों की तादाद में लोग इकट्ठे हुआ करते थे। अपने नेतृत्व को सुरक्षित रखने के लिए लोगों की तकलीफों को दूर करना मुनासिब होता, पर उन्होंने ऐसा न करके उनके ध्यान को दूसरी तरफ ले जाना चाहा। इस राज्य में बहुत दिनों से जनता से जबरन धान लेने की प्रथा चली आती थी। खाद्य पदार्थों पर नियंत्रण भी था, इससे शहर और गांव के रहनेवाले दोनों ही परेशान थे, पर उसको उन्होंने नहीं हटाया और जब इन लोगों को उनके विचारों का पूरा पता लग गया तब उन्होंने उनसे अलग होना ही कश्मीर के हक में अच्छा समझा।

यहां का प्रश्न आर्थिक प्रश्न है और यदि उसका कोई संतोषप्रद हल हो जाय तो हमेशा के लिए शांति हो जाय। इसीलिए यहां लोगों को अन्न-कपड़े का जो कष्ट था, उसे दूर करने का प्रयत्न किया गया और उसमें काफी सफलता मिली है। अगर कुछ छोटे और बड़े उद्योग जारी हो जायं तो स्थिति और भी सुधर जायगी। बनिहाल की सुरंग तैयार हो जाने पर लोगों के दिलों में से यह भावना कि महीनों तक कश्मीर भारत से बिल्कुल

जुदा हो जाता है, दूर हो जायगी और लोगों का रुख पूर्व की ओर हो जायगा, जो स्थायित्व के लिए सहायक होगा। सुरंग १९५६ के जाड़ों के पहले खुल जायगी।

—राजेंद्र प्रसाद

८–१०–१९५५

प्रिय ज्ञान,

समारोह के बाद बख्शीसाहब के साथ मोटर पर कुछ दूर सैर के लिए चला गया। पहले कुछ दूर तक उस सड़क पर गया, जो बारामूला जाती है। बख्शीसाहब ने उस स्थान को दिखलाया, जहांतक आक्रमणकारी आ गये थे और जहां उनसे भारतीय सेना की मुठभेड़ हुई थी। कुछ दूर और चलकर मानसबल के रास्ते पर हम चले गये। कहते थे कि उस सारे रास्ते में वे फैले हुए थे और बहुत लड़ाइयां हुईं। पर उनके साथ आबादी के सभी लोगों की पूरी सहानुभूति थी, उनके बिना आक्रमणकारियों का मुकाबला करना और भी कठिन होता है। मेरे यह पूछने पर कि ऐसा क्यों हुआ, उन्होंने कहा कि आक्रमणकारियों के पास सब तरह के हथियार थे और हथियार पहुंचाने का प्रबंध भी था, पर उनके साथ खाने का कोई सामान नहीं था, इसलिए वे जहां पहुंचते थे, लोगों के घरों का अन्न लूटकर और जानवरों को मारकर खाते-पीते थे। अगर कहीं कुछ दूसरी संपत्ति मिली तो उसे भी लूट लेते थे। उन लोगों में पाकिस्तान की फौज के बहुत आदमी थे, जिनको वहां की सरकार ने तीन महीनों की छुट्टी दे दी थी और जो लूटमार करके धन भी इकट्ठा कर लेना चाहते थे। स्त्रियों को भी वे सुरक्षित नहीं छोड़ते थे। इन कारणों से जनता में उनके प्रति बहुत ही घृणा और रोष पैदा हो गया। मैंने पूछा कि यहां के लोग तो मुसलमान ही थे तो भी ऐसा क्यों किया? उन्होंने उत्तर दिया कि इनमें इस्लाम की कोई बात नहीं थी।

शोभा होती है। यहां जहांगीर अक्सर आया करते थे। यहां से थोड़ी दूर पर नसीम बाग है, जहां जहांगीर सवेरे घूमने आया करते थे। रास्ते में सेब इत्यादि के बाग-बगीचे हैं, जिनमें से एक में हम लोग उतरकर गये, जो सड़क के किनारे ही था। सेब के गुच्छों से वृक्ष लदे थे और उनके भार को संभालने के लिए नीचे से टेका लगाया गया था।

—राजेंद्र प्रसाद

११–१०–५५

प्रिय ज्ञान,

श्री अफजल बेग तीन दूसरे सज्जनों के साथ मिलने आये। शेखसाहब की और अपनी गिरफ्तारी के पहले की हालत बयान करते थे और कहा कि मई, १९५३ तक यहां की नेशनल कांफ्रेंस की वर्किंग कमिटी और केबिनेट के अंदर कोई मतभेद जाहिर नहीं हुआ और श्री शराफ ने, जो मिनिस्टर थे, दो-तीन बड़ी गलतियां की थीं, जिनके लिए उन्हें शेख अब्दुल्ला ने इस्तीफा दे देने को कहा और उन्होंने वायदा किया कि एक दिन के बाद जब केबिनेट की बैठक होगी तो वह इस्तीफा दे देंगे। पर वह मीटिंग हुई नहीं, क्योंकि इसी बीच में शेख अब्दुल्ला गिरफ्तार कर लिये गए। गुलमर्ग जाने से पहले शेखसाहब ने युवराज से भेंट की थी, पर उन्होंने उनसे यह नहीं कहा कि तीन मंत्रियों ने इस्तीफा दे दिया है। उनके चले जाने के बाद उनको गुलमर्ग में उसी रात गिरफ्तार कर लिया गया था। शेखसाहब का पंडितजी के साथ जैसा गहरा संबंध था, वह सबको मालूम है, आज भी पंडितजी के प्रति उनके भावों में कोई फर्क नहीं आया है। यह गलतफहमी पैदा कर दी गई है कि पंडितजी ने शेखसाहब को दिल्ली बुलाया और उन्होंने जाने से इंकार किया। शेखसाहब सांप्रदायिक संकुचितता से बिल्कुल दूर थे और उनकी हमेशा यह कोशिश रही कि हिंदुओं और मुसलमानों में सद्भावना रहे और हिंदुस्तान के प्रति कश्मीर का विरोध करके कश्मीर के मुसलमानों का सद्भाव रहे। पर भारत के सांप्रदायिक लोग और संस्थाएं और उनके समाचार-पत्र कुछ ऐसा काम करते रहे, जिससे उनकी दिक्कतें बढ़ती ही गईं। जब डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी का देहांत हो गया तो हिंदुस्तान में

शेखसाहब के प्रति बुरी भावनाएं जान-बूझकर उन लोगों ने पैदा कीं, इसलिए ऐसा डर होता था कि अगर शेखसाहब दिल्ली गये तो उनके प्रति कुछ लोग दुर्व्यवहार कर दें और यदि एक बार कुछ ऐसा हो जाता तो यहां के मुसलमानों को संभालना मुश्किल हो जाता और कश्मीर के भारत के प्रति अनिवार्य रूप से बुरे भाव हो जाते। इसलिए शेखसाहब ने खुद न जाकर बख्शीसाहब और बेगसाहब को भेजा। वहां जो बातें हुई थीं उन सबको बख्शीसाहब बताना नहीं चाहते थे, पर बेगसाहब ने जोर देकर सब बातें दिल्ली में बख्शीसाहब से कहलायीं या खुद कहीं। बेगसाहब के चले जाने के बाद बख्शीसाहब दिल्ली ठहर गये और वहां जनसंघ आदि के लोगों से घंटों तक मुलाकात की, जिसकी खबर अखबार में छपी। न मालूम क्या-क्या बातें और क्या-क्या वायदे बख्शीसाहब ने किये, पर कुछ दिनों के बाद उन्होंने जितने वायदे किये थे, उनमें से एक ही पूरा किया है। उन लोगों का इशारा था शेखसाहब की गिरफ्तारी की तरफ। गिरफ्तारी के बाद लोगों में हलचल हुई और उसको दबाने में १५०० आदमी मारे गये, यद्यपि गवर्नमेंट कहती है कि सिर्फ ३७ ही आदमी मारे गये। लोगों की ओर से बार-बार मांग की गई कि इसकी जांच कराई जाय कि कितने आदमी मारे गये, पर आज तक इसकी सुनवाई नहीं हुई। उस वक्त से आज-तक ऐसे लोगों के साथ जिनकी हमदर्दी शेखसाहब अथवा बेगसाहब के साथ है, बहुत बुरा बर्ताव किया जाता है। धर-पकड़ और मार-पीटना तो कोई बात ही नहीं है। औरतों की भी बेइज्जती की जाती है। इस तरह की घटनाएं रोज-बरोज हुआ करती हैं। मुझे कम-से-कम इतना जरूर कहना चाहिए कि इस प्रकार की कार्रवाइयों को बंद करें। सहनशीलता की हद तो आखिर पार हो सकती है।

ब्याही है और वह बहुत दुखी होकर कह रहे थे कि उनके घर के साथ बहुत बुरा सलूक हुआ करता है। वेगसाहव भी यही कहते थे कि शेख अब्दुल्ला का खयाल था कि संविधान सभा भारत के साथ एकीकरण का अंतिम निर्णय कर दे और जब वह राष्ट्रसंघ में शरीक होने के लिए अमेरिका गये थे तो वहां इस बात को कहना चाहते थे, पर भारत सरकार के प्रतिनिधि ने ऐसा कहने से उनको रोका और मतगणना की बात रखी गई।

मैंने उनसे पूछा कि जो-जो बातें मई और जुलाई, १९५३ की उन्होंने मुझसे कही हैं, वे पंडितजी को बताई गई थीं या नहीं। उन्होंने कहा कि उनसे सब बातें कह दी गई थीं। इधर के वाकयात के संबंध में फिर मैंने वही प्रश्न पूछा तो उन्होंने कहा कि वह पंडितजी से नहीं मिल पाये हैं और इस मामले में भी गलतफहमी पैदा की गई है।

मतगणना के संबंध में वह अपना लिखित बयान दे गये।

—राजेंद्र प्रसाद

२०–१०–५५

प्रिय ज्ञान,

प्रधान मंत्री मिले। मेरी जो बातें अफजल वेग से हुई थीं, उसका भी जिक्र मैंने किया। कहते थे कि वहां का सवाल अभी भी बहुत पेचीदा है और अब प्रश्न यह हो रहा है कि शेखसाहब को कब तक बंद करके रखा जा सकता है। जिंदगी-भर तो रखा नहीं जा सकता। इस तरह बंद रखने से हो सकता है कि शुरू में फायदा हो, पर एक समय आ जाता है जब फायदे के बदले में नुकसान भी हो सकता है। सवा दो बरस के बाद अब किसी विशेष फायदे की आशा नहीं की जा सकती। मैंने कहा कि वहां के लोगों से इस विषय में कोई खास बात तो नहीं हुई, पर मालूम हुआ कि वे लोग बहुत प्रकार की योजनाएं तैयार कर रहे हैं और चाहते हैं कि शांति से पूरा करने का उनको मौका मिलना चाहिए और इस तरह से वह लोगों की हालत बहुत सुधार सकेंगे। इस समय तक जो काम हुआ है, उसका अच्छा असर पड़ा है और लोग खुश हैं। सादिकसाहब ने मुझसे कहा कि वहां का प्रश्न आर्थिक प्रश्न है और वे लोग उसीके हल करने में लगे हैं,

जिसमें सफलता भी मिल रही है। देखा कि प्रधान मंत्री इस विषय पर कुछ चिंतित हो रहे हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

१०-३-५६

प्रिय ज्ञान,

आज ११ बजे कमिश्नर जॉन ऐलन मिलने आये। ये अमेरिका के रहनेवाले हैं। साल्वेशन आर्मी के उच्च पदाधिकारी रह चुके हैं और इस समय कमिश्नर की हैसियत से निरीक्षण कर रहे हैं। भारत के विभिन्न भागों में कुछ दिनों से दौरा करते रहे हैं। कल ही संध्या को सीटो की बैठक कराची में हुई थी, जिसमें यह कहा गया कि सीटो आशा करता है कि भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर का मामला राष्ट्रसंघ की छत्र-छाया में अथवा आपसी बातचीत द्वारा जल्द तय हो जायगा। इस संबंध में कहते थे कि यह भारी भूल हुई है और ऐसा नहीं समझना चाहिए कि अमेरिका के सभी लोग इसे पसंद करेंगे। उनके इस बात के छेड़ने पर मैंने कश्मीर-संबंधी और भारत-पाकिस्तान के संबंध में सब बातें बताईं जो उनको बिल्कुल मालूम नहीं थीं।

११-३-५६

प्रिय ज्ञान,

आज श्री डलेस से मुलाकात हुई। प्रधान मंत्री से आज भी उनकी प्रायः तीन घंटों तक बातें होती रहीं और इसलिए मेरे पास पहुंचने में कुछ देर भी हुई। उन्होंने मुझसे कहा कि उनके और प्रधान मंत्री के बीच काफी देर तक और देश-विदेश-संबंधी अनेकानेक विषयों पर बातें हुईं। दोनों में से कोई भी दूसरे को अपने साथ सहमत नहीं कर सका, पर एक-दूसरे के दृष्टिकोण को दोनों अच्छी तरह समझ गये। सीटो में जो पाकिस्तान-संबंधी निर्णय हुआ था, उसमें किसी विषय के संबंध में सम्मति प्रगट नहीं की गई है। केवल यह आशा प्रगट की गई है कि राष्ट्रसंघ के निश्चय के अनुकूल अथवा आपस में बातचीत करके भारत और पाकिस्तान कश्मीर का मसला सुलझा लेंगे। यह बात सभी लोग हमेशा से करते आये हैं, कोई नई बात इसमें नहीं है। मैंने कहा कि पाकिस्तान के रवैये के कारण भारत के लोगों के दिलों में डर है कि पाकिस्तान कहीं अमेरिका से पाये हुए शस्त्रास्त्र के बल पर भारत पर हमला न कर बैठे। इसपर उन्होंने कहा कि उन्होंने भारत के दृष्टिकोण को समझ लिया है और इसका पूरा एहतियात रखा गया है और शस्त्रास्त्र देने के साथ शर्त कर ली गई है कि वे शस्त्रास्त्र कम्युनिस्टों के खिलाफ ही इस्तेमाल किये जायंगे और किसी भी देश पर आक्रमण के काम में नहीं लाये जा सकेंगे। पाकिस्तान के लोग कहते हैं कि भारत नाहक इस तरह की बातें किया करता है। पाकिस्तान जानता है कि लड़कर वह जीत नहीं सकेगा और उसके लिए युद्ध ठानना आत्महत्या के समान होगा। तो भी पाकिस्तान ने यदि ऐसा किया तो अमेरिका केवल मदद देना ही बंद नहीं कर देगा, बल्कि जो शस्त्रास्त्र की सहायता दी गई है, उसको भी बेकार कर देगा, क्योंकि बिगड़े कल-पुर्जों को बदलने के लिए नये कल-पुर्जे नहीं देगा और अमेरिका की सारी सहानुभूति भारत के साथ हो जायगी। यूं तो शस्त्र का मुकाबला करने के लिए भारत को भी शस्त्र देने के लिए अमेरिका तैयार है। मैंने कहा कि हमारी नीति इस तरह शस्त्रास्त्र पर भरोसा करने की है ही नहीं। इसपर उन्होंने कहा कि इसी वजह से अमेरिका के शस्त्र भारत में नहीं आ रहे हैं।

मैंने उनका ध्यान अंग्रेजी पत्रों के लेखों की ओर, विशेषकर 'मैनचेस्टर गार्जियन' की ओर दिलाया। उन्होंने कहा कि मध्य-पूर्व की स्थिति बहुत नाजुक है और वहां युद्ध छिड़ जाने का भय भी है। भारत-अमेरिका निःसंदेह एक मत के हैं, यद्यपि प्रश्नों पर विचार करने के दृष्टिकोण में फर्क है। बुद्धिमत्ता इसीमें है कि सहमति के क्षेत्र पर जोर दिया जाय और इसे बढ़ाया भी जाय। मैंने कहा कि पाकिस्तान के पत्रों तथा कुछ नेताओं के कथन से भारत के संदेह की पुष्टि होती है। इसके विपरीत भारत के पत्र अधिक संयम से काम लेते हैं। इसपर उन्होंने कहा कि पाकिस्तान के पत्र जिम्मेदारी महसूस नहीं करते और उन नोटों के निर्णय को भी, जो एक बहुत ही मामूली और नर्म निर्णय था, उन्होंने बढ़ा-चढ़ाकर ऐसे लिखा, जैसे पाकिस्तान ने बड़ी विजय प्राप्त की हो। अमेरिका के पत्र भी इसी तरह बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लिखा करते हैं।

—राजेन्द्र प्रसाद

१० | कृषि का महत्व : अन्न-संकट

संविधान सभा के अध्यक्षपद के साथ राजेंद्रबाबू को कृषि और खाद्य मंत्री का पद भी संभालना पड़ा था। उन्हें खेतीबाड़ी में पहले से ही बड़ी रुचि थी और घर की खेती होने से इसका थोड़ा-बहुत अनुभव भी था। उनके अंदर किसान की आत्मा का निवास था और इसी कारण वह किसान की तकलीफों और समस्याओं के प्रति सहृदय थे। महात्मा गांधी की यह वाणी कि 'भारत का राष्ट्रपति एक किसान होना चाहिए' भविष्यवाणी सिद्ध हुई और राजेंद्रबाबू के रूप में एक किसान ही हमारे देश का राष्ट्रपति बना। राष्ट्रपति बनने के बाद भी इस विषय में वह सदा रुचि लेते रहे।

मुझे याद है जब कभी हम रेल से यात्रा करते, बाबूजी घंटों अपनी खिड़की से उस प्रदेश की मिट्टी और उसकी उपज को देखते रहते। जिस प्रकार कोई पुस्तक पढ़ते हुए मुझे वह उसका अर्थ भी समझाते जाते, उसी प्रकार जब गाड़ी में मैं उनके पास बैठी होती, वह मुझे जगह-जगह की फसल के बारे में बताते रहते। कभी मुझसे पूछते, "जानती हो यह कौन-सी फसल है ?" और जब मेरा अज्ञान मौन रूप में व्यक्त होता तो बाबूजी वास्तव में एक अनुभवी किसान की तरह मुझे उस फसल के नाम, उसके गुण तथा किस तरह की मिट्टी में वह उपज होती है, उसे किस तरह की आबोहवा की जरूरत है, इत्यादि जानकारी विस्तार से समझाते। बीच-बीच में गांवों में प्रचलित कहावतों का भी उपयोग करते। न केवल खेती-बाड़ी के बारे में, पर किस नक्षत्र में कब वर्षा अधिक होती है और वह खेती के लिए लाभदायक है या नहीं, इस सबका भी उन्हें ऐसा गहरा और सूक्ष्म ज्ञान था, जिसे देख और सुनकर मुझे सचमुच बड़ा आश्चर्य होता।

एक बार उन्होंने मुझे एक कहावत सुनाई और फिर पूछा कि इसका अर्थ समझती है ? मेरे 'नहीं' कहने पर हँसते हुए व्यंग्य किया, "हां, तू

गृहस्थ कन्या नहीं है न !" मैंने अचरज के साथ कहा, "गृहस्थ तो मैं हूं", तब कहने लगे, "नहीं, हमारी तरफ 'गृहस्थ' किसान को कहते हैं। मेरा मतलब 'किसान कन्या' से ही था।" तब उन्होंने मुझे उन कहावतों का न केवल अर्थ बताया, बल्कि उसके स्मरण से उनके हृदय में जो विचार उभरे उनको भी इस प्रकार अपने पत्र में व्यक्त किया :

१-१०-५६

"प्रिय ज्ञान,

"आवत आद्रा न तारे जात न बरसै हस्त।
कहै घाघ घाघिन से लो का करिहैं गिरहस्त।"

घाघ ने घाघिन से पूछा कि यदि आर्द्रा नक्षत्र आने के समय सब जलाशयों को न भरे और हस्ति नक्षत्र के जाते-जाते अच्छी वर्षा न हो तो फिर बेचारा गृहस्थ (किसान) क्या करे ? अर्थात वह असहाय हो जाता है और कुछ कर नहीं सकता। हमारी तरफ घाघ की कहावतें बड़ी प्रचलित हैं और वहां के किसान इन्हें दोहराते रहते हैं, क्योंकि इनमें नाक्षत्रिक बातों का, खास करके खेती का और उन ऋतुओं का जिनका खेती पर असर होता है, बड़ा ज्ञान भरा है। अब लोग इन्हें भूल रहे हैं, पर प्रसिद्ध भाषाविद और हमारी भाषाओं के इतिहासकार डा० जी० ए० ग्रियर्सन जैसे व्यक्ति ने इनका संग्रह करके उन्हें पुस्तक के रूप में छपवाया है।

गुजारना पड़ता था और इस प्रकार उनके मातहत प्रदेश के दूर-दराज कोने के लोगों के सम्पर्क में आने का उन्हें मौका मिलता था। इसके अलावा उनकी अपनी विशेष विषय की ओर रुचि होती थी, जिसे वे उस समय प्राप्त अनुकूल परिस्थितियों में विकसित करते थे। इस समय के अफसरों का समय और ध्यान कुछ और तरह की बातों में लगता है और शायद यह उस समय की अपेक्षा अधिक कठिन भी हो। समय बीतने पर शायद यह भी परिणाम निकले कि इस तरह के काम के लिए उन्हें अनुकूल अथवा पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं। यदि ऐसी बात हो तो वह वास्तव में एक बड़ी क्षति होगी, यद्यपि यह क्षति हो सकती है कि हमारे ऐसे शिक्षाविदों द्वारा इस ओर ध्यान देने से पूरी की जा सके चाहे उनके कार्यक्षेत्र में ऐसे विशेष विषयों का समावेश न होता हो।

जो भी हो, मैं यह जरूर मानता हूं कि सभी विभागों के अफसरों को अपने कार्यक्षेत्र के अतिरिक्त विशेष प्रकार के विषयों के अध्ययन के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। यह स्वाभाविक है कि विशेषज्ञ तो वैसे अपने विशेष विषयों का अध्ययन करेंगे ही, जिसका उन्हें प्रतिफल भी मिलेगा, पर मैं इस समय अपने दिन-प्रति-दिन के ऑफिशियल कार्य के बाहर के क्षेत्र में किसी विशेष अध्ययन की बात सोच रहा हूं।

ये सारे विचार मुझे घाघ की इस कहावत के याद आने पर आये और इस कहावत का स्मरण भी इस हस्ति नक्षत्र को देखकर हो आया, जो जाते-जाते खूब अच्छी वर्षा करता जा रहा है। यह वर्षा ऋतु का अंतिम नक्षत्र माना जाता है और वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर शरद ऋतु का आगमन होता है। दोनों का अपना-अपना आकर्षण और उपयोग है। इस देश के जीवन के लिए वर्षा ऋतु बहुत आवश्यक है। कृषि-प्रधान देश होने की वजह से उसे पूरी तरह वर्षा पर ही निर्भर रहना पड़ता है। वैसे भी अनेक जीव-जन्तुओं और कीड़े-मकोड़ों तथा उमस होने पर भी यह आवश्यक ही नहीं, आनंददायक भी है। खूब उमस और गर्मी के बाद जब वर्षा होती है तो मौसम बहुत ही सुहावना लगता है और बड़ा आनंद आता है। सभी के दृष्टिकोण से अक्सर मैंने अनुभव किया है कि यदि घर चूता न हो तो सबसे अच्छा समय बरसात के लिए रात का होता है। साधारण मनुष्य को

न केवल अच्छी नींद आती है, बल्कि रात की थकान के बाद भोर में जब किसान जागता है और अपने खेत में जाता है तो उसका खेत जोतने के के लिए बिलकुल तैयार होता है। वह वहां बिना किसी रुकावट और कठिनाई के काम कर सकता है।"

खेतों और खलिहानों के बीच जिस व्यक्ति ने अपना बचपन बिताया हो, जिसने मां की गोद में बैठ चक्की पीसते हुए प्रभाती के गीत सुने हों और जो गांव के जीवन में रच गया हो, वह क्या कभी उस भोले-भाले मधुर जीवन को भूल सकता है? गांव के जीवन ने राजेंद्रबाबू को लुभाया था, जिसकी सुहानी याद राष्ट्रपति-भवन की खिड़कियों में से झांककर रह-रह उन्हें अपनी ओर खींच लेती थी। हर घड़ी और हर मौसम में मानो उनका ध्यान गांव की ओर लगा रहता था। वर्षा का महत्व किसान के लिए कितना अधिक है यह किसान ही जान सकता है। इसी तरह ग्रामीण हृदय ही ग्रामीण दृश्यों को अपनी कल्पना-दृष्टि से चित्रों की तरह सजीव बना सकता है। ग्रामीण हृदय राजेंद्रबाबू की लेखनी ने वर्षा ऋतु और गांव के इस चित्र को सच ही सजीव बना दिया है। इसी पत्र में वह आगे लिखते हैं :

वर्षा ऋतु किसानों को श्रम के लिए आह्वान करती है तो शरदऋतु उनके आमोद-प्रमोद के सामान जुटाती है। इसीको ध्यान में रखकर राजेंद्रबाबू फिर उसी पत्र में लिखते हैं :

"घनी उमस और गर्मी के बाद शरद ऋतु का आगमन बड़ा शुभ और सुखद होता है। लेकिन उसका एक दूसरा पहलू भी है। आधी सूखी जमीन और यहां-वहां भरे हुए पानी के गड्ढों में मलेरिया के जंतु पैदा हो जाते हैं। बिहार में तो यह बड़ी आम बात है। पर जैसे-जैसे शरद ऋतु आगे बढ़ती है वह आनन्द और सुख को भी जरूर बढ़ाती है। इस गंदगी और मलेरिया के कीटाणुओं से बचने के लिए इस ऋतु में दिवाली का त्यौहार मनाया जाता है। इस अवसर पर सब जगह असंख्य दिये जलते हैं, जिनसे यह कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। किंतु बड़े पैमाने पर मनाए जानेवाले इन उत्सव और त्योहारों के अलावा किसान के लिए इस ऋतु का वर्षा ऋतु से कम महत्व नहीं, क्योंकि वह इस समय खरीफ की फसल काटता है और रबी की फसल बोता है। मुझे अभी भी याद है कि अपने बचपन के दिनों में मैं यह सब देखकर कितना खुश हुआ करता था।

"क्या तुम भी अपने सरकारी काम के बीच किसी एक विशेष विषय के प्रति रुचि और प्रेम बढ़ाओगी? और उन अफसरों-जैसा कोई खास काम करोगी? मैं चाहता हूं कि तुम अपने दिन-प्रतिदिन के काम के अलावा इस तरह की खोज का कोई काम जरूर करो। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। इस प्रकार रोजमर्रा की साधारण-सी दिनचर्या और शुष्क जीवन में कुछ सरसता आ सकती है और जीवन सोद्देश्य बन सकता है।"

—राजेंद्र प्रसाद

आज जब मैं बाबूजी के इन संस्मरणों के आलोक में अपने संस्मरण संजोती हूं तो मुझे राष्ट्रपति के चोले में से एक भारतीय किसान की आत्मा झांकती हुई नज़र आती है। शायद यही कारण है कि कानून-विशेषज्ञ होते हुए भी राजेंद्रबाबू ने १९४६ में कृषि और खाद्य-मंत्री बनना पसंद किया।

राजेंद्रबाबू खाद्य और कृषि दोनों ही विभागों के मंत्री थे। खाद्य-मंत्री

के साथ सर रॉबर्ट हचिंग्स सचिव थे, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। कृषि-विभाग में राजेंद्रबाबू के सचिव सर फिरोज खरेघाट थे। उनके विषय में भी राजेंद्रबाबू की धारणा बड़ी अच्छी बनी। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा है :

५-८-५८

प्रिय ज्ञान,

कृषि और खाद्य दोनों का मैं मंत्री था, पर दोनों ही अलग-अलग विभाग थे और दोनों के अलग-अलग सचिव थे। खाद्य-विभाग के सचिव जैसा कहा गया है सर रॉबर्ट हचिंग्स थे और कृषि-विभाग के सचिव सर फिरोज खरेघाट थे, जो आई० सी० एस० थे। प्रायः जबतक मैं रहा वह सचिव बने रहे। वह भी अपने विषय की पूरी जानकारी रखते थे और योग्य व्यक्ति थे। चुपचाप काम करने में तो वह सबको मात कर सकते थे। मैं सवेरे खाद्य-विभाग में जाया करता था और दोपहर के बाद कृषि-विभाग में। दोनों के दफ्तर भी दो जगहों में थे—कृषि-विभाग सचिवालय के उत्तरी भाग में और खाद्य-विभाग सचिवालय से दूर मानसिंह रोड पर एक दूसरे किसी रजवाड़े के मकान में। यह अंतर केवल फासले में ही नहीं था, दोनों के काम में भी बहुत कम संपर्क आता था।"

जिस समय राजेंद्रबाबू ने खाद्य और कृषि-मंत्री का पद संभाला, उस समय देश में अनाज की स्थिति अच्छी न थी। दूसरे विश्वयुद्ध की अभी परिसमाप्ति ही हुई थी। उसकी विभीषिका का भयंकर परिणाम स्पष्ट था। भारत में स्वाधीनता की सुनहली किरणों के प्रकाश ने कुछ मुस्कान बिखेर दी थी। किंतु अकाल का विकराल रूप अभी भी मन को डराता था। इसी भय से चिंतित राजेंद्रबाबू ने नई जिम्मेदारी संभाली। उस समय की स्थिति का वर्णन करते हुए चिंतित भाव से आगे राजेंद्रबाबू ने लिखा :

से वही स्थिति न आ जाय और अन्न बिना लोग भूखों न मरने लगें। इस-लिए दिन-रात इसी बात की चिंता रहती थी कि विदेशों से और देश में से भी जहां कुछ अधिक अन्न हो उसे उन स्थानों तक कैसे पहुंचाया जाय, जहां कमी थी। सब करने पर भी कमी दूर नहीं होती थी। इसलिए नियंत्रण दिन-प्रतिदिन कड़ा करना पड़ा। पहले कुछ अन्नों पर नियंत्रण और कुछ स्थानों में ही था। आहिस्ता-आहिस्ता प्रायः सभी प्रकार के खाद्य अन्न और सभी सूबे नियंत्रण की लपेट में आ गए। प्रति मनुष्य पीछे कितना अन्न दिया जा सकता है, वह भी अहिस्ता-अहिस्ता कम होता गया। देश-विदेशों से जो भी अन्न मिल सकता था और जिस तरह मिल सकता था, मंगाना पड़ता था। खैरियत यह थी कि उस समय विदेशी मुद्रा का टोटा नहीं था, क्योंकि लड़ाई के बाद इंग्लैंड के जिम्मे हमारा बहुत-कुछ बाकी था और उसमें से हम ले सकते थे। पर अन्न तलाश करना और खरीदना आसान नहीं था, क्योंकि अन्न की उत्पत्ति ही कम हो गई थी। जैसे, बरमा से भारत को बहुत चावल आया करता था। लड़ाई के कारण चावल की खेती और चावल के कारखानों को बहुत नुकसान हुआ था और उनकी उत्पत्ति बहुत कम हो गई थी। यही हाल और देशों का भी, था जहां से चावल आ सकता था। इसके अलावा अन्न की कमी केवल भारतवर्ष में ही नहीं थी और अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण भी कुछ हद तक जारी होता जा रहा था, जिसके अनुसार हमें सीमित रकम में ही अन्न मिल सकता था।"

एक ओर पूर्व अकाल की स्थिति और भविष्य की चिंता—दूसरी ओर उत्पादन की कमी और तिसपर नियंत्रण का भूत—इन सबमें से रास्ता निकालना खाद्य-मंत्री का कर्त्तव्य था। इसीमें उनका सारा समय लग जाना स्वाभाविक था। तभी तो उन्होंने लिखा :

"इसी उधेड़बुन में मेरा अधिक समय लग जाता था। और यद्यपि देश में अन्न पैदा करना इससे कम आवश्यक नहीं था, मुझे खेद है कि मैं उस पर जितना ध्यान देना चाहिए, नहीं दे सका। तो भी वह विभाग अपना यथासाध्य काम करता रहा। अन्न की कमी यहांतक पहुंच गई थी कि दिल्ली में भी चावल-गेहूं पर काफी रोक लग गई थी, और मुझे याद है कि

हम लोग अपने घर में बहुत दिनों तक मकई और जौ की रोटी खाते रहे, और एक-दो बार तो कुछ बदइंतजामी के कारण वह भी घर में समय से नहीं पहुंच सका।"

किसान की कठिनाइयों को जिस तरह राजेंद्रबाबू जानते ही नहीं, महसूस करते थे, उसी तरह अन्न-नियंत्रण (फूड कण्ट्रोल) के समय साधारण जनता को अनाज प्राप्त करने में कितनी कठिनाई और कष्ट होता होगा, इसकी कल्पना उनके लिए कठिन न थी। तभी तो अपनी एक दिन की कठिनाई को देखकर उन्होंने सोचा।

"हमें तो शायद एक दिन यह कष्ट हुआ, पर न मालूम औरों में से कितनों को इस प्रकार के कष्ट सहने पड़े होंगे।"

—राजेंद्र प्रसाद

दूसरों के कष्टों के प्रति सहृदय राजेंद्रबाबू जिस समय खाद्य-मंत्री थे, उस समय मुझे याद है कि वह अन्न-नियंत्रण के दिनों में राशन की दुकान से वही अनाज मंगाया करते थे, जो जनसाधारण को मिलता था।

उन दिनों में उनके साथ रहने का सुयोग मुझे मिला। मैं तब वर्धा में थी। बाबूजी १९४७ में वर्धा आये थे। तभी मेरा उनसे पहले-पहल परिचय हुआ। धीरे-धीरे यह परिचय पारिवारिक संबंध में परिणत हो गया। उन दिनों मेरा बच्चा केवल एक वर्ष का था। बाबूजी उसे बहुत प्यार करते थे और सुबह का जलपान करते समय सदा उसे अपने पास बिठाते। वह भी उनके साथ खूब खेलता। एक दिन खेलते-खेलते बाबूजी ने देखा कि उसके पैर कुछ टेढ़े हैं और उन्होंने फौरन मेरा ध्यान उस ओर दिलाया। बाबूजी के वात्सल्यपूर्ण हृदय को केवल इससे संतोष न हुआ और उन्होंने बच्चे को अपने पास दिल्ली बुलाकर उसका इलाज करवाया। इसी कारण मुझे बाबूजी के पास करीब दो महीने रहने का अवसर मिला। हम सब बाबूजी के साथ ही खाना करते थे। कई बार तो वास्तव में जैसे चावल मिलते थे, वे गले के नीचे भी नहीं उतरते थे, न जाने बाबूजी किस तरह उनको चुपचाप खा लिया करते। शायद बाबूजी के लिए वह जेल-जीवन के अभ्यास

और अनुशासन का अच्छा उपयोग था। पर मैं संकोचवश कुछ कह न पाती और शिकायत के लिए कोई बात भी न थी, क्योंकि राशन में वही मिलता था। फिर भी खाद्य-मंत्री के यहां तो अच्छे-से-अच्छा भी अनाज आ सकता था, पर बाबूजी का यह कड़ा आदेश था कि जो व्यवस्था सबके लिए है, वही उनके लिए भी होनी चाहिए। इस प्रकार जनता के कष्टों को वह जानते ही नहीं थे, व्यावहारिक रूप से उनका अनुभव भी करते थे।

इसीलिए अन्न-संकट से बचने और बचाने की चिंता उन्हें सदा लगी रहती। अपने मंत्रित्व-काल में उन्होंने इस समस्या को हल करने के अनेक उपाय निकाले। उसके बाद में अपनी आत्मकथा में राजेंद्रबाबू ने लिखा :

"आते ही मैंने देखा कि पूज्य गांधीजी ने जो कुछ पहले कहा था वही ठीक है। उन्होंने कहा था कि विदेशों पर हम बहुत भरोसा नहीं कर सकते, क्योंकि वहां से अन्न लाने में हजारों अड़चनें पड़ सकती हैं। हमारे लिए अपने देश और अपने लोगों पर ही भरोसा करना ठीक है। मैंने तुरंत स्थिति को समझकर इस बात की अपील की कि जिससे जो बन पड़े, अधिक अन्न पैदा करने के लिए, करे—जितना कम अन्न खर्च कर सके और जितना बचाकर दूसरों के लिए दे सके, दे।"

खाद्य-मंत्री थे तभी नहीं, बाद में राष्ट्रपति-भवन में रहते हुए भी कई बार ऐसे मौके आये जब देश में चावल की कमी होने पर उन्होंने अपनी उसी अपील में निहित भावना के अनुसार चावल खाना छोड़ दिया और कई बार मुझे मालूम है कि रात को वह एक रोटी भी कम खाते। कथनी और करनी में ऐसी अभिन्नता और ऐसी ईमानदारी देख मैं दंग रहती। खाद्य-मंत्री हों या राष्ट्रपति, खाद्य-समस्या की ओर उनका ध्यान सदा रहता।

एक ओर अनाज की कमी और दूसरी ओर देश की बढ़ती हुई आबादी! फिर भी राजेंद्रबाबू अपनी जिम्मेदारी की ओर सजग थे। उन्होंने उस संकट के समय भी कहा :

"इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न करना कृषि-विभाग का काम है। फिर यह भी जाहिर है कि हमारे लोगों को जो भोजन मिलता है वह ऐसा

नहीं होता कि उससे उनका स्वास्थ्य उन्नत हो। इसमें बहुत प्रकार की कमी है, जिसे पूरा करना चाहिए। इसलिए अन्न के अलावा दूध, मछली, मांस, तेल, घी, फल-मूल, सब्जी इत्यादि सभी चीजों को अधिक मात्रा में पैदा करना आवश्यक है। मेरी दिलचस्पी इन विषयों में काफी है और ऐसे प्रयत्न में मैं दिन-रात लगा हूं। सरकार तो केवल कुछ मार्गदर्शन करा सकती है, सलाह दे सकती है—थोड़ी-बहुत सहायता कर सकती है। पर काम तो जनता का है। हमारी जनता विशेष करके खेती का काम करती है। उसे ही इस भार को संभालना है।"

एक अनुभवी किसान की तरह इस समस्या के संबंध में उनके अपने विचार थे, जिनसे वह इस समस्या को हल करना चाहते थे। किन्तु सबसे पहले उनकी यह धारणा थी और यह दृढ़ विश्वास था :

"भारतवर्ष-जैसे कृषि-प्रधान देश को अपनी खुराक खुद पैदा करनी चाहिए। इसके लिए विदेशों पर भरोसा करना ठीक नहीं।"

आज भी हमारे देश में अनाज की कमी है। अभी भी हम विदेशों का का मुंह जोहते हैं। हमें चाहिए कि हम राजेंद्रबाबू की उन विश्वासपूर्ण दृढ़ वाणी को सुनें और इस समस्या के प्रति सजग होकर कुछ करने को कटि-बद्ध हों। तब निश्चय ही हम एक दिन इस दृष्टि से आत्मनिर्भर हो सकेंगे और तभी घर-घर में सच्ची खुशहाली के दर्शन होंगे, दीपावली के दीपकों में उल्लास की ज्योति होगी और देश के हर बच्चे के मुख पर स्वास्थ्य का तेज चमकेगा। वसन्त की बहार की तरह देश के बालपुष्प प्रसन्नता से खिलेंगे और देश में आनन्द की सच्ची बहार आयेगी।

राजेंद्रबाबू बहुत थोड़े समय के लिए खाद्य-मंत्री रहे, किन्तु जैसा मैंने पहले लिखा है, वह किसान जीवन-भर रहे। इसीलिए किसान की तरह वह कृषि और खाद्य से संबंधित हर समस्या का व्यावहारिक हल ढूंढ़ते थे और किसान की तरह ही उन्हें हर बात का ज्ञान भी था। वह अपने गांव की ही नहीं, देश की हर तरह की जमीन अर्थात मिट्टी और फसलों को जानते थे, वह पुरवाई और पछवाई हवा के झोंकों को पहचानने

ही नहीं, उसके असर को भी जानते थे, वह आर्द्रा और हस्ति नक्षत्र की चालों को समझते थे। जिस तरह उन्हें इन छोटी और बड़ी सब बातों की जानकारी थी, वह हमारे देश के लोगों की खानपान की आदतों को भी बखूबी जानते थे। घिरे हुए बादलों और बहती हुई हवा को देखकर अनजान व्यक्ति भले ही गलती करे, किसान आनेवाली बरखा और पुरवाई या पछवाई हवा के रुख को समझने में गलती नहीं कर सकता। इसी तरह राजेंद्रबाबू खाद्य-समस्या के अपने विश्लेपण में गलती नहीं कर सकते थे।

कभी-कभी तो मैं उनकी बातें सुनकर इतनी चकित रह जाती और गृहिणी होकर भी अपने अज्ञान पर मुझे लज्जा आती। पर बाबूजी मुझे बड़े स्नेह से सारी बातें बताते और बातों-ही-बातों में मेरी झेंप भी मिट जाती। एक बार खाने-पीने की बातें करते-करते वह एक वैज्ञानिक की तरह इसके आदिकाल में पहुंच गए और बच्चे को जैसे कहानी सुनाते हैं उसी तरह उन्होंने इस विषय में मुझे सारा इतिहास आरंभ से बताया। जहांतक मैं जानती हूं, शायद इस विषय में आजतक किसीने भी इस प्रकार का विश्लेपण आरंभ से कभी नहीं किया। यह है कृपि और खाद्य का आदि इतिहास, जो वास्तव में मनुष्य के जन्म से आरंभ होता है।

कई लोगों का आजतक भी यह भ्रम होगा कि मांसाहारी भोजन से खाद्य की कमी को आसानी से पूरा किया जा सकता है अथवा शाकाहारी भोजन के लिए जो अधिक जमीन और अधिक अनाज की आवश्यकता होती है, उसका हल मांसाहार को बढ़ाने से हो सकता है। इस संबंध में राजेंद्रबाबू ने कितना अच्छा विश्लेपण और जानकारी दी है :

१०-११-५७

प्रिय ज्ञान,

आज हम हवाई जहाज से बंबई पहुंचे। यहां मैं विशेप करके अंतर्राष्ट्रीय शाकाहारी सम्मेलन में शरीक होने आया, जिसमें २२ देशों के प्रतिनिधि भाग ले रहे हैं। इसके संबंध में मैं दो मुख्य बातों का जिक्र करना चाहता हूं।

दिल्ली के खाद्य-मंत्रालय के एक प्रकाशन के उद्धरण को पढ़कर, जिसमें भारत में मांसाहार को प्रोत्साहन दिये जाने पर जोर दिया गया था और प्रसार के लिए सलाह दी गई थी, मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। इसके लिए जो कोई भी जिम्मेदार है, मालूम होता है, वह इसके परिणाम को नहीं समझता। वह शायद यह सोचता है कि क्योंकि काफी मात्रा में अनाज की पैदावार बढ़ाना कठिन है, इसलिए लोगों को मांसाहार की सलाह देने से उन्हें राहत मिलेगी। वह यह भूल जाता है कि हमारे देश में बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं, जिन्हें धार्मिक अथवा अन्य किसी भी कारण से मांस खाने में कोई आपत्ति नहीं है, किंतु वे इसलिए रोज मांस नहीं खा सकते, क्योंकि या तो उन्हें मांस मिल नहीं पाता, अथवा वे इतना खर्च नहीं कर सकते। यदि इतनी बड़ी जनसंख्या के एक छोटे-से हिस्से ने भी, आज जितना मांस खाते हैं उससे थोड़ा भी अधिक और कई बार, मांस खाना शुरू कर दिया, तो मांस की खुराक की मांग कई गुना बढ़ जायगी। मांसाहारियों में से मुसल-मानों और ईसाइयों को किसी भी रूप में गो-मांस खाने से कोई परहेज नहीं है। गो-मांस की मांग में थोड़ी भी बढ़ती हो जाने से, इसके लिए पशुपालन को उन्नत करने की आवश्यकता होगी और इससे जमीन-संबंधी कठिनाई कम होने के बजाय बढ़ जायगी और उसपर बहुत दबाव पड़ेगा। यह कहा गया है कि मांस की खुराक द्वारा पोषण तत्व को उसी मात्रा में बढ़ाने के लिए, अनाज पैदा करने के लिए जितनी जमीन की आवश्यकता होती है, उससे छः से नौ गुना अधिक जमीन की आवश्यकता होगी। यह कहने का कोई मतलब नहीं कि सूअर अथवा बकरी के मांस को प्राथमिकता दी जाय। अभी भी देखा गया है कि सूअर और बकरी का मांस गो-मांस से अधिक मंहगा है और इसकी मांग बढ़ने से कीमतें बढ़ती ही जायंगी तथा उसी परिमाण में जमीन पर भी अधिकाधिक दबाव पड़ेगा। भेड़ों और बकरियों के लिए भी बहुत बड़े चरागाह चाहिए—शायद उन पशुओं से भी अधिक जमीन उन्हें चाहिए, जो पशुपालन की दृष्टि से पालतू पशुओं के रूप में घरों में रखे जाते हैं।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह अनुभव नहीं किया गया कि मांग पैदा करना उसे पूरा करने की अपेक्षा अधिक आसान है। खेती-बाड़ी के हमारे

सब प्रयोगों और अनुभवों के बाद भी यदि हम जमीन के प्रति इकाई के हिसाब से जितनी चाहते थे उतनी पैदावार नहीं बढ़ा सके, अथवा खेती का आवश्यक विस्तार नहीं कर सके तो फिर मांस की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए पशुपालन को बढ़ाने से क्या फायदा ? जो भी मांस इस समय वास्तव में तैयार किया जाता है, उसका बोझा पशुओं पर पड़ता है और इसकी मांग में किसी भी तरह की वृद्धि केवल और अधिक बढ़ाये हुए पशु-पालन से ही पूरी की जा सकेगी, जिसका अभी खेती की तरह ही विस्तार करना होगा। हमारे किसानों के लिए शायद ऐसे उपायों द्वारा, जिनसे वे परिचित हैं, कृषि-उत्पादन अधिक आसान है, बनिस्वत इसके कि वे पशु-पालन के अनजान और अपरिचित-से क्षेत्र में प्रवेश करें। मैं यहां धार्मिक बाधा का जिक्र नहीं करना चाहता, जिसकी प्रतिक्रिया करीब-करीब सारे ही देश में होगी।

एक दूसरी बात का जिक्र मैं यहां करना चाहता हूं। सम्मेलन में एक अमरीकी महिला ने एक प्रश्न लिखकर मेरे पास उत्तर के लिए कागज-सहित भेजा। प्रश्न हमारे दूतावासों में सामाजिक उत्सवों अथवा अवसरों पर मांसाहारी भोजन और शराब दिये जाने के संबंध में था। यद्यपि प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए अनिवार्य नहीं कहा गया था, क्योंकि मदाम क्लेरंस गेस्क[1] ने, यह समझा कि शायद राष्ट्रपति को इस प्रश्न का उत्तर देने में कुछ दुविधा हो। किंतु मैंने उस प्रश्न का उत्तर देना ठीक समझा। मैंने उनसे कहा कि यद्यपि तीस करोड़ भारतीय, जो शाकाहारी माने जाते हैं, उनमें से अधिकांश शाकाहारी नहीं हैं, और सरकार तो निश्चय ही शाकाहारी नहीं है, इसलिए दूतावासों से यह आशा करना कि वे शाकाहारी रहें, ठीक नहीं।

हम जिस योग्य हैं, उसीके अनुरूप हमारी सरकार होगी। इसलिए जबतक कि शाकाहारी लोग सारे देश को, अपने विचारों के अनुकूल उनके जीवन को, बदल नहीं देते, तबतक ऐसी स्थिति पर ही संतोष करना पड़ेगा। मैंने उनसे कहा कि श्री मोरारजी देसाई और मैंने यह खुले तौर पर स्वीकार

---

१. केलिफोर्निया की एक अमरीकी महिला, जो अब मैक्सिको में रहती हैं।

किया है कि इस देश में भी शाकाहारी अल्प संख्या में हैं। मैंने देखा कि जनता को उत्तर से संतोष हुआ। बाद में एक अंग्रेज ने बड़ी मजेदार जानकारी दी। उन्होंने कहा कि इंग्लैंड में १८४७ से, अर्थात ११० वर्षों से, एक शाकाहारी समाज कार्य कर रहा है और इस समय उस देश में ८०,००० शाकाहारी व्यक्ति हैं। वे सब इस आशा से बराबर प्रचार-कार्य में व्यस्त रहते हैं कि एक दिन इंग्लैंड के अधिकांश लोग शाकाहारी बनेंगे। किसी भी संस्था अथवा व्यक्ति-विशेष द्वारा विशेष प्रयत्न किये बगैर ही भारत में करोड़ों आदमी शाकाहारी हैं। किंतु यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि दिल्ली में एक ऐसे संप्रदाय के लोग, जो अनेक पीढ़ियों से शाकाहारी रहते आये हैं, अब मांस खाने लगे हैं। समाज की तथाकथित उच्च श्रेणियों में और विशेषकर सचिवालय और सेना के उच्च अधिकारियों में ऐसा पाया जाता है। मैं इसका कारण नहीं बता सकता। बस, इतना ही कह सकता हूं कि शायद ये लोग ऐसा समझते हैं कि इस प्रगतिशील जमाने में पूर्वजों की पुरानी परंपराओं को अपनाने से ये लोग दकियानूसी माने जायंगे। मैं समझता हूं कि यह पता लगाने के लिए कि हिंदू समाज में शाकाहारीपन आजकल घट रहा है या बढ़ रहा है, जनगणना करना उपयोगी होगा। उच्च अधिकारियों में ही नहीं, बल्कि समाज के तथाकथित ऊपरी स्तर से संबंध रखनेवालों में भी मांसाहार बढ़ रहा है और बहुत-से ऐसे लोग खुल्लम-खुल्ला या लुक-छिपकर इस ओर झुक रहे हैं, जिनके माता-पिता मांसाहार की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इस संबंध में, इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों की तरह हमें पुराने रिवाजों को बिना सोचे-समझे केवल इसलिए नहीं छोड़ देना चाहिए कि ऐसा करने से हम प्रगतिशील कहलायंगे।

पारिवारिक परंपरा से मैं शाकाहारी नहीं हूं, किंतु अपनी इच्छा से हूं। न जाने मैंने यह संकल्प कब किया था। मैं इसे केवल पूर्वजन्म के संस्कारों का ही फल समझता हूं। कुछ भी हो, मेरा दृढ़ विश्वास है कि शाकाहार का हमारे स्वास्थ्य और जलवायु पर चाहे कुछ भी असर होता हो, किंतु यह सारे देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप है। मैंने जो संकल्प किया था, उसपर मुझे कोई खेद नहीं, बल्कि उसके कारण मैं संतोष का अनुभव करता हूं।

—राजेंद्र प्रसाद

३०–७–५८

प्रिय ज्ञान,

हिंदुस्तान वहुत करके एक कृषि-प्रधान देश है, जिसकी अर्थ-व्यवस्था हजारों वर्षों से अभी तक मुख्य रूप से खेती-वाड़ी पर ही आधारित रही है। अभी तो हमारी इस आशा को पूरा होने में भी वरसों लग जायंगे जव हम पश्चिमी देशों का मुकावला कर सकेंगे; और तव भी यह निश्चित नहीं कि हम आवादी के थोड़े-से भाग को छोड़कर औरों को इनके द्वारा काम दिला सकेंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि खाद्य को छोड़कर अपनी और वहुत-सी आवश्यकताओं के लिए हमें आयात पर निर्भर रहना चाहिए। जैसीकि आजकल हालत है, अभी तो हमें अन्न के लिए भी उसके आयात पर निर्भर करना पड़ता है। यह हमारी दुर्दशा है। इस समस्या का समाधान व्यावाहारिक और यथार्थ होना चाहिए।

श्री वी० टी० कृष्णमाचारी से इस संवंध में मेरी लम्वी वातचीत हुई। वह वड़े चिंतित हैं और उनकी आशंका यह है कि हम अपने लाखों-करोड़ों किसानों को अधिक अनाज उपजाने के लिए प्रोत्साहित नहीं कर पाये हैं और विना इसके अन्न की समस्या हल हो नहीं सकती। हमें इस वात को ध्यान में रखना चाहिए कि खेती-वाड़ी के वारे में हमारी अपनी कुछ विशेप वातें हैं। हमारे देश में छोटे किसानों की तादाद वहुत है। उनकी जमीन वढ़ नहीं सकती, क्योंकि ऐसी जमीन वहुत नहीं है, जहां खेती हो सके। अधिक उत्पादन के लिए एकमात्र उपाय सघन खेती ही है। वह किस प्रकार से हो, इस वारे में अभी स्पष्ट योजना हमारे सामने नहीं है। लेकिन इतना साफ है कि अधिक सिंचाई, वेहतर वीज, अधिक खाद, खेती के सुधरे हुए तरीकों और सुधरे हुए औजारों की हमें आवश्यकता है। इन सवको मुहय्या करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। लेकिन अभी हम यह नहीं सोच पाये हैं कि इस काम के लिए कौन-सी एजेंसी अथवा उपाय को चुना जाय, जिसके द्वारा सवसे अच्छा उपयोग हो और ज्यादा लाभ मिल सके। कइयों का ख्याल है कि सहकारी संस्थाएं, और कई कहते हैं कि जमीन पर 'सीलिंग' लगाकर जमीन का पुर्नवितरण—एक नारा यह भी है कि—खेती खेतिहर को। किसी-न-किसी रूप में हम

इनका प्रयोग भी कर रहे हैं। पर अभी तक इस दिशा में अच्छी प्रगति नहीं कर सके हैं। यह एक बड़ा प्रश्न है, जिसका हल हमें ढूंढ़ना है। कोई आश्चर्य नहीं कि योजना आयोग के उपाध्यक्ष इससे बहुत चिंतित हैं। कठिनाई भले ही बुनियादी हो, लेकिन वह एक विभिन्न समाज का दर्शन करायेगी और वह है—गांधीवादी समाज। आज हम पश्चिमी हालातों को लाना चाहते हैं—उनमें थोड़ा अंतर हो सकता है—पर हैं वे पश्चिमी। लेकिन यह स्थिति को बदल नहीं सकेगा।

—राजेंद्र प्रसाद

१८-१०-५७

प्रिय ज्ञान,

पिछले कुछ दिनों से बिहार में काफी वर्षा न होने की रिपोर्ट मिल रही है। इसके फलस्वरूप वहां धान की खेती को बड़ा नुकसान पहुंचा है और रबी फसल पर भी इसका बड़ा बुरा असर पड़ेगा। मक्का की फसल भी अच्छी नहीं हुई। नवगद्दा इलाके में, जो उत्तर बिहार के बहुत-से इलाकों को पहले एक-दो महीने मक्का मुहय्या करता था, वहां भी मक्का की फसल बिलकुल नहीं हुई और बिहार के दूसरे भागों में बाजरे की फसल भी बड़ी खराब हुई है। वर्षा की इस कमी से और बेमौसम की वर्षा और ओले से पिछली रबी की फसल खराब हो जाने से, बिहार की हालत खराब है। इसके लिए उसे बड़े पैमाने पर बाहर की मदद की जरूरत होगी। सबसे पहले तो उसे बड़े पैमाने पर फौरन ही एक-दो महीने के भीतर गेहूं के बीज देने होंगे, नहीं तो बुआई का काम नहीं होगा। फिर जबतक अच्छी फसल नहीं हो जाती, जो अगली बरसात के बाद ही हो सकती है—तबतक वहां अकाल की स्थिति नहीं तो अनाज की कमी तो जरूर रहेगी। वहां सरकार द्वारा गल्ले की दुकानें खोली गई हैं, जहांपर मुकर्रर दामों पर अनाज मिलता है, लेकिन लोगों की शिकायत है कि इन दुकानों में गल्ला ही नहीं है और इसलिए उन्हें खाली हाथ लौट जाना पड़ता है।

लेकिन गल्ले की कमी के अलावा, इसके लिए एक अच्छे संगठन का

प्रशासन की जरूरत है, क्योंकि इन दुकानों की संख्या हजारों में है और लोग मुझे बताते हैं कि वह आदमी बड़ा बहादुर या साहसी होगा, जो बिहार में मजबूत प्रशासन कायम कर सके। इन सब बातों से वहां की दुरवस्था का पता चलता है। केवल एक बात अच्छी है, जिससे कुछ आशा होती है और वह यह कि कांग्रेस के भीतर सभी दलों ने श्रीबाबू में विश्वास प्रकट किया है और अपने सहयोग और समर्थन का वचन दिया है। यदि सभी लोग अपनी पार्टी के लिए नहीं, बल्कि लोगों की सेवा के लिए उत्साह से और मिल-जुल करके काम करें तो बहुत-कुछ हो सकता है।

—राजेंद्र प्रसाद"

भारत की खाद्य-समस्या के संबंध में राजेंद्रबाबू के कुछ सुनिश्चित विचार थे और कुछ सुझाव भी। भारतीय किसान का मानस वह बड़ी अच्छी तरह पहचानते थे और उसकी कठिनाइयों को भी जानते थे। भारत की भौगोलिक और आर्थिक स्थिति को सामने रखकर वह मनोवैज्ञानिक धरातल पर भी उसका हल ढूंढ़ने का यत्न करते थे। साथ ही उसका वास्तविक और व्यावहारिक निदान बताते थे। शहरों के लोगों की खाद्य-समस्या का निरूपण करते हुए और गांव के किसानों के संबंध में, जो शहर के लोगों का पेट भरकर स्वयं भूखे रहते हैं, राजेंद्रबाबू ने कितनी मार्मिक युक्ति दी है :

४–७–१९५८

प्रिय ज्ञान,

खाद्य का प्रश्न एक अत्यंत महत्वपूर्ण समस्या है, जिसमें प्रत्येक की रुचि है। इस समय हमें दूसरे देशों से बहुत-सा अन्न मंगाना पड़ता है। यद्यपि अभी मेरे सामने आंकड़े नहीं हैं, फिर भी मेरा विश्वास है कि इस आयात से हमें शहरी जनता की आवश्यकता ही पूरी करनी होती है और गांव के लोग जो वास्तव में अनाज अथवा खाने की दूसरी चीजें पैदा करते हैं, अपने लिए इतना जरूर पैदा कर लेते हैं, जिससे उनका पेट भर सके। यदि हम यह मान लें कि हमारी शहरी आबादी तीन करोड़ है और

प्रत्येक व्यक्ति के खाने के लिए करीब १२ औंस प्रतिदिन चाहिए, तो इस शहरी आबादी के लिए हमें ३५ लाख टन अनाज की आवश्यकता होगी। यह अनाज या इससे कुछ ही कम हमें प्रतिवर्ष बाहर से आयात करना पड़ता है। इसलिए यदि हम अपने खेतिहरों को या किसानों को शहरी लोगों के लिए तैयार कर सकें तो हमारी समस्या हल हो जायगी। किंतु किसान औरों के लिए लाखों टन अनाज पैदा करें, इस बात के लिए उन्हें तैयार करना आसान नहीं, जबतक कि उन्हें इससे स्वयं लाभ नहीं होता।

हमारी देहाती आबादी भी बहुत संपन्न या खाती-पीती नहीं है। हो सकता है कि अतिरिक्त पैदावार का इस्तेमाल पहले उन्हीं ग्रामीण लोगों के लिए हो जो इस समय खाली पेट या अधभूखे रहते हैं। जब देहातियों की अपनी जरूरत पूरी हो जायगी तभी बचा हुआ अनाज शहर के लोगों के लिए मिल सकेगा। यदि इस समय पैदा किये जानेवाले अनाज में से कुछ मिल जाता है तो वह गांव के लोगों या पैदा करनेवाले किसानों को भूखा रखकर ही मिलता है अथवा किसी-न-किसी प्रकार उन्हें अनाज देने के लिए उकसाया जाता है, जो यदि उनका बस चले तो वे अपने ही खाने के लिए रखना चाहेंगे। अधिक अनाज पैदा करने के हमारे प्रयत्न तभी सफल होंगे, जब यह काम किसान के लिए उसी प्रकार लाभदायक होगा, जिस प्रकार कारखानों में माल तैयार करना मजदूरों और मालिकों के लिए लाभदायक है। दुर्भाग्य से शहरों की आबादी बढ़ रही है और समस्या अधिकाधिक कठिन होती जा रही है।

—राजेंद्र प्रसाद

राजेंद्रबाबू खाद्य की समस्या को कितना समझते थे और उनके द्वारा किया गया समस्या का यह विश्लेषण कितना व्यावहारिक और यथार्थ है, यह विदेशों से अनाज के आयात के संबंध में व्यक्त उनके विचारों से प्रमाणित होता है। उन्होंने कभी ऐसा नहीं सोचा कि आयात की मात्रा देश में ही पैदा कर देने से अन्न का आयात सहसा बंद किया जा सकता है। अपने अनुभव और ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं के आधार पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया था कि जो टन आयात रोकने के लिए हमें

चार टन अनाज पैदा करना होगा। एक बार खाद्य-मंत्री श्री अजित-प्रसाद जैन से बात करते हुए उन्होंने कहा था कि विदेशों से अनाज का आयात बंद करना और एक ऋण की अदायगी करना बराबर है। यदि किसीको एक हजार का ऋण चुकाना हो तो प्रायः एक हजार रुपया प्राप्त हो जाने पर भी पूरा ऋण नहीं चुकाया जाता, क्योंकि भविष्य का विचार करके उसे अपने उपयोग के लिए भी रखना होता है और फिर मानव-प्रवृत्ति ऐसी है कि रुपया हाथ में आते ही ऋण की समस्या उसे कुछ आसान हुई जान पड़ती है और उस समय आराम से ऋण चुकाने में उसे कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती। यही हाल खाद्य के आयात का है। जब हम उतना ही अतिरिक्त अनाज पैदा करने लगेंगे जितना बाहर से मंगाते हैं, तो निश्चय है कि इस अन्न का कुछ अंश हम अपने ही उपयोग के लिए रखना चाहेंगे। इसी विचार को उन्होंने एक पत्र में कितने अच्छे शब्दों में रखा है :

५-७-५८

"प्रिय ज्ञान,

देश में अनाज की समस्या के बारे में मैं जितना अधिक सोचता हूं वह उतनी ही अधिक पेचीदा दिखाई देती है। एक बात स्पष्ट है। हमारी यह आशा कि देश में ही अधिक अनाज पैदा करके हम विदेशों से आयात रोक सकेंगे, भ्रामक सिद्ध होगी, कम-से-कम निकट-भविष्य में तो यह स्वप्न मात्र रहेगा। जबकि एक तरफ आबादी बराबर बढ़ रही है और दूसरी तरफ सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा के स्तर में सुधार होने से मृत्यु-संख्या घट रही है, यह स्पष्ट है कि खानेवालों की संख्या में भी दिनोंदिन वृद्धि हो रही है। खेती के लिए भूमि सीमित है और अधिक भूमि ऐसी नहीं बची है जिसे जोतकर हम बहुत लाभ उठा सकें। इसलिए अधिक अनाज पैदा करने का एकमात्र उपाय सघन खेती है; तो भी हम अपनी बढ़ती हुई मांगों को आसानी से पूरा कर सकेंगे, यह निश्चित या असंदिग्ध नहीं। हमारे पूरे प्रयत्नों के बावजूद अनाज की पैदावार में वृद्धि की दर उतनी नहीं हो पाई है, जितनी आबादी की; किंतु इस संबंध में हमें यह भी नहीं भूलना

चाहिए कि केवल सघन खेती से ही उत्पादन नहीं बढ़ता, लेकिन परती पड़ी जमीन को जोता जाय और उससे भी अधिक सिंचाई के साधनों और तरीकों को सुधारना भी बहुत आवश्यक है।"

खेती की समस्या को राजेंद्रबाबू वन-विस्तार, भूमि-कटाव की रोक-थाम, वर्षा आदि की समस्याओं से अलग नहीं समझते थे। उसी पत्र में उन्होंने लिखा है :

"निर्वनीकरण से यह समस्या और भी जटिल बन जाती है। जंगलों को काटकर साफ की गई भूमि में खेती करने से लाभ की अपेक्षा नुकसान की अधिक संभावना है। जंगलों को काटने से एक ऐसी स्थिति आ जाती है—हमारे देश में शायद यह पहले ही आ चुकी है—जब निर्वनीकरण का प्रभाव वर्षा पर पड़ता है। यदि ऐसा हो तो इसका प्रभाव खेती पर ही नहीं, नदियों, नहरों, जल-कूपों, तालाबों और सिंचाई के सभी साधनों पर पड़ता है, क्योंकि ये सभी वर्षा पर ही तो निर्भर करते हैं।

—राजेंद्र प्रसाद"

इस प्रकार खेती-बाड़ी और उत्पादन में आत्मनिर्भर होने की समस्या के प्रति उनका दृष्टिकोण समन्वय और सम्मेलन का था। सुधार की छोटी-से-छोटी योजना को भी वह महत्वपूर्ण मानते थे। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी जानते थे कि किसान को पूरी तरह शिक्षित और जागरूक किये बिना आधुनिकीकरण का कोई भी प्रयास चमत्कार पैदा नहीं कर सकता। समस्या की गंभीरता और तात्कालिक आवश्यकता दोनों की ही छाप उनके विचारों पर थी।

एक ग्रामीण व्यक्ति की तरह उन्हें खेती और फसलों की याद प्रायः आती रहती थी। एक बार जब वह स्पेशल ट्रेन से हैदराबाद जा रहे थे, रास्ते में आगरा और ग्वालियर के बीच चंबल के दोनों ओर की घाटियों को देखकर कुछ चिंतित और गंभीर हो गये। मेरे पूछने पर उन्होंने बताया कि वह इस विस्तृत भू-भाग के उद्धार की योजना पर विचार कर रहे थे।

इस समय चोरों और डाकुओं को शरण देने के सिवाय ये घाटियां और किसी काम की नहीं, उन्होंने कहा। यदि यहां-वहां इन्हें समतल कर दिया जाय और इसे खेती के काम में लाया जाय तो यह उर्वरा भूमि बहुत अनाज पैदा कर सकती है। कुछ भाग पर वन उगाये जा सकते हैं और अधिकांश भाग खेती के लिए सुरक्षित कर इन्हीं लोगों के बीच बांटा जा सकता है जो जीविका के साधनों की कमी के कारण चोरी और डकैतियां करते हैं। इस प्रकार, उनका विचार था कि चंबल घाटी के उद्धार से दो काम निकाले जा सकते हैं—अनाज की पैदावार में वृद्धि और डाकुओं की समस्या का समाधान।

हैदराबाद पहुंचते ही उन्होंने प्रामाणिक आंकड़े और संबंधित जानकारी प्राप्त की और प्रधान-मंत्री तथा खाद्य-मंत्री को एक विस्तृत नोट लिखा। दिल्ली-वापसी पर भी इस योजना की चर्चा की। जब श्री अजितप्रसाद जैन के बाद श्री एस० के० पाटिल खाद्यमंत्री बने, बाबूजी ने उनसे भी इस योजना को चालू करने का आग्रह किया। इसीके परिणामस्वरूप केंद्र, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश की सरकारों ने चंबल घाटी के उद्धार का काम आरंभ किया। यह योजना इस समय काफी आगे बढ़ चुकी है। अभी हाल ही में मध्यप्रदेश सरकार ने एक और घोषणा भी की है कि यदि केंद्रीय सरकार खर्च वहन करे तो पूर्वी पाकिस्तान से आए हुए हिंदू शरणार्थियों को बसने के लिए मध्यप्रदेश-सरकार यह जमीन देगी।

इस दिशा में राजेंद्रबाबू एक और दृष्टिकोण से भी सोचते थे। उनका यह स्वभाव था कि पारिवारिक समस्या के हल की तरह ही वह देश की समस्या का हल ढूंढ़ने का प्रयत्न करते थे। उदाहरण के लिए सहकारी खेती के संबंध में उनकी यह धारणा थी और वह अक्सर कहा करते थे कि हमारे देश में अभी तक परिपाटी कुछ-कुछ ऐसी रही है और भूमि के प्रति किसान का मोह भी ऐसा होता है कि वह सहकारी खेती के लिए बहुत उत्साह नहीं रखता। इसलिए सरकार को पहले यह करना चाहिए कि उन किसानों के सामने क्रियात्मक उदाहरण रखकर उन्हें प्रेरित करे। पहले स्वयं सहकारी खेती को सफल बनाये। हमारा किसान रूढ़िवादी भले ही हो, पर उसमें अपना भला-बुरा सोचने की अक्ल बहुत होती है और एक बार यदि उसे यह

विश्वास हो जाय कि इसके द्वारा उसे व्यक्तिगत लाभ भी बहुत होगा तो फिर वह पूरे दिल से इस तरीके को अपना लेगा। इस उदाहरण को प्रस्तुत करने के लिए भी उनका यह आग्रह था कि चंबल घाटी को सरकार सहकारी खेती के लिए काम में लाये। उन्होंने हमारे स्व० प्रधान मंत्री नेहरूजी से भी इस संबंध में दो-चार बातें कीं और जवाहरलालजी को उनका सुझाव पसंद आया और वह इसके कायल थे। आज दोनों ही नेता हमारे बीच नहीं हैं, पर हमारी जनता का और नीति-संचालकों का विश्वास उनके अभिव्यक्त विचारों और सुझावों में अभी भी वैसा ही बना है। राजेंद्रबाबू के इन व्यावहारिक सुझावों और क्रियात्मक मार्ग-दर्शन से आज भी हम लाभ उठा सकते हैं और दिन-प्रतिदिन गंभीर बनती हुई जटिल खाद्य-समस्या को सरल बना सकते हैं।

११ | गांधीजी तथा उनकी विचार-धारा में आस्था

गांधीजी तथा उनकी विचारधारा में राजेंद्रबाबू अटूट निष्ठा रखते थे और गांधीजी के आदर्शों के अनुरूप वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन को विकसित करने के आकांक्षी थे। उन्होंने उन आदर्शों को अपने जीवन का अंग बनाया और उस रास्ते पर सारे देश को चलाने का प्रयत्न किया।

गांधीजी के उत्सर्ग तथा बाद की घटनाओं ने बाबूजी को बड़ी पीड़ा पहुंचाई। उस पीड़ा को उन्होंने अनेक भाषणों और पत्रों में व्यक्त किया। यहां कुछ ऐसे पत्र दिये जाते हैं, जिनसे पता चलता है कि अहिंसा की शांति को वह कितना महत्व देते थे और उसके क्षीण पड़ने पर उनकी आत्मा कितनी बेचैन होती थी।

३१-८-५८

प्रिय ज्ञान,

अब्दुल बारी एक बड़े अच्छे राष्ट्रीय विचारवाले कांग्रेसी कार्यकर्त्ता बिहार में थे। जब १९२० में असहयोग आंदोलन का आरंभ हुआ, वह एम० ए० पास कर चुके थे। इतिहास उनका विषय था और परीक्षा में अपने वर्ष में उन्होंने बहुत ऊंचा स्थान पाया था। वह शायद किसी कालेज में अध्यापन का काम आरंभ कर चुके थे। बिहार विद्यापीठ की स्थापना हुई और वह आकर उसमें शरीक हुए और इतिहास पढ़ाने लगे। उनका मुस्लिम इतिहास का अच्छा अध्ययन था। उस समय हम सभी विद्यापीठ में पढ़ाते थे और साथ ही कांग्रेस का काम भी किया करते थे। प्रोफेसर अब्दुल बारी के नाम से वह शीघ्र विख्यात हो गये और हम सब बराबर एक साथ दौरों पर जाने लगे। जब परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी लोगों का मतभेद हुआ तो वह परिवर्तनवादियों में थे और यद्यपि मैं दूसरे दल में था, हम

दोनों का पारस्परिक संबंध ज्यों-का-त्यों बना रहा। कांग्रेस के काम में हम लोग अपने-अपने तरीके से लगे रहे और इस तरह काम १९३० तक चलता रहा, जब महात्माजी ने बड़े पैमाने पर सत्याग्रह छेड़ा। मुझे दो-तीन घटनाएं याद हैं, जिनसे उनकी निर्भीकता, खतरे में पड़ने की उत्सुकता और देश-प्रेम तथा कार्यक्रम में अटल विश्वास साफ जाहिर होते हैं। अप्रैल का महीना था और सत्याग्रह छिड़ गया था। नमक-कानून तोड़ा जाने लगा था। पटने शहर में मेरी गैरहाजिरी में लोगों ने निश्चय किया कि जलूस बांकीपुर से शहर तक जायगा और वहां कुछ लोग नमक बनाकर कानून तोड़ेंगे। इस तरह केवल ५ लड़कों का बाजाब्ते जलूस निकला, क्योंकि इस तरह के जलूस की मनाही थी। जब वह थाने के नजदीक होकर सुलतानगंज से गुजरा तब पुलिस ने मारपीट कर उसे तितर-बितर कर दिया। इसपर जनता ने दूसरा जलूस निकाला, उसे भी तितर-बितर किया गया और जलूस निकालने और उसको मार-पीटकर भंग करने का सिलसिला जारी हो गया। जलूस सुलतानगंज तक नहीं जाने पाता था, पटना-कालेज के नजदीक ही रोका जाता था। कभी मारपीटकर तितर-बितर किया जाता था, कभी गिरफ्तार कर लिया जाता, कभी पुलिस रास्ता रोककर खड़ी हो जाती थी और घंटों, इस प्रकार जलूस सड़क पर खड़ा रह जाता था। रात हो जाने पर सड़क पर सो जाते थे और पुलिस खड़ी रहती थी। जलूस में तो पांच ही आदमी हुआ करते थे, पर तमाशा देखने के लिए हजारों आदमी जमा हो जाते थे। मैं पटने पहुंचा और मुझे खबर मिली कि उस रात को सड़क पर लड़के सोये हुए थे और मुहल्लेवालों ने बिस्तरा खान-पान इत्यादि का प्रबंध कर दिया था। दूसरे दिन से और जोरों से काम होने लगा। अब पुलिस जलूसवालों को छोड़कर जमा हुए लोगों पर ही हमला करती और लाठियों से पीटती। इस काम में कुछ बलूची मुसलमान सवार पुलिस की ओर से लगाये गए थे। दोपहर को जलूस के साथ अब्दुल बारी के साथ मैं भी गया। पुलिस ने जमा हुए लोगों पर लाठियों का प्रहार करके उन्हें तितर-बितर किया। मैं भी था, पर मुझपर लाठी नहीं चलाई। अब्दुल बारी बहुत लंबे और तगड़े थे। उनको कई लाठियां लगीं, पर वह हटे नहीं। बलूची सिपाहियों में से उनमें एक ने बातें शुरू कर दीं। उनकी लंबी दाढ़ी देखकर वह उनको मुसलमान

[illegible] गये और पूछा, "मौलवी, तुम इसमें कैसे आ गया ?" उन्होंने उत्तर दिया, "अल्लाह ने तुम्हारे लिए भेज दिया।" इसपर वह चुप हो गया और उसके वाद उनपर वार नहीं किया। इससे उनकी निर्भीकता का तो पता चलता ही है, पर अहिंसा जिस प्रकार काम कर रही थी, उसका भी पता चला। विहार में वलूची सवार खास करके इसलिए कुछ वरसों से गवर्नमेंट ने रखे थे कि वे जनता के संपर्क में नहीं आ सकेंगे और आवश्यकता पड़ने पर क्रूरता के साथ जनता के साथ व्यवहार भी कर सकते थे। पर घटना का वह असर हुआ कि वलूची सिपाहियों की क्रूरता कम हो गई और जहां वे मारपीट करते भी थे तो कुछ वचाकर।

अन्य एक घटना वीहपुर में हुई। वहां भी हम दोनों औरों के साथ जलूस देखने के लिए--उसमें शरीक होने के लिए नहीं—प्राय: २५ हजार लोगों के साथ खड़े थे। पुलिस ने वार किया और मुझे भी कुछ लाठी लगी, पर अब्दुल वारी को वहुत जोरों से लगी और वह प्रायः वेहोश होकर गिर गए। पीछे एक पुलिसवाले ने ही मुझसे कहा कि पुलिसवालों में ही दो दल हो गए—एक जो मारना चाहता था और दूसरा जो केवल दिखावे के लिए लाठियां गांजता था। मारनेवाले ने जव अब्दुल वारी को मारकर गिरा दिया तव दूसरे दलवाले ने उन सिपाहियों को ही दो-चार लाठियां लगा दीं और अब्दुल वारी पर लगनेवाली लाठी, जिससे वह शायद खत्म भी हो जाते, वेकार रह गई। मालूम हुआ कि जव जलूस भगा देने का काम खत्म हो गया तो जिन सिपाहियों ने दूसरे सिपाहियों को ही पीटा था अपने वचाव के लिए पहले ही अंगरेज अफसर के पास गये और कहा कि ये नये सिपाही लाठी चलाना नहीं जानते और जलूस के लोगों पर लाठी लगने की जगह आपस में ही एक-दूसरे पर लाठियां वजा देते हैं। उसके वाद चोट खाये हुए सिपाहियों ने नालिश की कि दूसरों ने उनको जानवूझकर पीटा है। अंगरेज अफसर सारी वातें समझ गया, पर जहां २५-३० हजार जनता की भीड़ में १०-१५ सिपाही लाठी चला रहे थे, उसने उनमें झगड़े का फैसला न करके पीटनेवाले दस्ते को भागलपुर भेज दिया। उन लोगों से ही गंगा के किनारे स्नान करने के समय मुलाकात हुई तो उन्होंने यह सारा किस्सा वताया। इससे भी अब्दुल बारी की निर्भीकता और अहिंसा की

करामात का पता चलता है। इस तरह के सच्चे [illegible] कम मिलते हैं और आज तो शायद ही उनकी खबर भी कोई रखता है या जानता भी है।

—राजेंद्र प्रसाद

एक बार राजेंद्रबाबू अखबार पढ़ रहे थे और पढ़ते-पढ़ते एकदम रुक गये। मैं उनके पास बैठी थी। उनके चेहरे पर दुःख और चिंता की रेखाएं उभरती चली गईं और उन्होंने अखबार एक ओर रख दिया। उसी दिन उन्होंने एक पत्र प्रधान मंत्री और गृहमंत्री को भी लिखा, किंतु शायद इससे भी उनकी वेदना कम न हुई। इसी व्यथित भाव को मेरे नाम अपने नित्य के पत्र में उन्होंने व्यक्त किया :

३–५–५९

प्रिय ज्ञान,

पिछले कुछ दिनों से मैं रेडियो पर अथवा अखबारों में कलकत्ते में चल रहे आंदोलन और अभियान के बारे में खबरें सुनता और पढ़ता हूं। वहां कभी बढ़ती हुई कीमतों या और कभी और किसी बात को लेकर ऐसे जलूस निकलते हैं। इन वारदातों से मैं तंग आ गया हूं। कोई दिन ऐसा नहीं जाता जब बड़े जलूस न निकलते हों, हुल्लड़बाजी न होती हो और जहां पुलिस लाठी न चलाती हो या फिर अश्रुगैस छोड़कर भीड़ को हटाने का प्रयत्न न होता हो और यहां तक कि कई बार तो गोली भी चलाई जाती है। सैकड़ों को गिरफ्तार किया जाता है और कई घायल हो जाते हैं और कई गोली के शिकार हो जाते हैं। न जाने कबतक अपने देश में हम इन सब वारदातों को होते और देखते रहेंगे। दोष किसीका भी हो, सत्य यह है कि हमारे अपने भाई-बहन, खास करके लड़के ही, अधिकतर इनके शिकार बनते हैं। सन् १९४३ में जब भयंकर अकाल पड़ा था, उस समय मैंने अखबार पढ़ना ही छोड़ दिया था जिनमें उन अकाल-पीड़ितों का रोमांचकारी वर्णन किया जाता था कि किस तरह वे सड़क पर मरे और उनकी कैसी दुर्दशा हुई। मुझे डर है कि अब भी शायद ऐसा समय न आ

जाय जब मुझे वैसा ही करना पड़ जाय। मेरी यही आशा और प्रार्थना है कि स्थिति उस हद तक खराब न हो और जिस भयंकरता की मैं कल्पना करता हूं वह केवल कल्पना रहे, सच साबित न हो।

—राजेंद्र प्रसाद"

बाबूजी की यह दुविधा जारी ही रही और हिंसा भी चलती रही। हिंसा की भयंकर-से-भयंकर परणति तो तब हुई जब एक ओर स्वाधीनता के सूर्योदय की लालिमा को विभाजन के काले बादलों ने ढंककर धुंधली बना दिया था और दूसरी ओर भीषण वैमनस्य के रक्त-रंजित हाथ इतनी दूर तक पहुंचे कि उन्होंने अहिंसा के देवदूत गांधी को भी अपने शिकंजे में दबोच लिया। गांधीजी तो शहीद हो गए और उन्हींके साथ शायद अहिंसा भी शहीद हो गई। इसका मार्मिक वर्णन बड़े दुःखी हृदय से राजेंद्र बाबू ने अपने एक पत्र में किया है :

२६–६–५६

प्रिय ज्ञान,

चारों ओर हिंसा का तांडव नृत्य है और जब किसी महान व्यक्ति का खून होता है या गोली चलाकर उसे मार दिया जाता है, तो हमें उसके भयंकर रूप का दर्शन होता है। पिछले दस-ग्यारह वर्षों में हमने अपने और अन्य देशों में महात्मा गांधी-जैसे अहिंसक नेता से लेकर अनेक महापुरुषों की हत्या की दुःखद हिंसक घटनाएं देखी हैं। १६४८ में गांधीजी की हत्या हुई। उसके कुछ वर्ष बाद पाकिस्तान के प्रधान मंत्री की हत्या कर दी गई और अब सिलोन के प्रधान मंत्री का भी खून कर दिया गया। मैं यहां उन आंदोलनों और क्रांतियों का जिक्र नहीं कर रहा, जो अन्य देशों में हुई और जो सफल या विफल हुई और जहां बहुत खून-खराबा हुआ। न जाने मनुष्य स्वयं अपने पैदा किये हुए और बराबर बने रहनेवाले इस हिंसा के भूत और डर से अपनेको कब मुक्त कर सकेगा। अपने स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान हमने भारत में अहिंसक आंदोलन का अद्भुत उदाहरण पेश किया है। फिर भी मैं नहीं कह सकता कि हम अहिंसा के तत्त्व को पूरी तरह

समझ भी पाये हैं या नहीं, और मौका आने पर हम कसौटी पर खरे उतर सकते हैं या नहीं। ठीक उस समय, जबकि हम सफलता की देहली पर खड़े थे, जिस महान नेता ने हमें विजय की उस मंजिल तक पहुंचाया था, उसी के खून से उसे अपवित्र कर दिया। यह कैसी दुःखद घटना है!

—राजेंद्र प्रसाद

इसी व्यथित हृदय से बाबूजी अपने मन और अपने जीवन के अंदर झांकते। स्वयं अपने जीवन से उन्हें संतोष नहीं होता था तो देश के जीवन की गति से कैसे होता? वह सोचने लगते कि क्या वह दिन भी कभी आयेगा जब हम न सही, और लोग ही गांधीजी के आदर्शों और सिद्धांतों को हमारे सामने रखेंगे और तब हम उनको अपनायेंगे? इसमें भी उन्हें संदेह था। इस संदेह से जो वेदना उनके हृदय में जगती, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकती। मैंने अनेक प्रसंगों पर बाबूजी को नतमस्तक हो अपने में ही डूबा पाया है और जिसे वह कह न पाते, कभी मुंदी आंखों से ढलकी हुई आंसू की बूंदें उसे व्यक्त कर देतीं। एक ओर बापू की याद उमड़ती, दूसरी ओर गांधीजी के बताये रास्ते से भटके हुए देश के लिए उनकी आत्मा कराहती। गांधीजी की बरसी के दिन वह वेदना इन शब्दों में फूट पड़ी :

प्रिय ज्ञान,

महात्मा गांधी की यह ग्यारहवीं बरसी है। हमेशा की तरह मैं सुबह राजघाट की प्रार्थना-सभा में शरीक हुआ। वहां किसीने एक भजन गाया, जिसकी एक पंक्ति से दिन-भर मेरे हृदय में विचारों की शृंखला-सी बंध गई। भजन में कहा गया था "हमने गांधीजी पर गोली चलाई; संपूर्ण समुद्र के आंसू भी इस कलंक को नहीं धो सकेंगे; गंगा का जल भी कलंक के इस गहरे लाल दाग को नहीं धो सकेगा।"

मुझे कभी-कभी यह विचार आता है कि क्या हमने ग्यारह साल पहले केवल एक ही बार उनकी हत्या की? क्या हम दिन-प्रतिदिन उनकी हत्या नहीं करते रहे? मैं अपने ही बारे में सोचता हूं और महसूस करता हूं कि

आज मैं उनसब बातों से कितना दूर हूं, जो उन्होंने हमें सिखाई और जिनका स्वयं जीवन में अभ्यास किया। क्या यह उनके खून करने के बराबर नहीं है, विशेषकर तब, जबकि यह माना जाता है कि हम उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और इससे भी बुरा तो यह है कि जब लोग तथ्यों को जाने बिना मुझपर भरोसा करके इसके लिए मेरी प्रशंसा करते हैं और मैं उसे स्वीकार करने को तैयार रहता हूं। मैं दूसरों के बारे में कुछ नहीं कहना चाहता, क्योंकि मैं दूसरों का निर्णायक नहीं बन सकता, और यह गलत है कि हम दूसरों के निर्णायक बनें। अतः इस बात के लिए मैं केवल अपने-आपको ही दोषी ठहराता हूं कि जैसा गांधीजी चाहते थे उस प्रकार का जीवन हम नहीं बिता रहे। इसके लिए अपने-आपको माफ करने या कहूं तसल्ली देने का एक ही बहाना है कि साधुओं को धोखा सबसे अधिक अपने निकटतम व्यक्तियों से ही हुआ है और उन्होंने सम्मान सदा दूसरी जगह पाया है। यह उदाहरण इस हद तक चरितार्थ हुआ है कि उसके लिए यह कहावत ही बन गई कि "घर का जोगी जोगना आन गांव का सिद्ध।" मुझे लगभग यही बात गांधीजी के बारे में भी चरितार्थ होती हुई नजर आती है, क्योंकि मेरी आंखों के सामने यह दृश्य उपस्थित हो रहा है, मानो दूसरे देशों के लोग गांधीजी को हमसे ज्यादा अपना रहे हैं और उनकी अत्यधिक प्रशंसा करते हैं। एक दिन आयेगा जब वे लोग गांधीजी को और उनके सिद्धांतों को हमारे सामने उन्हें स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत करेंगे। यदि ऐसा हुआ तो क्या तब भी हम उन्हें स्वीकार करेंगे ?

—राजेंद्र प्रसाद

राजेंद्रबाबू सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति थे, किंतु वह मानते थे कि यह राम बाण दवा उन्हें गांधीजी से प्राप्त हुई है। इसीके कारण वह जीवन में अजातशत्रु बने रहे, जीवन में कड़वी-से-कड़वी घूंट भी वह अमृत मानकर पी ही नहीं गए, उसे पचा भी गए। किंतु बापू की सहिष्णुता अमरत्व पा गई। जीवन का बलिदान देकर उनकी सहिष्णुता ने देश में सांप्रदायिक एकता की ज्योति जगाने का प्रयास किया। राजेंद्रबाबू का विश्वास था कि यह ज्योति मंद भले ही हो, पर बुझेगी नहीं। उनका यह भी विश्वास था कि

गांधीजी का बलिदान व्यर्थ नहीं जायेगा और इसीलिए उन्होंने बापू के बलिदान-दिवस पर देशवासियों को इस महान बलिदान की याद दिलाई है, मार्मिक शब्दों में एकता का संदेश दिया है :

३१-१-५७

प्रिय ज्ञान,

तीस जनवरी गांधीजी के बलिदान का दिन है और इसी रूप में वह मनाया जाता है। आज मुझे वे बातें याद आती हैं जो यदा-कदा वह हमें कहा करते थे। हम जानते हैं कि स्वभाव से वह एक बागी थे और कभी भी अन्याय या हुकूमत के दबाव में नहीं आते थे। कठिनाइयों और विपत्तियों में वह हिमालय की तरह अडिग रहते थे। समाज-सुधार के अपने अनेक प्रयोगों में उन्होंने पुराने रीति-रिवाजों और अंधविश्वासों का विरोध किया जिसके परिणामस्वरूप उन्हें कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। लेकिन जैसाकि वह हमें चम्पारन में कहा करते थे, सहिष्णुता ही उनकी एकमात्र शक्ति अथवा रामबाण दवा थी। उसीपर उनका भरोसा था और एक बार कार्य के न्यायसंगत होने का विश्वास हो जाने पर वह कैसे भी विरोध का मुकाबला करने को तैयार रहते थे। इस प्रकार हमने देखा कि अस्पृश्यता-निवारण का विरोध न केवल व्यापक और गहरा था, बल्कि लोगों में अस्पृश्यता इतनी घर कर गई थी कि उसके कारण कई जगह इस विरोध ने हिंसक रूप भी ले लिया। इसी वजह से एक बार पूना में जब गांधीजी जा रहे थे तो उनपर बम भी फेंका गया, भाग्य से वह बाल-बाल बच गए। देवघर में उनपर कड़ा लाठी-प्रहार हुआ और उनके अनुयायी तथा सहयोगी बड़ी मुश्किल से उन्हें बचा सके। दक्षिण अफ्रीका में वह अपने अनुयायियों में से एक के शिकार हो गए थे, जिसने उनके सिद्धांतों और कार्य को गलत समझा और एक दिन उनका खून करने पर उतारू हो गया।

मैं जब भी उनके जीवन की इन तथा ऐसी ही अन्य घटनाओं को याद करता हूं तो मुझे वे बातें भी याद आती हैं, जो उन्होंने कई बार हमसे कही थीं। उन्होंने कहा था, "तुम लोग मेरे कार्य की सराहना करते हो और मेरा अनुसरण करते हो। मैं तुम्हारे कार्य की कद्र करता हूं। लेकिन मैं

जानता हूं कि यदि एक बार तुम्हारे हाथ में सत्ता आई, तो तुम ही लोग मुझे सहन नहीं करोगे और हो सकता है कि तुम मुझे मार डालो।" हमने सोचा कि इस कथन का कारण यह हो सकता है कि उनके अनुयायियों द्वारा किये गए किसी भी अन्याय तथा गलत कदम का गांधीजी द्वारा विरोध उस विरोध से भी भयंकर या कड़ा होगा, जो उन्होंने विदेशी सत्ता को हटाने के लिए किया और उनके अपने ही आदमी इस प्रकार के विरोध के आदी न होने के कारण उसे बर्दाश्त नहीं कर पायंगे। और वास्तव में देखा जाय तो वही हुआ। गोडसे एक पागल आदमी नहीं था, बल्कि उसने उस विरोध का प्रतिनिधित्व किया जो मुसलमानों के साथ गांधीजी के व्यवहार और हिंदुओं के प्रति तथाकथित अन्याय का विरोध था। वह हिंदुओं की असहिष्णुता ही थी, जिसने गोली दागी और गांधीजी को मार डाला। यह दूसरी बात है कि हिंदू समाज का अधिकांश भाग उस असहिष्णुता का भागी नहीं है, पर एक बहुत छोटा-सा तबका है––यदि उसे तबका कहा जा सके तो––जिसमें इस प्रकार का पागलपन व्याप्त था; किंतु इस तथ्य से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता कि ऐसे कुछ लोग थे, जिनके दिमाग में ये विचार थे और इसमें शक नहीं कि गोडसे अकेला नहीं था, पर वह उस असंतुष्ट समुदाय का अगुआ था। यदि देश के विभाजन के पहले और बाद की घटनाओं को याद किया जाय तो एक समुदाय में भी इस प्रकार की पागल भावना को देखकर आश्चर्य नहीं होगा। लेकिन उस सबको भूल जाना ही बेहतर है। हमें केवल गांधीजी के महान बलिदान को और सांप्रदायिक एकता के लिए उन्होंने जो कुछ किया, उसे ही याद रखना चाहिए।

––राजेंद्र प्रसाद

एक और पत्र में भी उन्होंने इसका स्मरण किया और कराया है :

४–१–५६

प्रिय ज्ञान,

'बिहार की कौमी आग में' नामक श्रीमती मनु गांधी द्वारा लिखित

पुस्तिका पढ़ते-पढ़ते मन में वे बातें याद आने लगीं, जो १९४७ में देश में हुई थीं। कुछ दिनों के बाद यदि उन दिनों के कुकृत्यों को कोई पढ़ेगा तो उसे आश्चर्य होगा कि जो लोग न मालूम कितने दिनों से एक साथ रहते आये थे वे एक-दूसरे के प्रति इस प्रकार के पाप कैसे कर सके! पर मनुष्य जब गुस्से में पागल हो जाता है तो वह कुछ भी कर सकता है, क्योंकि उस समय उसकी बुद्धि और विवेक बिलकुल गायब हो जाते हैं और वह केवल क्रोध का पुतला बनकर रह जाता है। जो हो, ईश्वर की दया से वे दिन भी बीत गये और सब भारतीयों को उन दिनों की घटनाओं से जो कुछ सीखने को मिल सकता है, सीख लेना चाहिए। महात्मा गांधी की अहिंसा की सचमुच अग्निपरीक्षा हुई थी और वह खरी निकली थी। यदि कहा जाय कि उन दिनों के सिलसिले में जो दुर्घटनाएं और पाप हुए, उनका ही एक स्वाभाविक फल गांधीजी की हत्या थी, तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि वह काम भी पागलपन की पराकाष्ठा थी। पर बापू तो मरकर भी अमर हो गए। उनका बलिदान इस देश में एकता कायम कर दे तो वह पूरी तरह सार्थक हो जायगा।

—राजेंद्र प्रसाद

कठिन विरोध और कड़े प्रतिकार के बावजूद विपक्षी के प्रति गांधीजी के हृदय में दुर्भावना नहीं होती थी। यही उनकी विशेषता थी और यही एकता स्थापित करने का उनका बुनियादी शस्त्र था, जो अहिंसा के हाथों में सुरक्षित था। सांप्रदायिक एकता के लिए हो अथवा ब्रिटिश साम्राज्य से लड़ने के लिए, वह इसीका उपयोग करते थे। राजेंद्रबाबू भी यही मानते थे कि हमें ऐसी ही स्थिति को प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। गांधीजी के जीवन का उदाहरण देते हुए उन्होंने इस बात की ओर हमारा ध्यान दिलाया है :

१-८-५८

प्रिय भाई,

महात्मा गांधी हमसे चम्पारन में कहा करते थे कि नीलवरों के

प्रति उनके मन में कोई बुरी भावना नहीं है, पर उन लोगों के अत्याचारों के खिलाफ उनका कड़ा विरोध है। जब उनके आंदोलन ने भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति कड़े असहयोग का रूप लिया तब भी उन्होंने उसी तरह इस बात पर जोर दिया कि साधारण रूप से अंग्रेजों के प्रति हमारे मन में कोई बुरी भावना नहीं रहनी चाहिए। उस समय ये बातें हमारी समझ में नहीं आती थीं और कई तो आज भी नहीं समझ पाते। लेकिन वे उस बुराई का कारण और उसके इलाज ढूंढ़ने में ईमानदार और सही थे, यह चम्पारन में भी स्पष्ट था। जब नील की खेती से उन लोगों को कोई बड़ा नुकसान नहीं हुआ तो वे नीलवर भी गांधीजी के प्रति मित्रभाव रखने लगे। उन लोगों ने न केवल नील का व्यापार छोड़ दिया, जिसपर कानूनी पाबंदी थी, पर वास्तव में उन्होंने चम्पारन भी छोड़ दिया। इस प्रकार उन्होंने बड़े अच्छे दामों में अपनी जमीन बेच दी और पूरे संतोष के साथ अपने घर वापस चले गए। इसी प्रकार मैं समझता हूं कि अंग्रेज भी यहां से गये और बहुत-सी बातों में जैसे अपने व्यापार आदि में उसी तरह से जमे हैं तथा भारत की सद्भावना भी उन्हें प्राप्त है, जो अमूल्य है। इसलिए गांधीजी के इस सिद्धांत की सचाई हमारे सामने स्पष्ट है, लेकिन अपने दैनिक जीवन में बुराई को बुराई करनेवाले से विलग करना तथा एक के प्रति नफरत और बुराई करनेवाले के प्रति प्रेम रखना बहुत ही मुश्किल है। हमें उस स्थिति को प्राप्त करने की कोशिश करनी है और वह अप्राप्य नहीं। अपने आस-पास इसकी झांकी पाकर मुझे खुशी होती है। यह और बढ़े, यही मेरी प्रार्थना है।

——राजेंद्र प्रसाद

राजनैतिक जीवन में भी गांधीजी मन-वचन-कर्म में सत्य का पालन करते और अपने जीवन से अन्य सभीको प्रेरित करते। सत्य के सहारे निर्भीकता स्वयं जीवन में प्रवेश कर लेती है, चाहे वह निजी जीवन हो अथवा राजनैतिक। राजेंद्रबाबू ने वर्तमान जीवन और विचारों में, कथनी और करनी में अन्तर देखकर फिर से पुरानी बातों को याद किया :

५–८–५६

प्रिय ज्ञान,

आज दोपहर एक मित्र मुझसे मिले। बातों-ही-बातों में चर्चा निकली कि राजनैतिक जीवन में मनुष्य को जोखिम उठाने के लिए तैयार रहना पड़ता है। जब हम स्वाधीनता-संग्राम में लगे थे तब हमने ऐसे जोखिमों की कोई परवा नहीं की और बहादुरी से अपने कार्यक्रम को पूरा करने में लग गए। भारत के राजनैतिक क्षेत्र में गांधीजी के आने से पहले भी यहां राजनैतिक नेता थे और इस प्रकार के भाषण भी होते थे। लेकिन विद्रोह-संबंधी कानून के लागू होने का डर हमेशा रहता था और प्रत्येक वक्ता को हर शब्द बड़ा तौल-तौलकर बोलना पड़ता था, जिससे वह मुश्किल में न फंसे। ऐसी बात नहीं है कि उनमें से कोई तकलीफ उठाने को तैयार ही नहीं था। कई ऐसे व्यक्ति थे, जो खुशी-खुशी सबकुछ तकलीफें सहने को तैयार थे। लेकिन मैं सामान्य रूप से मनुष्य-स्वभाव को ध्यान में रखकर यह कह रहा हूं। महात्मा गांधी ने परिणामों का खयाल न करके सत्य पर जोर दिया, राजनैतिक मामलों में जिसका अर्थ भारतीय दंड विधान की धारा १२४ ए की अवहेलना था। और हमने क्या किया? हम जहां भी गये, हमने क्षण-भर के लिए भी उस कानून की परवा किये बिना जो महसूस किया, वही निर्भीकतापूर्वक कहा। कई सभाओं में मैं कहा करता था कि हमने राजद्रोह-संबंधी धारा को दंड-विधान से निकाल दिया है, औपचारिक रूप से नहीं, बल्कि उसके अस्तित्व की उपेक्षा करके। जब लोग उस बात पर दृढ़ रहते हैं, जिसे वे सत्य समझें तभी ऐसा होता है। सत्याग्रह का आधारभूत रूप यही है।

वास्तविक जीवन में हमें न केवल बड़ी बातों में, बल्कि छोटी-छोटी बातों में भी सावधान रहना होता है। अधिकतर जीवन में छोटी-छोटी बातें और घटनाएं ही होती हैं। बड़ी बातें और घटनाएं तो जीवन में कभी एकाध बार ही घटती हैं, नहीं तो जीवन इन छोटी बातों से ही घिरा रहता है और छोटी घटनाएं ही जीवन को आगे धकेलती हैं। इसलिए हमें छोटी बातों में भी सचाई को बर्तना चाहिए।

जब हमारे शब्द और कार्य में समानता नहीं होती अथवा जब हमारे

कार्य हमारे शब्दों के अनुरूप नहीं होते तब उपदेश देना बड़ा आसान होता है। हमें यह आदत डालनी चाहिए कि छोटी बातों में भी हम इस बात का ध्यान रखें कि हम सचाई का पालन करें। इसके लिए हमें अपने हर शब्द और हर कार्य को तौलकर देखना चाहिए कि मन, वचन और कर्म से हम सच्चे हैं। शुरू में यह काम मुश्किल मालूम होगा, पर कुछ समय के बाद यह वैसा ही स्वाभाविक हो जायगा जैसे चलते समय स्वाभाविक रूप से ही एक कदम के बाद दूसरा कदम पड़ता है, इसी तरह हमारे शब्द और कार्य का सहज मेल होगा। सबसे ऊपर हमारे सभी कार्यों में ईश्वर भी मदद करता है, पर कुछ कसौटी लेने और परीक्षण के बाद, और जब संघर्ष चरम सीमा को पहुंच जाय। जब मैं अपने अतीत और वर्तमान पर दृष्टि डालता हूं तो अपनी कमियों और भूलों के कारण शर्म से दब जाता हूं। ईश्वर ही सहायक है।

——राजेंद्र प्रसाद

एक बार वर्धा की यात्रा के समय बाबूजी को बापू की याद ने अभिभूत कर दिया। वर्धा से आते हुए जब उनका हृदय भावों से भरा था, उन्होंने अपने मन की व्यथा इस प्रकार व्यक्त की :

ट्रेन में——झांसी
१६–८–५९

प्रिय ज्ञान,

वर्धा की यात्रा से पुराने दिनों की हजारों यादें मन में ताजा हो गईं। कई जगह और कई अवसरों पर जहां मैं गया, मुझसे 'मार्ग-दर्शन' के रूप में कुछ कहने को कहा गया। मुझे इससे बहुत संकोच हुआ और कुछ न बोलने की इच्छा के बावजूद थोड़ा-बहुत कहना ही पड़ा। मैंने महसूस किया कि मेरे शब्दों में वह उत्साह नहीं है। जो कुछ मैंने कहा, उसका श्रोताओं पर कैसा असर पड़ा, वह मैं नहीं जानता, किंतु मेरे शब्द थोथे और निरर्थक थे। मेरी लज्जा का प्रमुख कारण वर्धा, सेवाग्राम और पवनार में कुछ कहने के संबंध में मेरी अपनी अयोग्यता का अहसास था। यह स्थान बापू और

विनोवाजी के संसर्ग से पवित्र और आलोकित हो चुके हैं। मैंने महसूस किया कि इन लोगों में और मुझ-जैसे व्यक्ति में कितना अंतर है, और जो उन्होंने कहा और जो कुछ अब मैं कहता हूं, उसमें कितना फर्क है।

ऐसे ही एक अवसर पर मैंने इन भावों को व्यक्त कर दिया। गांधीजी की महानता के बारे में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए मैंने बताया कि उनके वचन और कर्म में संपूर्ण सामंजस्य होता था। मैंने बताया कि लोगों को उत्साहित करने के लिए भी वे शब्दों के आधार पर वाक-चातुर्य का सहारा नहीं लेते थे। गोलमेज सम्मेलन में अपने भाषण में उन्होंने कहा था कि यदि हरिजनों को पृथक चुनाव का अधिकार दे दिया गया तो उसके विरोध में वह अपनी जान की बाजी लगा देंगे। जब ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने यह घोषणा की कि हरिजनों को पृथक चुनाव का अधिकार दे दिया गया है तो जेल में रहते हुए भी गांधीजी ने आमरण उपवास शुरू कर दिया। इसके फलस्वरूप यरवदा जेल में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें सर्व-सम्मति से ब्रिटिश सरकार के इस फैसले को बदलने की मांग की गई, जिसे अंग्रेजों द्वारा स्वीकार कर लिया गया और तभी उन्होंने अपना उपवास तोड़ा।

इस महानता की पृष्ठभूमि में हम लोग कितने हल्के उतरते हैं!

—राजेंद्र प्रसाद

गांधीजी की जन्म-जयंती पर फिर बाबूजी को ऐसे ही विचारों ने आ घेरा। इससे मालूम होता है कि बाबूजी का हृदय इन बातों से भरा हुआ था, जो प्रसंगवश बाहर आ जाती थीं।

३-१०-५६

प्रिय ज्ञान,

कल सुबह गांधी-जयंती के उपलक्ष्य में आयोजित प्रार्थना और सूत-कताई के कार्यक्रम में भाग लेने के लिए मैं राजघाट गया। वहां स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े बड़ी संख्या में मौजूद थे। वहां की प्रार्थना, भजन, गीता और रामधुन ने मुझे पुराने दिनों की याद दिला दी। वहां का समां कुछ ऐसा था, जिससे क्षण-भर तो मुझे ऐसा अनुभव हुआ, मानो गांधीजी ही वहां

साक्षात मौजूद हों। और रह-रहकर मुझे एक विचार से दुःख होता था कि गांधीजी के इतने लंबे सान्निध्य के बावजूद मैं अपनी कमजोरियों को दूर नहीं कर सका। इस विचार से मेरा हृदय भर आया कि उनकी कृपा और आशीर्वाद ने मुझे किस ऊंचाई तक पहुंचा दिया, जिसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। लेकिन मुझे यह लिखते हुए दुःख होता है कि जीवन के उत्तर काल में, जीवन की रोजमर्रा की व्यस्त घड़ियों में, उन सब बातों को हमने भुला दिया।

यह है हमारा जीवन ! हम न केवल बुरी बातों को, बल्कि सौभाग्य से मिली अच्छी बातों को भी भूल जाते हैं। इसलिए ऐसे पुण्य दिनों को मनाना और भी आवश्यक है, जो हमें अच्छी और महान बातों की याद दिलाते हैं, और जो सद्कार्य और सही रास्ते पर चलने की प्रेरणा देते हैं। हमारे पूर्वज बुद्धिमान थे, जिन्होंने ऐसे दिनों को त्योहारों के रूप में मनाने की प्रथा डाली। गांधी-जयंती हमारी उस परंपरा के अनुरूप है, जिसके अनुसार हम महान अवतारों के जन्मदिन मनाते हैं और अपने पूर्वजों की पुण्यतिथि को श्राद्ध के रूप में मनाते हैं। एक दिन सारा संसार, और उससे भी अधिक हम लोग, और अधिक क्रियात्मक रूप से गांधी-जयंती मनाने के महत्व को स्वीकार करेंगे। उत्सव मनाने से मेरा मतलब केवल राजनैतिक अथवा सामाजिक आयोजन की अपेक्षा कुछ और है। इस उत्सव में आध्यात्मिक भावना की प्रेरणा होनी चाहिए, जो हमें ऊंचा उठाती है।

क्या तुम नहीं समझतीं कि आजकल जिस तरह हम गांधी-जयंती मना रहे हैं उसमें यह कमी है, चाहे राजघाट पर प्रार्थना-सभा करके हम वह रसम भले ही पूरी करते हों !

—राजेंद्र प्रसाद

मुझे बाबूजी के वे शब्द याद आते हैं, जो उन्होंने अपने जीवन के अंतिम दिनों में पटना में रहते हुए कहे थे और जिन्हें कहते हुए उनकी आंखों से आंसुओं की अविरल धारा बह निकली थी। बाबूजी रोते जाते थे और कहते जाते थे :

"हम तो उस दिन तक नहीं रहेंगे, पर तुम रहोगी और तुम देखोगी कि उनकी शताब्दी कैसे मनाई जाएगी। अन्य सब रसमों की तरह वह रसम भी होगी, पर उसमें जान नहीं होगी।"

इससे आगे वह केवल इतना कह सके :

"क्या उनकी याद को बनाये रखने का यही तरीका रह गया है!"

और फिर जो कुछ वह न कह सके, उसे उनकी आंखों के आंसुओं ने कहा।

१२

कांग्रेस की अवस्था पर व्यथा

अपने पुराने साथियों और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के प्रति पूरी सहानुभूति रखते हुए श्री राजेंद्रबाबू भूतपूर्व कांग्रेसियों की भौतिक लिप्सा को दिल में कभी सहन न कर सके। लोग सहसा धनलोलुप कैसे हो गए हैं, इस बात से उन्हें अधिक आश्चर्य नहीं होता था, बल्कि यह देखकर कि स्वातंत्र्य-संग्राम के समय कुछ लोगों ने जो बलिदान किये थे, अब स्वाधीन भारत में लोग उनकी क्षतिपूर्ति चाहते हैं, इस बात से वह एकदम चकित हो जाते थे, इस दलील में लोग अपने परिवर्तित दृष्टिकोण का औचित्य सहज ही ढूंढ़ लेते थे।

ऐसी स्थिति में कांग्रेस नेताओं और मंत्रियों तक के विरुद्ध यदि उन्हें बहुत-कुछ सुनने को मिलता था तो वह मन-ही-मन में खिन्न होते थे, किंतु लाचार हो चुप हो जाते थे। उनका कहना था कि जब देश के हित में किये गए बलिदान, लगाई गई पूंजी के समान माने जा रहे हों और उच्च आदर्श असामयिक समझकर त्यागे जा रहे हों, तब ऐसी घटनाओं के अतिरिक्त और क्या आशा की जा सकती है!

अर्थ और राजनीति के चक्कर में सभी लोगों को फंसा हुआ देख बाबूजी एक तटस्थ दार्शनिक की तरह व्यथित हो उठते थे। अपने एक पत्र में उन्होंने इन क्षेत्रों को एसे भंवर बताया है, जिनमें एक बार फंसकर किसीके लिए भी सही-सलामत निकलना बड़ा कठिन है।

बाबूजी बार-बार कहा करते थे कि समाज के स्वस्थ दृष्टिकोण के लिए बहुत जरूरी है कि जीवन के आधारभूत मूल्यों को उचित स्तर पर रखा जाय। इसके लिए वह शिक्षा को, सार्वजनिक नेताओं को, सरकार को और कांग्रेस—सभी को जिम्मेदार ठहराते थे।

जीवन के अंतिम दिनों में गांधीजी ने कांग्रेस के भविष्य के संबंध

में जो परामर्श दिया था, बाबूजी उसे रह-रहकर याद क[illegible] ने कहा था कि स्वाधीनता के बाद कांग्रेस को अपने राजनैतिक चोले को त्याग एक समाजसेवी संस्था का रूप धारण कर लेना चाहिए। राजेंद्रबाबू के मतानुसार कांग्रेस को एक दोषरहित और भ्रष्टाचार से ऊपर संस्था बनाये रखने का एकमात्र उपाय यही था। आजकल इस संस्था में निजी भौतिक उन्नति के लिए जो आपाधापी मच गई है, उसका कारण बाबूजी गांधीजी की नेक राय को न मानना ही समझते थे। इन सब विचारों से वह बहुत दुःखी होते थे, किंतु सत्य को छिपाना भी उन्हें मंजूर न था। इसलिए कुछ पत्रों में उन्होंने अपने विचार असाधारण स्पष्टता से अंकित किये हैं :

७–१–५७

प्रिय ज्ञान,

अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले महात्मा गांधी ने हमसे कहा था कि कांग्रेस को, जिसका उद्देश्य स्वराज्य हासिल करना था, स्वराज्य-प्राप्ति के बाद एक गैर-राजनैतिक संस्था का रूप ले लेना चाहिए, जिसका कार्य कांग्रेस द्वारा चलाई गई सेवा-समिति जैसी रचनात्मक संस्थाओं के समान हो, क्योंकि कांग्रेसी लोग चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए ही कांग्रेस के प्रभाव और सम्मान का सहारा लेना चाहते हैं। महात्मा गांधी बड़े दूरदर्शी नेता थे और उन्होंने देख लिया था कि कांग्रेस यदि अपना राजनैतिक चोला नहीं उतार देती तो वह केवल एक राजनैतिक पार्टी के रूप में बनकर रह जायगी जिसका स्तर उस क्रांतिकारी संस्था से कहीं कम है, जो स्वाधीनता संग्राम के समय देश की एक अगुआ संस्था का होता है।

वास्तव में हमारा यही अनुभव रहा है कि पिछले आठ वर्षों में कांग्रेसी लोगों की सरकार से संबंधित कार्य, और ऐसा कार्य जो चुनाव के समय में उपयोगी हो, उनके अतिरिक्त और किसी काम में दिलचस्पी कम होती जा रही है। कांग्रेस-अधिवेशनों में भी अब वह उत्साह नहीं पाया जाता, जो पहले दिखाई देता था।

पिछले आठ-नौ वर्षों से मैंने किसी कांग्रेस-अधिवेशन में भाग नहीं लिया, लेकिन मेरा खयाल है कि इन अधिवेशनों में जो चर्चा अथवा विवाद होते हैं उनमें पहले जैसा उत्साह नहीं होता और बहुत-सी बातें तो प्रधान मंत्री और दूसरे मंत्रियों (राज्य तथा केंद्रीय दोनों) पर छोड़ दी जाती है जिनमें साधारण प्रतिनिधि शायद ही कोई हिस्सा या दिलचस्पी लेता हो। कांग्रेस बहुत तेजी से, एक पार्टी-मात्र बनती जा रही है। इसमें शक नहीं कि वह देश की सबसे बड़ी पार्टी है, पर है पार्टी जिसका उद्देश्य अब केवल चुनाव लड़ना और सफलता मिलने पर मंत्रिमंडल बनाना रह गया है। उसका वह राष्ट्रीय रूप नहीं रहा जिसमें प्रत्येक भारतीय की दिलचस्पी हो और जिसके लिए प्रत्येक भारतीय को गर्व का अनुभव हो।

वर्तमान स्थिति में ऐसी कोई निर्दलीय और अखिल भारतीय संस्था का बनना संभव अथवा वांछनीय है अथवा नहीं—यह विवादास्पद हो सकता है, किंतु इसमें शक नहीं कि किसी भी संस्था के लिए वह दर्जा कहीं ऊंचा और अधिक श्रेयस्कर है। मुझे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि इंदौर में कांग्रेस-अधिवेशन का काम तीन दिन के बजाय दो दिन में ही खतम हो गया। कुछ पत्रों में मैंने यह भी पढ़ा कि विषय समिति की बैठकों में प्रतिनिधियों की अपेक्षा मंच पर बैठे हुए लोगों की अधिक संख्या थी। हो सकता है इसमें अत्युक्ति हो, पर इससे यह तो पता चलता ही है कि साधारण प्रतिनिधियों की कार्रवाई में कितनी कम दिलचस्पी थी।

मालूम होता है कि भविष्य में कांग्रेस को एक ऐसे गठित और दृढ़ दल का रूप लेना होगा जो चुनाव को सफलतापूर्वक लड़ सके जिससे कि कांग्रेस की पुरानी आब और चमक खतम हो जाने के बाद भी यह संस्था लोगों की विश्वासपात्र बनी रहे और सच्ची प्रजातांत्रिक प्रणाली के अनुसार, गांधीजी के आदर्शों और कार्यक्रम को अपनाते हुए, शासन की बागडोर अपने हाथ में रख सके।

—राजेंद्र प्रसाद

जीवन भर जिस संस्था में रहकर और जिसके लिए बाबूजी ने कार्य किया, उसी संगठन को विशृंखल होते देखकर दुःख होना स्वाभाविक है। राष्ट्रपति के पद पर आसीन हो जाने पर संवैधानिक रूप से वे इन सबसे अलग और ऊपर थे, किंतु पुराने संबंधों के कारण कांग्रेस के प्रति उनके हृदय में ममता थी और इसीलिए उसके सुधार की चिंता भी।

९-१-५७

प्रिय ज्ञान,

प्रधान मंत्री ने अपने-आप ही मुझे इंदौर के कांग्रेस-अधिवेशन के बारे में बताया। उन्होंने कहा कि अखबारों ने उसके साथ न्याय नहीं किया। एक बात की कमी यह थी जिससे अधिवेशन मरा हुआ तो नहीं लगा किंतु वहां उत्साह भी नहीं दिखाई दिया, क्योंकि कांग्रेस का पंडाल बहुत बड़ा बनाया गया था। यह एक रिवाज-सा हो गया है कि स्वागत-समितियां दो लाख के करीब लोगों के लिए खुला पंडाल खड़ा करती हैं और यदि एक लाख लोग भी आयें तो भी पंडाल खाली-खाली लगता है, जिसके माने यह लगाये जाते हैं कि कांग्रेस-अधिवेशन में कोई उत्साह नहीं था। यही बात इंदौर में हुई। और फिर वहां चर्चा के लिए कोई खास विवादास्पद विषय भी नहीं थे। ऐसे विषयों के कारण ही बोलने वालों और जनता में उत्साह रहता था। यह भी कहना ठीक होगा कि कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट और ऐसे ही विरोधी गुट कांग्रेस के बाहर चले गए हैं, केवल वे ही लोग कांग्रेस में रह गए हैं जो कांग्रेस के कार्यक्रम को मानते हैं और इसलिए यह स्वाभाविक मानते हैं कि वहां चर्चा कम होती है, खास करके विरोध और टीका-टिप्पणी कम ही होती है। इस तरह वास्तव में दिलचस्पी और उत्साह की तो कमी नहीं होती, पर उन लोगों में या उस तरह के लोगों का मजा और खुशियां कम हो जाती हैं, क्योंकि गालियों और चुटकियों का चटपटापन नहीं होता। जो भी हो, मेरे विचार से तो अब कांग्रेस को अपने बड़े संगठन का रूप बदलकर सुगठित पार्टी का रूप दे देना चाहिए जिनमें कुछ कमोबेश प्रमुख कार्यकर्त्ता हों और जो अपना सारा समय और शक्ति दे सकें। उन्हें जीवन-यापन के लिए कुछ सुविधाएं और जीविका के साधन

भी देने चाहिए जिससे वे निश्चित होकर, चिंताओं से दूर रहकर, पूरी तरह से लगन के साथ काम कर सकें और अपनी सेवा दे सकें।

—राजेंद्र प्रसाद

ऐसी लालसा को राजेंद्रबाबू व्यक्ति अथवा संस्था, सार्वजनिक जीवन अथवा राजनीतिक जीवन, की सबसे बड़ी कमजोरी मानते थे और इस भावना से किये गए कार्य को सबसे हेय समझते थे। उनका यह दृढ़ मत था कि ऐसे प्रलोभन और महत्वाकांक्षा से सेवा-कार्य करने की अपेक्षा, सेवा-मुक्त हो जाने में ही व्यक्ति, संस्था और देश का अधिक कल्याण है। गांधीजी के प्रभावशाली नेतृत्व में देश के बड़े-बड़े व्यक्तियों ने निजी सुख और ऐश्वर्य को छोड़, सेवा और त्याग के मार्ग को अपनाया, जिनमें स्वयं राजेंद्र-बाबू भी एक थे। किंतु गांधीजी के बाद यह आदर्श न जाने कहां लुप्त हो गया और हमारे देश के जीवन में 'लालसा' की कमजोरी ने प्रवेश कर लिया।

२९-६-५७

प्रिय ज्ञान,

हमारे सार्वजनिक जीवन की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि जबतक हम किसी दल या गुट-विशेष से संबंधित न हों, किसी संगठन में कार्य करना हमारे लिए कठिन हो जाता है। आज कांग्रेस की भी सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि उसके भीतर ही अनेक गुट बन गए हैं। पहले जब कभी गांधीजी ने किसी रचनात्मक कार्य अथवा सत्याग्रह का कोई कार्यक्रम लोगों के सामने रखा तो सभी दल गांधीजी के प्रभावशाली नेतृत्व के नीचे आकर अपना अस्तित्व खोकर एक हो जाते थे।

आज आदिमजाति-सेवक-संघ की मीटिंग के बाद एक सदस्य ने मुझे बताया कि कुछ लोगों ने सारी शक्ति और वित्त-व्यवस्था मुख्य कार्यालय में केंद्रित करने का प्रयत्न किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि क्षेत्रों में कार्य करनेवालों ने यह महसूस किया कि उनकी परवाह नहीं होती और इस तरह उनमें कार्य के लिए उत्साह नहीं रहा। अनेक कारणों

में से यह भी एक कारण है जिससे इस राष्ट्रीय महत्त्व के कार्य में अब कोई भी आगे नहीं आ रहा। लोग साफ-साफ कहते डरते हैं कि कहीं उनकी स्पष्टता के कारण ऊपर के लोग नाराज न हो जायं और उन्हें तथा जिस संस्था को वह चला रहे हैं उसे नुकसान न पहुँचे। उस सदस्य ने मुझसे कहा कि मैंने इस काम के लिए आगे आने की लोगों से जो अपील की है और अधिक उत्साह से काम करने को कहा है, उसमें यह कठिनाई है और उन्होंने सुझाया कि मुझे स्वयं इन बातों के बारे में सीधे पूछ-ताछ करनी चाहिए, क्योंकि कोई भी व्यक्ति स्वयं आगे आकर मुझसे यह शिकायत करने का साहस नहीं करेगा।

ऐसी संस्थाओं में, जहां सेवा और त्याग की आवश्यकता है और जिस कार्य से कोई पुरस्कार अथवा यश मिलने की आशा न हो, वहां भी इस तरह की बातें देखकर बहुत ही अफसोस होता है। तब कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जिन संस्थाओं और संगठनों में ऐसे प्रलोभन हों, वहां सेवा के लिए नहीं, पद के लिए स्पर्धा हो। स्वाधीनता-संग्राम के समय इस तरह की पद-प्राप्ति का कोई खास प्रलोभन नहीं था और इसलिए यह वृत्ति अपने-आप ही दबी रहती थी। अब जबकि चारों ओर ऐसे प्रलोभन हैं, यह वृत्ति तेजी से उमड़ उठी है और न केवल राजनीतिक संस्थाएं बल्कि संघ-जैसी संस्थाएं भी उसका शिकार बन गई हैं। हमें इनसे ऊपर उठने के उपाय ढूंढ़ने ही चाहिए, अन्यथा सेवा के सभी कार्यों से विदा ले लेनी चाहिए।

राजेंद्र प्रसाद

१३-१२-५७

बेटी ज्ञान,

देश की स्थिति के बारे में कई बार मेरी बातें श्रीप्रकाशजी और उनके-जैसे मित्रों से हुई है। राज्यपाल-सम्मेलन में भी यह विषय उठा। कांग्रेस के नेताओं में वह ज्वाला खत्म हो गई है जो उन्हें स्वतंत्रता की लड़ाई के दिनों में प्रेरित करती थी। वे लोग अभी भी सत्ता में हैं या उससे चिपके हुए हैं। परिणामस्वरूप एक ओर निष्क्रियता आ गई और दूसरी ओर

विघटन का डर खड़ा हो गया। इस खतरे के कारण असल में व्यक्ति या महत्त्वाकांक्षी दल अवसर राष्ट्रीयता की अवहेलना करते हैं या सीधे ही उसपर आक्रमण करते हैं। देश की एकता वास्तव में सबसे बड़ी निधि है और हम यह मानकर चलते हैं कि हम चाहे कुछ भी करें या न करें, यह तो कायम रहेगी ही। इस तरह की शिथिलता अप्रत्यक्ष रूप से हमारे इतिहास का परोक्ष विरोध है। यह भी समझ में न आनेवाली बात है कि यह मान लेने पर भी हम कई बार जाने-अनजाने ऐसे कदम उठाते हैं जिनसे यह एकता कमजोर ही नहीं, नष्ट होती है। ऐसे प्रश्नों पर दूसरों से हमारा मतभेद होता है, हम उन्हें आखिरी हद तक खींचने में नहीं हिचकिचाते, यद्यपि हम जानते यही हैं कि देश की बुनियादी एकता के खिलाफ हम कुछ नहीं कर रहे। हम जानते हों या नहीं, हमारा कहना कुछ भी हो, पर हमारे कार्य की अपनी प्रतिक्रिया होती है और ऐसे किसी भी काम का, जिसका रुझान विघटन की ओर हो, कुछ असर होता ही है। हमारे दलों में मतभेद जब चरम सीमा तक पहुंच जाते हैं तो यह प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। उनका रूप राजनीतिक मतभेद हो सकता है, जाति-भेद या और कुछ हो सकता है; लेकिन जब ऐसे मतभेदों के कारण कुछ लोगों के दिमाग में भी यदि यह विचार आता है कि हमारी बात नहीं चलती इसलिए हम इस सारे झगड़े से अलग हो जाएं और हमेशा के लिए इससे अपना संबंध तोड़ दें, तो हमें घड़ी-भर बैठकर यह महसूस करना चाहिए कि हमारा कदम फूट और विघटन की दिशा में बढ़ चुका है।

इस तरह की चर्चा के समय ही जवाहरलालजी ने एक बार बहुत दुःखी और नाराज होकर यह कहा था कि यदि कांग्रेस के लोग साफ देख नहीं सकते तो उन्हें कांग्रेस छोड़कर चला जाना चाहिए और दूसरों के लिए जगह कर देनी चाहिए। इसी संदर्भ में श्री श्रीप्रकाशजी ने सुबह कहा कि अब समय आ गया है जब सभी बड़े-बूढ़ों को बाहर आ जाना चाहिए। वे एक बात में असफल रहे हैं कि अपने बाद नेताओं की दूसरी कतार तैयार नहीं कर सके हैं जो उनके चले जाने पर उनका स्थान ले सकें। लेकिन फिर भी, उन्हें अवकाश ग्रहण करना चाहिए जिससे उनकी अनुपस्थिति में दूसरे लोग काम संभाल सकें और यदि जरूरत हो तो उन

अवकाश-प्राप्त बुजुर्गों से सलाह ले लें। तब से मैं इस सुझाव की उलझनों पर बड़ी गंभीरता से विचार कर रहा हूं। यह बात जरूर है कि संवैधानिक रूप से राष्ट्रपति और राज्यपाल की स्थिति मंत्री और खास करके प्रधान मंत्री से बहुत भिन्न है। लेकिन हममें से बहुत-से न केवल संवैधानिक आवश्यकता के कारण बल्कि अन्य बातों के कारण भी सत्ता में बने हुए हैं। और इसलिए इस प्रश्न का बहुत महत्त्व है और इसपर निष्पक्ष रूप से पूरी तरह विचार करना आवश्यक है।

—राजेंद्र प्रसाद

२०-४-५८

प्रिय ज्ञान,

आजकल प्रायः कांग्रेस-सदस्यों के खिलाफ कांग्रेस-अधिकारियों द्वारा अनुशासनात्मक कार्रवाई के बारे में सुनते हैं। अनुशासन की आवश्यकता और इसके मूल्य पर अक्सर बहुत जोर दिया जाता है। किंतु कांग्रेस-जैसे स्वैच्छिक संगठन में उस प्रकार के अनुशासन को लागू करने का क्या आधार है? मेरे विचार से यह आधार दो प्रकार का है: एक आधार तो जनमत का है, जिसका मतलब यह है कि ऐसे काम के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई की गई जिसे जनता अच्छा नहीं समझती। दूसरी तरह का आधार, वास्तव में जिसका संबंध भी जनमत से ही है, गलत काम करनेवाले को जिम्मेदारी के पद से हटाकर सीधी कार्रवाई का रूप भी ले सकता है। जहां यह पद मतों द्वारा अभिव्यक्त जनमत के विश्वास के कारण हो, वहां जनसाधारण भी आगामी चुनाव में उसका पक्ष न लेकर अपनी नाराजी जाहिर कर सकते हैं। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि कोई संस्था कहां तक लोकप्रिय है, विशेषकर मतदाताओं में। यदि किसी भी उचित या अनुचित कारण से संस्था ही जनता का विश्वास खो बैठी हो तो अनुशासनात्मक कार्रवाई निरर्थक या बेमानी हो प्रभावहीन हो जाती है, और न उसका कोई प्रभाव रहता है। यदि कोई और संस्था मैदान में हो और वह अधिक लोकप्रिय बनती जा रही हो, तब यह बात और स्पष्ट दिखाई देगी। हां, यदि कोई और विपक्षी या विरोधी पार्टी न हो और

उक्त संस्था जनसाधारण में अपना स्थान यथापूर्व वनाये रखे, तव अनुशासनात्मक कार्रवाई का कोई असर हो सकता है। जहां संस्था की स्थिति विगड़ी और उसके संगठन में शिथिलता आई वहां अनुशासन की कार्रवाई प्रभावहीन हो जाती है। इसलिए अनुशासन की कार्रवाई के संवंध में किसी भी स्वैच्छिक संस्था के लिए सतर्क और जागरूक रहना आवश्यक है।

—राजेंद्र प्रसाद

२७-११-५८

प्रिय ज्ञान,

जितने ऐसे लोगों से मुलाकात होती है जिनका कांग्रेस के साथ संपर्क रहा है अथवा जो उसमें आज भी काम करते हैं, सभी मुझसे कहते हैं, अव कांग्रेसी लोगों का जनता से संपर्क कम होता जा रहा है और जितने पुराने कांग्रेसी कार्यकर्त्ता थे, वे तो एक-एक करके उठते जा रहे हैं और नये उत्साही लोग अधिक उस संस्था में आ नहीं रहे हैं। जो आते हैं वे वहुत करके विधान-सभाओं तथा अन्य सरकारी अथवा अर्धसरकारी संस्थाओं में स्थान पाने की आशा से ही आते हैं। इससे जनसाधारण में जो कांग्रेस का मान था वह कम होता जा रहा है। कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि अगले चुनाव में भी कांग्रेस वहुत जगहों में हार जायगी और कितने ही प्रांतों में उसको वहुमत नहीं मिलेगा। कम-से-कम जहां कोई भी दूसरी सुसंगठित संस्था मुकावला करनेवाली होगी, वहां तो कांग्रेस को हार खानी ही पड़ेगी। कांग्रेस संस्था में नवजीवन डालने का वहुत प्रयत्न किया जा रहा है, पर वह सफल होता नहीं दीखता। यदि इन वातों में सत्यता है— और जो लोग ये वातें मुझसे कहते हैं, कांग्रेस के हितचिंतक हैं, तो यह उस संस्था के लिए अच्छा नहीं।

मेरा संपर्क यद्यपि वहुत दिनों से छूट गया है। तो भी मुझे यह सुनकर कुछ दुःख तो होता ही है। यदि इंग्लैंड की तरह यहां भी पार्टियां वन जातीं और सुसंगठित तरीके से काम होने लगता तो चिंता नहीं होती। एक पार्टी के स्थान पर दूसरी पार्टी गवर्नमेंट वना लेती। पर अभी दूसरी कोई पार्टी इतनी व्यापकता और विस्तार नहीं प्राप्त कर सकी है जितना कांग्रेस।

इसलिए अभी काफी वरसों तक शांत रूप से प्रजातंत्र की नींव मजबूत न बन जाय, तबतक इस सुसंगठित पार्टी को बनाये रखना आवश्यक है। इसमें वह भावुकता लाना भी जरूरी है जिसके बल पर लोगों से स्वार्थ-त्याग की अपील की जा सके। यह कैसे और कब हो सकेगा, कहना कठिन है, पर इसके बिना इस संस्था का शक्तिशाली बनना भी कठिन है।

—राजेंद्र प्रसाद

३०–११–५८

प्रिय ज्ञान,

कांग्रेसी मंत्रिमंडल केरल को छोड़कर और सभी प्रांतों में काम कर रहे हैं। १९४६ में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने थे और तब से आजतक वे लगातार काम करते आये हैं। यह एक साधारण बात है कि कोई भी मंत्रिमंडल बहुत दिनों तक लोकप्रिय नहीं बना रह सकता है क्योंकि वह सबको खुश नहीं रख सकता। इसीके अनुसार यदि कांग्रेसी मंत्रिमंडल भी कुछ अप्रिय हो गए हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर एक नई बात अब कुछ दिनों से देखने में आ रही है, जो चिंता का कारण है। हाल तक जो कुछ शिकायतें सुनने में आती थीं, वे प्रायः प्रान्तीय सरकारों के विरुद्ध थीं। केंद्रीय सरकार और कांग्रेसी हाई कमान पर लोगों का प्रायः विश्वास था। अब केंद्रीय मंत्रिमंडल के मंत्रियों के विरुद्ध भी आवाज उठ रही है और अखबारों में भी ऐसे लेख आ रहे हैं जिनमें से कुछ यदि एक मंत्री के विरुद्ध हैं तो दूसरा उस मंत्री का समर्थन करता है और दूसरे पर आक्रमण, इस तरह आपस में मतभेद—वह भी बुरे तरीके का—अखबारों से मालूम होता है। इसलिए इस विषय पर सोचना आवश्यक हो गया है, क्योंकि दूसरा कोई भी दल अभी तैयार नहीं मालूम होता है। अब सोचना चाहिए कि इस प्रकार की शिकायतें कैसे दूर की जा सकती हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

१२-५-५६

प्रिय ज्ञान,

पिछले दो-तीन दिनों से कांग्रेस कार्यकारिणी समिति और अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक चल रही है। बहुत-से कांग्रेसी मंत्री और भूतपूर्व मंत्री भी इकट्ठे हुए हैं। उनमें से बिहार के बहुत-से लोग मुझसे आकर मिले। कइयों ने पूछने पर और कइयों ने बिना पूछे भी भिन्न-भिन्न पार्टियों, ख़ासकर विधानमंडल और स्वयं कांग्रेस के भीतर की राजनीतिक स्थिति के बारे में अपना मूल्यांकन और मत बताया। लेकिन मैंने देखा कि किन्हीं दो आदमियों का मत एक-सा नहीं था और एक ऐसे व्यक्ति के लिए जो इस शोरगुल में रहकर नहीं, बल्कि इससे दूर रहकर, बाहर से निर्लिप्त भाव से स्थिति को समझना चाहता हो, उसके लिए यह अबूझ गुत्थी सुलझाना बहुत मुश्किल है। मेरा वास्ता किसी दल-विशेष या ग्रुप से नहीं है; जो मैंने सुना उसके सच और झूठ से है या इससे है कि किसी घटना के बारे में दोनों मत कहां तक सही हैं। मेरे लिए यह सबसे ज्यादा अचरज की बात है कि वास्तव में सही निष्कर्ष पर पहुंचना और उन घटनाओं को जो हमारे बहुत नजदीक हैं या इसीलिए कि वे बहुत नजदीक हैं, उन्हें समझना असंभव नहीं तो कठिन जरूर है, नहीं तो इन परस्परविरोधी कारणों की कोई कैफियत नहीं जो वर्णन में एक-दूसरे से एकदम विपरीत हैं, हालांकि आसानी से जिनके तथ्यों का निश्चय किया जा सकता है। खैर, जो भी हो, हमें तो जीना है और सीखना है, किसीको दोषी नहीं ठहराना, क्योंकि हर आदमी उस अंधे आदमी की तरह अपने-अपने दृष्टिकोण से सही हो सकता है जिसने एक ही हाथी का वर्णन एकदम अलग-अलग ढंग से किया था।

—राजेंद्र प्रसाद

१३-६-५६

प्रिय ज्ञान,

कांग्रेस तेजी से विनाश और विघटन की ओर जा रही है, इस बारे में तरह-तरह की बातें और अफवाहें सुनता हूं। इसका जो भी कारण हो, भले

ही वह कारण नाकाफी हो, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि कांग्रेस देश की जनता से और यहां के बौद्धिक वर्ग से भी बहुत दूर हो गई है। यह मामला गंभीर है, क्योंकि हमारे देश में और कोई दल ऐसा नहीं जो इतना अधिक संगठित और देशव्यापक हो, और जो कांग्रेस का स्थान ले सके। हमारे प्रधान मंत्री का व्यक्तित्व, जो देश-विदेश में आज हमारा सबसे बड़ा पावना है, वह भी अपनी प्रतिष्ठा और आकर्षण खो रहा है।

जब हम सीमावर्ती क्षेत्रों में उभरते हुए खतरे को देखते हैं तो स्थिति और भी भयानक मालूम होती है। यह संकट चाहे तात्कालिक न हो, तो भी हम इसकी अवहेलना अपनी आजादी को खतरे में डालकर ही कर सकते हैं। मैं बहुत चिंतित हूं, किंतु इस संकट से पार पाने का कोई रास्ता दिखाई नहीं दे रहा। हमें गंभीरता से सोचना होगा और जब कोई रास्ता दिखाई दे तो उसपर चलने के लिए बहुत परिश्रम करना होगा। इस कार्य में सबको प्रधान मंत्री की सहायता करनी होगी, लेकिन इस समस्या को सुलझाने का यत्न करने से पहले प्रधान मंत्री के लिए समस्या का असली स्वरूप समझना जरूरी होगा।

—राजेंद्र प्रसाद

३०-७-६०

प्रिय ज्ञान,

अखबारों में यह खबर देखकर अचरज हुआ जिसमें कहा गया था कि बंगाल प्रांतीय कांग्रेस समिति अथवा उसकी कार्यकारिणी समिति ने एक प्रस्ताव पास करके घोषणा की है कि वे इस वर्ष १५ अगस्त के समारोहों में शामिल नहीं होंगे। इस प्रतिक्रिया का कारण शायद आसाम में हुई वे दुर्भाग्यपूर्ण और अक्षम्य घटनाएं हैं जिनमें कुछ बंगालियों की जानें चली गईं, उनके घर जला दिये गए। इसके फलस्वरूप आसाम की उन बस्तियों से, जहां अधिकतर असमी रहते थे, बंगाली बहुत बड़ी संख्या में आसाम से भागकर जाने लगे। बंगालियों की यह प्रतिक्रिया और गुस्सा तो समझ में आता है, लेकिन उसे जिस तरह बतलाया गया है वह बात समझ में नहीं आती। आखिरकार १५ अगस्त तो स्वाधीनता-दिवस के रूप में मनाया

जाता है। यह वह दिन है जब ब्रिटेन ने भारत के हाथों में सत्ता सौंपी थी। मैं इस बात को बिल्कुल गलत मानता हूं कि स्वाधीनता के खिलाफ ऐसा कोई कदम उठाया जाय, भले ही किसी दल अथवा राज्य-सरकार ही नहीं, चाहे भारत-सरकार से ही कोई झगड़ा क्यों न हो, और भले ही उसके लिए कोई बड़ा कदम सही और जायज माना जाय, हमें स्वाधीनता के साथ ही लड़ने का कोई हक नहीं, जबतक कि हमारी मंशा सारी प्रक्रिया को ही बिल्कुल बदलकर फिर पूर्व-स्वाधीनता युग को लौट जाने की न हो। इसलिए मैंने कहा कि इस प्रस्ताव का उद्देश्य ही समझ से बाहर की बात है। मुझे यह डर है कि यह सब अपना रोष व्यक्त करने के लिए जल्दी में किया गया है। इससे भिन्न और कुछ नहीं हो सकता। जो भी हो, यह विरोध के काबिल है और संभव हो तो इसे वापस ले लेना चाहिए।

—राजेंद्र प्रसाद

३–११–६०

प्रिय ज्ञान,

परसों संध्या को मुझसे एक सज्जन मिलने आये। यह एक पुराने कांग्रेसी कार्यकर्त्ता हैं जो बहुत दिनों से कम्युनिस्ट पार्टी में शरीक हो गए हैं। पर मेरे साथ उनका रस्म-व्यवहार वैसा ही बना रहा है जैसा पहले था। वह कुछ बीमार थे। वह हाल में रूस दवा कराने गये। कम्युनिस्ट होने के कारण उनको सुविधा थी। वहां पर दवा द्वारा इलाज नहीं हुआ, बल्कि सोची में कुछ मालिश और स्नान की चिकित्सा हुई। बहुत फायदा हुआ और मैंने देखा कि जाने से पहले जो हालत थी, उससे बहुत सुधरी और बदली हुई मालूम हुई। वह विचारशील हैं और चिंतित हैं कि देश में जो परिस्थिति पैदा होती जा रही है वह अच्छी नहीं है। वह चाहते हैं कि सिद्धांत को लेकर जो भी मतभेद हो, बना रहे, पर जहां तक रचनात्मक काम है उसमें कोई कारण नहीं कि विभिन्न दलों के लोग मिलकर काम न करें। बात तो यह है कि आज विभिन्न दलों की कौन कहे—कांग्रेस के भीतर ही इतना मतभेद और मनमुटाव हो गया है कि वे लोग भी सब मिलकर काम नहीं करते। सब अपने अथवा अपने गुट को ही सामने रखकर

काम करते हैं, सारे देश को सामने रखकर नहीं। वे चाहते हैं कि कुछ ऐसा प्रयत्न किया जाय जिससे आपस का मेल-भाव बढ़े और कहते थे कि चूंकि एसेंबली या पार्लमिंट में जाना ही मुख्य उद्देश्य रह जाता है जिसके कारण मनमुटाव बढ़ता है तो प्रत्येक व्यक्ति को यह भी घोषित कर देने के लिए तैयार रहना चाहिए कि वह कहीं किसी जगह के लिए उम्मीदवार नहीं होगा। मैंने कहा कि वे विभिन्न विचारवाले लोगों से बातें करें और देखें, कहां तक उनको प्रोत्साहन मिलता है, तब इसके आगे का सोचें। मैं भी हैरान रहता हूं कि आपसी विरोध बहुत हद तक बढ़ जाता है और उसका एकमात्र कारण गवर्नमेंट अथवा उससे संबद्ध संस्थाओं में जगह पाने की लालसा होती है।

—राजेंद्र प्रसाद

७–११–६०

प्रिय ज्ञान,

कल सवेरे से गवर्नरों की कान्फ्रेंस होनेवाली है। इसलिए प्रायः सभी गवर्नर आ गए हैं और उनसे मिलने में ही आज सारा दिन लग गया। इस समय सारे देश में दलबंदी चल रही है। दूसरे प्रकार से कुछ ऐसी स्थिति पैदा होती जा रही है जिससे ऐसा आभास होता है कि विशृंखलता फैल जायगी और जो एकीकरण का महत्त्वपूर्ण काम हुआ है वह मुश्किल में पड़ सकता है। इस तरह के विचार खासकर हाल में आसाम में घटी दुर्घटनाओं के कारण हो रहे हैं। पर जो बात आसाम में फूटकर निकल गई, वह और जगहों में भी किसी-न-किसी रूप में उपस्थित है। इस सारी परिस्थिति का कारण यदि विचार करके देखा जाय तो यही मालूम होगा कि हमने स्वतंत्रता पाई पर उसकी जवाबदेही पूरी तरह नहीं समझी। हम बहुत करके अपने अथवा अपने दल या गुट के स्वार्थ को अक्सर सारे देश के ऊपर मान बैठते हैं। अथवा कम-से-कम देश को सर्वोपरि हमेशा न रख करके अन्य विषयों को तरजीह दे देते हैं। छोटी बात होती है जिसका नतीजा उस समय पूरी तरह नहीं दीखता, पर समय पाकर वह एक बड़ा आकार ग्रहण कर लेता है और कभी-कभी भयंकर भी हो जाता है। गवर्नरों से बातें हुई तो प्रायः

सभी इस प्रकार के विचार रखते हैं। सोचना यह है कि इसके निवारण अथवा निराकरण के लिए क्या किया जाय। इस संबंध में अभी हमारे विचार स्पष्ट नहीं हैं। जब कुछ बुरा नतीजा सामने आ जायगा तब निवारण और भी कठिन हो जायगा। प्रधान मंत्री भी सारी स्थिति से चिंतित हैं, जैसा मैं भी हूं, पर अभी कोई कदम हम उसे रोकने के लिए नहीं उठा पाये हैं क्योंकि अभी इसका निश्चय नहीं हुआ है कि क्या किया जाय।

—राजेंद्र प्रसाद

१३ सरकार का रवैया

राजेंद्रबाबू के पास भारत सरकार के संबंध में सूचनाएं आती रहती हैं। उनमें या तो कोई शिकायत होती थी या किसी सरकारी बात की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जाता था। उनके विषय में राजेंद्रबाबू की क्या प्रतिक्रिया होती थी, इसकी झांकी हमें उनके कुछ पत्रों में मिलती है।

१६-१०-५८

प्रिय ज्ञान,

मैं देखता हूं कि बहुतेरे लोग गवर्नमेंट की ओर से किसी-न-किसी काम के लिए अकेले अथवा मण्डल के साथ विदेशों में जाते हैं। आज मैंने कैबिनेट की कार्रवाई की रिपोर्ट पढ़ी तो देखा, एक दिन १३ विषयों में से जो विचारार्थ आये, विदेश-यात्रा के संबंध में थे और उसी तरह एक दूसरे दिन की कार्रवाई में १२ में से ५ ऐसे विषय थे, जिनमें किसी-न-किसी के बाहर भेजने की बात थी। मालूम नहीं कि इस तरह साल में कितने लोग जाते हैं और इस काम पर कितना खर्च होता है। खर्च तो सब विदेशी मुद्रा में ही होता होगा जिसकी आजकल इतनी कमी हो रही है। पर इसके अलावा यह भी सोचने की बात है कि क्या इतने लोगों का बाहर जाना आवश्यक है और क्या उनके जाने से इतना लाभ देश को मिलता है जो समय और पैसे के खर्च के अनुपात में हो। बहुतेरे तो उच्च पदाधिकारी होते हैं। केवल आने-जाने का ही खर्च नहीं पड़ता, उनका मुशाहरा (वेतन) भी तो खर्च में ही है और इसके अलावा जो काम वह यहां रहकर करते वह या तो नहीं होता या दूसरा कोई करता है, अर्थात एवजी के लिए या तो मुशाहरा या भत्ता दिया जाता होगा, तो दोनों में से किसी-न-किसी काम में कुछ कमी या त्रुटि भी होती होगी। इसलिए इन सब बातों को ध्यान में

रखकर इस विषय पर विचार करना चाहिए और लौटने पर जानेवाले से पूछताछ होनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि उन्होंने क्या लाभ पहुंचाया जिसे विदेश न जाकर वह नहीं पहुंचा सकते थे। इस तरह बहुत बातों में खर्च की काफी किफायत हो सकती है और शायद काम भी कुछ बेहतर हो।

—राजेंद्र प्रसाद

भारत जब से स्वाधीन हुआ, उस पर कांग्रेस का शासन रहा, क्योंकि उसीका बहुमत है। बाबूजी ने शासक और शासित के संबंधों और कर्त्तव्यों पर बड़े साफ विचार व्यक्त किये हैं जिनसे आगे बढ़ती हुई हमारी प्रजातंत्र प्रणाली की दिशा स्पष्ट होती है और मार्ग प्रशस्त बन सकता है।

२७-१०-५८

प्रिय ज्ञान,

मैं कभी-कभी सुनता हूं कि कहीं-कहीं मंत्री लोग कर्मचारियों का अपनी पार्टी या दल के काम में उपयोग करते हैं। वह शिकायत आज की नहीं है। जब हम लोग स्वतंत्रता-संग्राम में लगे थे और कहीं-कहीं जिला-बोर्ड या म्युनिसिपैलिटी हमारे हाथों में आ गयी थी, तो यह प्रश्न उठा था कि उनके कर्मचारियों को हम स्वराज्य के काम में, कांग्रेस के काम में—जो उन दिनों में स्वराज्य का एकमात्र प्रतिरूप समझी जाती थी—लगा सकते हैं या नहीं। मेरी राय साफ थी कि ऐसा करना गलत होगा, क्योंकि यदि दूसरे दलवाले भी ऐसा करेंगे तो हम उनकी शिकायत करेंगे—और यह एक गलत कदम होगा कि हम उनकी उसी काम के लिए शिकायत करें जिसे हम खुद करें। पर इससे भी अधिक बुराई की बात तो यह होगी कि इस प्रकार के उपयोग से यदि हम कुछ लाभ अपनी पार्टी के लिए कर सकें तो दूसरे भी कर सकेंगे। आज यह प्रश्न फिर उठता है और इसका रूप अधिक जटिल इस कारण से हो जाता है कि गवर्नमेंट में होने के कारण मंत्रियों के हाथों में बहुत अधिकार हैं और अगर वे चाहें तो बहुत अनर्थ करा सकते हैं। सुना है कि कहीं-कहीं ऐसा हुआ और हो भी रहा है।

इसलिए चाहे फौजी नौकरी में हों अथवा दूसरी सरकारी नौकरी में, सभी कर्मचारियों को राजनीति के भंवर से अलग रहना और रखना चाहिए। उनमें जो ऊंचे स्थान पर पहुंच गए हैं उनको, मंत्रियों को जब कभी कोई प्रश्न विचारार्थ उठे तो सभी बातों से ठीक-ठीक अवगत करा देना चाहिए और जहां आवश्यक हो, अपनी स्वतंत्र राय भी निर्भीक होकर दे देनी चाहिए, पर निश्चय मंत्री के हाथ में छोड़ देना चाहिए—और जब नीति निर्धारित हो जाय तो उसको सचाई और उत्साह के साथ कार्यान्वित करना चाहिए भले ही वह उनकी राय के विरुद्ध भी हो। अर्थात् उनका कार्य है कि नीति निश्चित होने में सचाई के साथ मंत्री को सलाह दें और बातें बतावें, पर निर्धारित हो जाने पर उसके संबंध में चीं-चपड़ न कर उसे पूरा करना चाहिए। मंत्री को चाहिए कि वह कर्मचारी के अनुभव और जानकारी से लाभ उठावें और उसकी सम्मति को पूरा वजन दें; पर नीति स्वयं निर्धारित करें, और सबसे अधिक यह आवश्यक है कि किसी कर्मचारी का अपने अथवा पार्टी के काम में दुरुपयोग नहीं करें।

—राजेंद्र प्रसाद

३१-१-५८

प्रिय ज्ञान,

हम लोग अक्सर प्रतिज्ञाएं करते हैं—कई बार औरों को वचन देते हैं और अक्सर अपने मन में संकल्प करते हैं—जिन्हें पूरा करना संभव नहीं होता। कई बार ये गंभीर प्रकार के होते हैं, पर अक्सर छोटे और मामूली भी होते हैं। कई अवसरों पर ये इतना महत्त्व रखते हैं कि प्रतिज्ञा का रूप धारण कर लेते हैं। शायद उनका पालन करना साधारण वचन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमें यह महसूस करना चाहिए कि सभी वचन, चाहे वे किसी दूसरे को दिये हों अथवा अपने मन के संकल्प मात्र हों, चाहे उनका महत्त्व बहुत गंभीर हो और इस कारण उसने प्रतिज्ञा का रूप धारण कर लिया हो, चाहे वह भावावेश में किया हो या बड़े महत्त्वपूर्ण संकल्प के रूप में, हमें उनको गंभीरतापूर्वक लेना चाहिए और, बन सके वहां तक, मन-वचन-कर्म से उसका पालन करना चाहिए।

करने की अपेक्षा ऐसा कहना आसान है। महात्मा गांधी ने इस महान गुण को अपने जीवन में अपनाया था और वे ली हुई प्रतिज्ञाओं और संकल्पों का ही अक्षरशः पालन नहीं करते थे, साधारण वचनों को भी उसी तरह निभाते थे। क्या हम उनका अनुसरण करने का प्रयत्न नहीं कर सकते ? हम अपने अनुभव से देखेंगे कि यह कठिन काम है। मैंने यह करके देखा है। लेकिन फिर भी हमें प्रयत्न करना चाहिए और गांधीजी का आशीर्वाद तथा ईश्वर की कृपा और सहायता का सहारा लेना चाहिए।

—राजेंद्र प्रसाद

२०–२–५६

प्रिय ज्ञान,

देश में ऐसे बहुत लोग हैं जो वास्तव में जिस तरह से देश तरक्की कर रहा है, उससे संतुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं कि स्वाधीनता-प्राप्ति के ग्यारह साल बाद भी गांव या शहर में साधारण मनुष्य यह महसूस नहीं करते कि उनके जीवन में, स्थिति या रहन-सहन में कोई खास बड़ा परिवर्तन हुआ हो। इसके विपरीत ऐसे लोग भी हैं जो इस मत के हैं कि प्रगति काफी हुई है, भले ही साधारण मनुष्य को अभी उसका असर नहीं महसूस होता हो।

बाहरी दर्शक और प्रेक्षक के रूप में मैं यह महसूस करता हूं कि इन दो मत रखनेवालों के दृष्टिकोण में सबसे अधिक भेद स्वयं प्रगति के संबंध में ही है और यह कि तरक्की से उनका मतलब क्या है ? यदि हम प्रगति के विचार का, नैतिक और भौतिक दोनों ही दृष्टियों से विश्लेषण करें तो शायद हम इस विषय को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे। जहां तक नैतिक दृष्टि से प्रगति का संबंध है, मैं नहीं मानता कि कोई भी यह कह सकता है कि लोग ज्यादा सच्चे हैं, या पहले से अधिक संतुष्ट और सुखी हैं। यदि हम यह कहें कि ऐसी साधन-सामग्री जुटाई और पैदा की जा रही है जिससे यह आशा की जा सकती है कि उस दिशा में और दशा में सुधार होगा तो यह कहना वाजिब हो सकता है। जैसा मैं देखता हूं, स्थिति यह है कि खेती का विकास करके, खास करके बड़े उद्योगों को बढ़ाकर, जीवन-स्तर ऊंचा उठाने और आर्थिक हालत सुधारने के प्रयत्न हो रहे हैं।

वड़ी प्रयोजनाओं का फल अभी हमें नहीं मिला, पर जल्दी ही मिलेगा। इस तरह हमें कहना होगा कि दोनों ही सही हैं और दोनों ही गलत हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

९-११-५८

वेटी ज्ञान, आशीष।

आज एक वात सुनकर मुझे आश्चर्य से अधिक दुःख हुआ। मैंने सुना कि कहीं-कहीं, जहां विकास का काम हो रहा है, गांववाले अपने घर के खाली हिस्से भी इस काम के लिए देना नहीं चाहते। पूछने पर मालूम हुआ कि उसका यह कारण है कि वह समझते हैं कि जब वे सभी लोग, जो इस काम में लगे हैं, सरकार की ओर से वेतन पा रहे हैं, तो उनको मकान विना भाड़े के क्यों दिया जाय और उनको भी, उसके लिए जितना भी भाड़ा वे सरकार से उगाह सकते हैं, उनको लेना चाहिए। इसमें वे कोई शिकायत की वात नहीं समझते कि उनके गांव की उन्नति के लिए यह सवकुछ किया जा रहा है तो उनको इतना त्याग नहीं करना ठीक नहीं होगा। मुझे दुःख इस वात का हुआ कि आज देशोन्नति का जो भी काम किया जा रहा है और सरकार जो कुछ भी विकास के लिए कर रही है, वह सौदा है, जिसमें सवको कुछ-न-कुछ तत्काल व्यक्तिगत लाभ मिलना चाहिए। अर्थात् सामूहिक हित की ओर से ध्यान हटकर व्यक्तिगत लाभ पर केन्द्रीभूत हो गया है, और इसलिए, यदि कार्यकर्ता वैतनिक है तो मकानवाला विना भाड़े के घर देने को अपने को वाध्य क्यों समझे?" यह एक भयंकर स्थिति है। इसका अर्थ है कि अव किसी प्रकार का सार्वजनिक काम अवैतनिक नहीं हो सकता और कोई भी काम परोपकार की भावना से नहीं कराया जा सकता। क्या हमारी सारी विकास-योजनाओं का यही फल होना चाहिए? ऐसी अवस्था में इसमें क्या आश्चर्य कि हजार कोशिश करने पर भी किसान अधिक उपजाना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता और व्यापारी कृत्रिम तरीके से दाम चढ़वा देने में कोई पाप नहीं समझता? हमने सोचा था कि इन सार्वजनिक कामों में वेतन देकर वहुत लोगों की वेकारी हम दूर कर सकेंगे और विकास का काम भी होगा। किन्तु फल उलटा ही हो

रहा है। आर्थिक उन्नति पर बहुत जोर देकर क्या हमने ही यह अवस्था नहीं बनाई है? जब कोई काम, जिससे आर्थिक लाभ न हो, हानिकर नहीं तो आवश्यक समझकर कोई उसे करना नहीं चाहता, यह विचारने योग्य बात है। यदि मेरा विश्लेषण ठीक है तो अभी भी समय है जब हम इस गलती को सुधार सकते हैं और आर्थिक उन्नति को उसका उचित स्थान देते हुए सभी चीजों का मूल्यांकन केवल पैसों में न करके एक नैतिक माप-दण्ड से भी माप सकते हैं और अर्थ तथा धर्म का समन्वय कर सकते हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

२४–८–५७

प्रिय ज्ञान, आशीष।

देश में इस समय बहुत असंतोष है। मैं समझता हूँ कि इसके लिए कुछ हद तक हम जिम्मेदार हैं, और बहुत-कुछ विश्व की विषम स्थितियों के कारण भी यह असंतोष है। यह जानना और समझना उचित ही होगा कि कहां तक गरीब और अमीर के बीच बहुत बड़ी असमानता के कारण यह असंतोष है। और यदि यह मान लें कि यह विषमता कम भी की जाय या दूर की जाय तो यह देखना होगा कि किस हद तक हमें गरीब वर्ग की हालत सुधारनी होगी।

यह सभी जानते हैं कि धनी लोगों की संख्या बहुत कम है। हमारे यहां के धनवान व्यक्ति उस स्तर पर नहीं आते जिस स्तर के इंग्लैण्ड या अमरीका के हैं। जो भी भेद हो, यदि इन तथाकथित धनवानों की सारी संपत्ति गरीब लोगों में बांट दी जाय तो भी उन गरीबों की संपत्ति इतनी नहीं बढ़ेगी कि वे धनवान कहला सकें। वास्तव में यह गरीबी का बंटवारा होगा, संपत्ति का नहीं। इसे कुछ आंकड़े देकर बताया जा सकता है जिसे चुनौती नहीं दी जा सकती। इसलिए यदि गरीबों की हालत को सुधारना है या उनके स्तर को उठाना है तो यह केवल कुल संपत्ति को बढ़ाकर ही किया जा सकता है, वर्तमान धन को गरीबों में बांटकर नहीं। कुल संपत्ति को बढ़ाने के लिए अधिकाधिक उत्पादन की आवश्यकता है। अधिक उत्पादन के लिए ज्यादा लागत चाहिए और लागत हमारी बचत में ही निकल सकती है। बचत

तभी हो सकती है जब लोगों की सामान्य जरूरतें पूरी हो जाएं और जिनकी आवश्यकताएं पूरी नहीं हुई है, उत्पादन में वृद्धि होने पर भी इस बचत का उपयोग पहले उनकी मांगें पूरी करने में ही होगा। यदि उन लोगों की आमदनी बढ़ती है और उनकी आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं तभी इस धन से उत्पादन बढ़ सकता है।

इसलिए यह मानना होगा कि धनवानों की आमदनी के बढ़ने से ही देश का उत्पादन बढ़ना संभव है। यदि अतिरिक्त उत्पादन बराबर-बराबर बांट दिया जाता है तो उससे गरीबों को कुछ ज्यादा जरूर मिल जायगा। इसलिए आगे चलकर गरीबों की दृष्टि से भी यह लाभदायक ही है कि धनवानों के पास अभी जो पैसा है वह रहे, जिससे वे उत्पादन को बढ़ा सकें और और बराबर जारी रख सकें। दूसरी ओर, यदि करों या दूसरे उपायों से उस बचत को, जिसे उत्पादन के लिए लगाया जा सकता है, छोटे-छोटे भागों में बांट दिया जायगा तो उससे उत्पादन बढ़ाने का अवसर नहीं रहेगा। इसलिए दोनों में ऐसा ठीक संतुलन होना चाहिए जिससे भावी उत्पादन में कटौती भी न हो और गरीबों की मदद भी हो सके। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें, बहुत सोचने-विचारने और स्थिति को सही-सही आंकने की जरूरत है, अन्यथा केवल भावुकता हमें ऐसे दलदल में ले जायगी जहां से निकलना हमारे लिए कठिन हो जायगा।

—राजेंद्र प्रसाद

२२-८-५७

प्रिय ज्ञान,

बंबई के 'करंट' में एक लेख छपा है, जिसमें वास्तव में भारत सरकार की आर्थिक नीति की आलोचना की गई है। सरकार की वर्तमान स्थिति का खाका खींचने के लिए उन्होंने 'आर्थिक दिवालापन (फाइनेंशियल बैंकरप्टसी) शब्द का उपयोग किया है। उसमें यह दिखाने के लिए आंकड़े दिये गए हैं कि किस प्रकार मुद्रित मुद्रा मात्रा में बढ़ी है और उसी अवधि में हमारी रिजर्व करेंसी घट गई है। कागजी मुद्रा की मात्रा १२०० से १५०० करोड़ रुपये तक बढ़ जाने में कोई बड़ा भारी चमत्कार नहीं है,

लेकिन सोने के सुरक्षित कोश में कमी इस अनुपात से बहुत अधिक है। विदेशी विनिमय मुद्रा के कारण देश जिस कठिनाई का अनुभव कर रहा है उसके लिए वह वर्तमान वित्तमंत्री को इसलिए दोषी ठहराता है कि उन्होंने वाणिज्य-मंत्री के रूप में उस समय उपभोग्य और विलास-वस्तुओं के आयात के लिए एकदम अनियंत्रित और उदार नीति अपनाई। उन्हें शक है कि हमें उधार या किसी भी शक्ल में विदेशों से बड़ी मात्रा में सहायता मिलेगी। इस प्रकार देश की स्थिति का बड़ा ही निराशाजनक चित्र 'करंट' ने खींचा है। यह लेख इस सुझाव के साथ समाप्त होता है कि वित्त-मंत्री का पद डा० देशमुख-जैसे योग्य व्यक्ति को देना चाहिए जिसमें जनता का विश्वास हो और जो बिगड़ती हुई हालत को ठीक कर सके।

मुझे ऐसा लगता है कि यह वर्णन बड़ा अतिशयोक्तिपूर्ण है और वर्तमान वित्त मंत्री (श्री टी० टी० कृष्णमाचारी) को नीचा दिखाने के लिए लिखा गया है। लेकिन जो भी हो, यह नहीं भूलना चाहिए कि हमें सतर्क और सावधान रहने की जरूरत है; खास करके ऐसे समय में हमारी कठिनाइयां और बढ़ जाती हैं जबकि हमें पाकिस्तान से मुकाबले के लिए तैयार रहना है और उसके लिए सुरक्षा के साधनों की अधिकाधिक जरूरत है।

इस वर्ष बजट-प्रस्तावों के अनुसार बढ़े हुए करों से लगभग ७२ करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय होगी, जिसमें से थोड़ा-सा भाग ही मिल सकेगा; और हो सकता है आनेवाले वर्षों में यह आय ११२ करोड़ रुपये हो जाय। इसमें भी करीब ५० करोड़ रुपये सुरक्षा-खर्च के लिए देने होंगे। इससे स्पष्ट है कि इस वर्ष के अतिरिक्त करों में से दो-तिहाई रकम सुरक्षा-खर्च के लिए रखी जायगी। इसलिए मेरे खयाल से यह कहना ठीक नहीं होगा कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लिए हमें कमर कसनी होगी। आय-कर का लगभग ६० प्रतिशत इस साल और ५० प्रतिशत आनेवाले वर्षों में केवल सुरक्षा-खर्च के लिए होगा, वह भी तब जबकि इस वर्ष जो स्तर निर्धारित किया है, उसीके अनुसार खर्च हो और बढ़े नहीं। किफायत के लिए खर्च को कम करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं—वास्तविक बचत की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक कारणों की वजह अधिक है—गवर्नरों और मंत्रियों ने स्वेच्छा से अपने वेतन में १० प्रतिशत कटौती करने की घोषणा की है। हम आशा

करते हैं कि अन्य मदों में भी काफी ठोस बचत होगी।

लेकिन जबतक काश्मीर को लेकर पाकिस्तान के साथ कुछ समझौता नहीं हो जाता, हमारा सुरक्षा-खर्च, जो पहले ही पूरे बजट का बहुत बड़ा भाग ले लेता है, कम होने के बजाय बढ़ेगा ही। लेकिन समझौते के कोई आसार नजर नहीं आते। इसलिए हमें और रास्ते ढूंढ़ने होंगे और सरकार को इस विषय में बड़ा सतर्क रहना होगा। कुल मिलाकर मैं उतना बुरा खाका नहीं खींचता जितना 'करंट' ने खींचा है। मुझे अपने देश के लोगों की शक्ति और साधनों पर भरोसा है जिनके सहारे हम इस संकट से निकल सकेंगे।

—राजेंद्र प्रसाद

बोगोर (इण्डोनेशिया)
१०-१२-५८

बेटी ज्ञान, आशीष !

जापान में मुझसे कहा गया था कि मैं गांधीजी के सिद्धांत और कार्य-क्रम के संबंध में वहां की सार्वजनिक सभा में कहूं। यहां युनिवर्सिटी में मुझे डॉक्टरेट से विभूषित करते समय अधिकारी सज्जन ने मेरे लेखों से इतनी बातें गांधीजी के सिद्धांतों के संबंध में कहीं कि मेरे लिए उस विषय को उत्तर में छोड़ देना असंभव हो गया। इस पहले के भाषण के प्रारूप को कल जल्दी में पूरी तरह बदलकर नया भाषण लिखवाना पड़ा जिसमें अहिंसा और सत्य के सिद्धांत का स्पष्टीकरण करना पड़ा। दोनों जगहों में मैंने पूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए अपील की और कहा कि यदि कोई छोटा राष्ट्र भी हिम्मत करके पूरी तरह निरस्त्र हो जाय तो उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा। साथ ही मुझे यह कहना पड़ा कि अभी मेरा देश भी इसके लिए तैयार नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि मैं अपने देश में ही इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करा सकता तो मुझे किसी दूसरे देश को यह सम्मति देने का क्या अधिकार है ? मैंने उत्तर दिया कि यदि हम अयोग्य हैं तो कोई कारण नहीं कि कोई दूसरा देश योग्य न साबित होवे। उत्तर तो एक प्रकार से दुरुस्त है पर तो भी प्रश्न रह जाता है कि इस प्रकार की

सलाह का असर क्या हो सकता है ? और कुछ असर नहीं हो सकता तो मेरे लिए, जो राष्ट्रपति की हैसियत रखता हूं, ऐसा कहना कहां तक उचित है ? यदि मैं इस पद पर न होता तो जो चाहता कह सकता था, क्योंकि मेरे ऊपर कुछ कराने अथवा करने की जिम्मेदारी न होती। पर इस पद पर रहते हुए तो मैं ऐसा नहीं कह सकता कि मेरा कुछ इसमें कर्त्तव्य है ही नहीं। मैंने अपनी सरकार को भी तो बहुत जोर देकर कभी निरस्त्रीकरण की सलाह नहीं दी है। जो दवी जबान से कहा भी है वह स्वीकृत नहीं हुआ और मैंने उसे वहां ही छोड़ दिया, यद्यपि मेरा सुझाव पूर्ण निरस्त्रीकरण का नहीं, केवल एक नमूना पेश करने मात्र का था। तो, यदि ऐसी अवस्था में कोई मुझपर धोखेबाजी (डबल डीलिंग) का दोष आरोपित करे तो क्या यह ठीक नहीं होगा ? क्या कभी ऐसा होगा कि दूसरे मामलों की तरह इस मामले में भी "उकरहि अंत न होंहि निबाहू" की बात चरितार्थ नहीं होगी ? तुम्हारी क्या राय है ?

बाबूजी का आशीर्वाद !

—राजेंद्र प्रसाद

२४–१०–५८

चि० ज्ञान, आशीर्वाद !

आज के 'टाइम्स आफ इंडिया' में श्री राजा हरिसिंह का एक पत्र छपा है। इसमें उन्होंने राष्ट्रपति इस्कंदर मिर्जा और सेनापति मुहम्मद अयूब खां द्वारा पाकिस्तान में संविधान के रद्द किये जाने, केंद्र और प्रांतों के मंत्रि-मंडलों के भंग किये जाने और सैनिक शासन स्थापित किये जाने का जिक्र करते हुए भारत की स्थिति पर विचार किया है। वह लिखते हैं, "इस विषय में तथ्य यह है कि ऐसा मालूम होता है कि 'नेहरू के बाद' ताकत हथियाने के लिए कांग्रेस पार्टी के अंदर ही षड्यंत्र के फलस्वरूप पिछले १८ महीने में भारतीय सेना के बहुत-से अधिकारियों तथा सैनिकों को अनुचित रूप से अचानक ही पदोन्नतियां दी गई हैं। सैनिक अधिकारियों के बच्चों को ५० रुपया प्रतिमास का भत्ता, भूमि देने आदि के अलावा सरकारी खजाने से स्कूल की फीस की अदायगी-जैसी असाधारण रियायतें

दी गई हैं। क्या हमें इस बात की जानकारी है कि नई दिल्ली में एक राजनीतिक मोर्चे की मदद से, जिसमें एक ओर सेना तथा दूसरी ओर साम्यवादी दल होगा, ताकत हथियाने के लिए भूमिका तैयार की जा रही है ?" इससे साफ जाहिर होता है कि उनके मत से हमारी सेना को सैनिक क्रांति के लिए तैयार किया जा रहा है और एक राजनीतिक फ्रंट सेना की सहायता से नेहरू के बाद अपने हाथों में कम्युनिस्टों की सहानुभूति पाकर अधिकार प्राप्त करना चाहता है। क्या इसमें कुछ सचाई है ? क्या इन इलजामों का कोई आधार या सबूत है ? मैंने दो-एक दूसरे जरियों से भी इस प्रकार की बात सुनी है। पर उनमें न तो इतनी स्पष्टता थी और न इतनी वास्तविक बातें जैसे सैनिक अफसरों की तरक्की, उनके बच्चों की शिक्षा के लिए ५०) मासिक और फीस-माफी और जमीन की बन्दोबस्ती। जो भी हो, सावधान होना तो आवश्यक और अनिवार्य होता जा रहा है।

—राजेंद्र प्रसाद

१८-१-५६

चि० बेटी ज्ञान, आशीर्वाद।

मैं आज के पहले एटा अथवा एटा जिले के किसी स्थान पर नहीं गया था। आज एटा जानेवाली रेल का उद्घाटन करने मैं गया। यह लाइन बरहन स्टेशन से एटा तक लगभग ३६ मील लंबी है। इसपर एक करोड़ ३४ लाख रुपये खर्च हुए हैं। मैं गया था रेल की लाइन का उद्घाटन करने, पर वहां एटा में और रास्ते में लाइन के पास और जलेसर शहर के और अवागढ़ के स्टेशन पर जनता की बड़ी भीड़ थी, विशेष करके एटा की सार्वजनिक सभा में। मैं पहले इस यात्रा के सम्बन्ध में बहुत उत्साह नहीं रखता था परन्तु श्री रोहनलाल चतुर्वेदी संसद्-सदस्य के बहुत अनुरोध पर ही वहां जाना मंजूर किया था। पर वहां जाकर ऐसा मालूम हुआ कि यहां नहीं आता तो मैं यहां की जनता के प्रति अन्याय करता। आज भी जनता में कांग्रेस के प्रति कैसी सद्भावना है, यह देखने से ही मालूम हो सकता है। जहां कहीं जवाहरलालजी जाते हैं, जनता इसी तरह उमड़ पड़ती है। मैं भी जाता हूं तो बड़ी भारी भीड़ जुड़ जाती है। इनसे

स्पष्ट है कि जनता का हृदय सद्भावना से भरा है और यदि हम उसको कभी अपनी ओर से विमुख भी पायेंगे तो उसका कारण हमको अपने में ही ढूंढ़ना ठीक होगा।

हम अक्सर कांग्रेस संस्था के प्रति घटती श्रद्धा का कारण ढूंढ़ते हैं। मुझे मालूम होता है कि कांग्रेस के प्रति श्रद्धा जैसी पहले थी, वैसी ही है, पर कांग्रेसी लोगों के प्रति वह श्रद्धा दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। इसका कारण कांग्रेसियों की अपनी कमजोरियां हैं। यदि कांग्रेसी लोग समय रहते इस मर्म को समझ लेंगे तो कांग्रेस और उनके प्रति श्रद्धा बनी रह जायगी। अन्यथा उनके प्रति तो वह हट ही जायेगी, हो सकता है कि कुछ दिनों में कांग्रेस के प्रति भी कम हो जाय।

आज तुम साथ नहीं रहीं, साथ रहतीं तो यह सब स्वयं देखतीं।

बाबूजी का आशीर्वाद !

—राजेंद्र प्रसाद

९-११-६०

प्रिय बेटी ज्ञान,

आज का दिन हमारे लिए कई प्रकार से अपनी विशेषता रखता है। आज गवर्नरों की कान्फ्रेंस खत्म हुई। आज ही खबर आई कि हमारी हवाई सेना के सरदार एयर मार्शल मुखर्जी की जापान में मृत्यु हो गई। नये किस्म के बोइंग जहाज की जांच की उड़ान में वह गये थे और सुनने में आता है कि वहां पहुंचते ही हृदय-गति रुक जाने से उनकी मृत्यु हो गई। बड़े अफसोस की बात है। वह बहुत अच्छे अफसर थे। दु:ख की बात है कि उनके माता-पिता, जो ८८ बरस के हैं, अभी जीवित हैं। वह डाक्टर पी० के० राय की लड़की के पुत्र थे।

उधर अमरीका से खबर मिली है कि आज नये प्रेसीडेंट का चुनाव पूरा हो गया और श्री केनेडी चुने गए। वह डेमोक्रेट दल के हैं और रिपब्लिकन दल के उम्मीदवार निक्सन को हराकर प्रेसीडेंट हुए हैं। दूरवालों की बात छोड़ दी जाय, बहुत-से अमेरिकन भी यह नहीं बता सकते कि डेमोक्रेट और रिपब्लिकन में क्या फर्क है। पर फर्क चुनाव में अवश्य होता

है। करोड़ों रुपये खर्च करके यह चुनाव लड़ा जाता है और किसी दल का आदमी चुना जाता है। पिछले आठ वरसों मि० आइजन होवर रिपब्लिकन दल के प्रेसीडेंट रहे हैं। उनके पहले कई वरसों तक डेमोक्रेट दल के ट्रूमैन, उनके पहले रूजवेल्ट प्रेसीडेंट रहे थे। अब फिर आठ वरसों के बाद डैमोक्रेट की बारी आई है। सुनते हैं कि केनेडी ने सिनेट में, जिसके वह सदस्य रहे हैं, भारत को आर्थिक सहायता देने की बात उठाई थी और शायद एक प्रस्ताव पास भी कराया था। यों तो रिपब्लिकन लोग भी मदद देते ही आये हैं, तो भी शायद आशा की जा सकती है कि अब कुछ हाव-हवा और अधिक अनुकूल हो जायगी। बड़ी बात यह भी है कि उनके प्रमुख सलाहकारों में मि० चेस्टर बोलस भी हैं जो यहां राजदूत रह चुके हैं और जिन्होंने अपने लेखों इत्यादि से भारत के प्रति सद्भावना दिखलाई है। देखें, अब क्या होता है।

—राजेंद्र प्रसाद

११-११-६०

बेटी ज्ञान, आशीर्वाद।

एयर मार्शल मुकर्जी का शव कल जापान से हवाई जहाज पर संध्या सवा छः बजे दिल्ली पहुंचा। आज सवेरे उनके निवास-स्थान पर प्रार्थना इत्यादि के बाद उसे पूरे फौजी सम्मान के साथ निगमबोध घाट पर ले जाया गया और वहां दाह-क्रिया उनके पुत्र ने संपन्न की। मेरी इच्छा तो थी कि उनके मकान तक प्रार्थना में शरीक न होकर घाट तक जाऊं, पर सलाह हुई और मेरा नहीं जाना ही अच्छा समझा गया। जो हो, वह एक अच्छे अफसर थे जिन्होंने अंग्रेजों के समय पहले-पहल सेना के एक विभाग का भार संभाला था और उनके काल में हवाई सेना की उन्नति भी अच्छी हुई है। मृत्यु भी अचानक हुई और मालूम हुआ है कि खाते समय मांस का टुकड़ा सांस की नली में चला गया और सांस एकबारगी रुक जाने में मृत्यु हो गई। इस तरह न तो कोई बीमारी हुई और न डाक्टर की किसी प्रकार की चिकित्सा। फिर भी जैसी नियति की इच्छा!

आज मुझे एक समारोह में भाग लेना पड़ा। वह था आजाद-भवन

के उद्घाटन का समारोह। इसकी नींव दो वर्ष पहले ११ नवम्बर, १९५८ को मैंने ही डाली थी। ११ नवम्बर मौलाना आजाद का जन्म-दिन है और आज ६२ वां जन्म-दिन था। सुन्दर मकान बना है।

अमेरिका में प्रेसीडेंट के चुनाव के पूर्व दोनों पक्षों के उम्मीदवार टेलीविजन पर कुछ पत्रकारों के सामने अपने-अपने विचार रखते और एक-दूसरे को उत्तर देते तथा पत्रकारों के प्रश्नों का समाधान करते रहे। इस टेलीविजन का रिकार्ड यहां आया है और मैंने उसे आज देखा। मुझपर इसका बहुत अच्छा असर पड़ा। दो उम्मीदवार एक-दूसरे के आमने-सामने इस तरह जोरदार भाषण और सवाल-जवाब करते देखे गए, तो भी कहीं न तो कुछ कड़वापन था और न एक भी शब्द ऐसा था जिसपर कोई आपत्ति कर सके। बहस भी बहुत उंचे स्तर की थी जिससे दोनों की योग्यता का पता चलता था। बहस के अध्यक्ष ने अन्त में कहा कि इस प्रकार की बहस से दोनों उम्मीदवारों ने एक नई परंपरा की स्थापना कर दी है। ये दोनों उम्मीदवार श्री निक्सन और श्री केनेडी थे। मुझे यह तरीका ठीक मालूम हुआ और इस बात का भी मुझे अनुभव हुआ कि उनका सारा आन्दोलन कितने ऊंचे स्तर पर चलता होगा। हमें भी इस प्रकार की परंपरा अपनानी चाहिए। यह अच्छा रहेगा।

—राजेंद्र प्रसाद

३१–१०–५८

चि० बेटी ज्ञान,

दो दिनों से गवर्नरों की कान्फ्रेंस होती रही है और आज सवा पांच बजे सध्या को ११। घंटों तक विविध विषयों पर विचार-विमर्श के बाद वह समाप्त हुई। मेरे पास प्राणदंड पाये हुए मुलजिमों की दर्खास्तें दया के लिए आती हैं। मैं देखता आया हूं कि पंजाब से सबसे अधिक दर्खास्तें आती हैं, जिसका कारण है कि वहां सबसे अधिक प्राणदंड की आज्ञाएँ होती हैं अर्थात् वहां अधिक खून हुआ करते हैं। आज बम्बई के राज्यपाल ने एक सूचना दी जिसे सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ, मेरी उपर्युक्त धारणा के सही होने में कुछ-संदेह पैदा हो गया। उन्होंने कहा कि खून की तादाद तो काफी

ज्यादा होती है--उन्होंने आंकड़े दिये जो मुझे याद नहीं हैं—पर जो मुकदमे चलाये जाते हैं उनमें से बहुतेरे मुलजिम नाकाफी सबूत होने के कारण छोड़ दिये जाते हैं, और जिनपर मुकदमा साबित भी होता है उनमें बहुतेरों को आजीवन कैद की सजा दी जाती है, फांसी की नहीं। इसलिए प्राणदंड से बचने के लिए दया की मांग का मौका ही कम हो जाता है। अत: यह सोचना, कि वहां बहुत कम खून होता है, संदिग्ध हो जाता है। जबतक पंजाब तथा सभी प्रान्तों के अलग-अलग हुए खूनों के तथा उनके अभियुक्तों में से छूट जानेवाले अथवा आजीवन कैद की सजा पानेवाले और फांसी के दंडवालों की संख्या और आंकड़े मिलाकर न देखे जायं, कोई भी विचार निश्चित रूप से सही नहीं कहा जा सकता। मैं आजतक भारी भ्रम में था। अब केवल दया की दर्खास्तों की संख्या से ही खूनों के सम्बन्ध में जानकारी नहीं मिल सकती। अलग-अलग आंकड़े क्या मांगना जरूरी है? क्या इसके जमा करने में बहुत परिश्रम और खर्च नहीं पड़ेगा? जो हो, एक बार तो देखना अच्छा होगा।

आज करवा चौथ है जो स्त्रियां विशेष करके मनाती हैं। इसका अलग आशीर्वाद।

—राजेंद्र प्रसाद

२७-१२-५८

चि० ज्ञान,

राष्ट्रपति-भवन में न मालूम कितने अंगरेजों के चित्र जहां-तहां टंगे हैं। इनमें बहुतेरे ऐसे लोगों के हैं, जिन्होंने भारत में अंगरेजी राज्य कायम करने में काम किया। कुछ ऐसे भी होंगे, जिनके कारनामे भारत की दृष्टि में जुगाके रखना भारत के लिए कोई विशेष हर्ष का विषय नहीं होंगे और अंग्रेजों के लिए भी बहुत गौरव का विषय नहीं होंगे। फिर भी कुछ ऐसे लोगों के चित्र नहीं हैं और किसीका उस ओर ध्यान भी नहीं है जिन्होंने भारत की आजादी के आन्दोलन में मदद की अथवा जिन्होंने आजादी देने का काम खुद किया। इनमें से पहली श्रेणी में सर हेनरी कॉटन, श्री वेडवर्न, श्री ह्यूम इत्यादि हैं और दूसरी श्रेणी में सम्राट जॉर्ज, लॉर्ड पैथिक लॉरेन्स

और लॉर्ड एटली हैं। इसी तरह हाल की ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं का भी कोई चित्र यहां नहीं है—जैसे, स्वतंत्रता के अधिकारों का हस्तान्तरण—प्रथम राष्ट्रपति पद की शपथ, पहली परेड और सलामी इत्यादि। पार्लियामेण्ट के सदन में उन दो आदमियों के चित्र भी कहीं-न-कहीं जरूर होने चाहिए, क्योंकि उन दोनों का हाथ हमारे इस संविधान के घड़ने में बहुत रहा। एक प्रकार से ये दोनों संविधान के घड़नेवाले कहे जा सकते हैं—वे हैं सर बी० नरसिंहराव और डाक्टर भीमराव अम्बेदकर। मैं चाहता हूं कि ये त्रुटियां पूरी की जायं। एक बार ऐतिहासिक घटनाओं के चित्र की बात भी चली थी, पर वह जहां-की-तहां रह गई। अब फिर इन सबकी बात उठानी चाहिए और उनको किसी-न-किसी रूप में पूरा कराना चाहिए। मालूम नहीं, औरों को ये विचार पसन्द आयेंगे या नहीं।

बाबूजी का आशीर्वाद !

—राजेन्द्र प्रसाद

६-११-५८

चि० ज्ञान बेटी, आशीर्वाद।

कई बरसों के बाद आज मैं पुरुलिया आया और स्वभावतः बहुत पुरानी स्मृतियां ताजी हो उठीं। पुरुलिया १९५६ के पहले बिहार प्रदेश में ही था। उस साल जब प्रान्तों का नवगठन हुआ तो कुछ इलाके के साथ पुरुलिया बंगाल में मिला दिया गया। आज उन दिनों के एक बहुत वृद्ध वकील श्री जगदीशचन्द्र मुखर्जी से मैं मिला। उनकी अवस्था ८३ वर्ष की है और वह बहुत अस्वस्थ हैं। मिलकर बहुत खुशी हुई और उनकी खुशी का तो कोई ठिकाना नहीं। इसी प्रकार शिल्पाश्रम में जाकर मैं श्री अतुलचन्द्र घोष और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती लावण्यलता देवी से मिला। वहां उनके पुत्र अरुण और स्वर्गीय निवारणचन्द्र गुप्त के पुत्रों और लड़की से भी भेंट हुई। श्री जीमूतवाहन सेन की ८२ वर्षीया वृद्धा माता से भी भेंट हुई। कितने ही बार इनके हाथों का दिया हुआ मैंने खाया होगा। ये सब पुरानी बातें और कितने ही ऐसे मित्रों के चित्र सामने आ गए जो आज नहीं हैं। जिस समय बंगाली लोग इस हिस्से को बंगाल में मिलाये जाने के

पक्ष में आन्दोलन कर रहे थे और विहार के लोग उसका विरोध, तब न मालूम बंगाली लोगों के दिलों में क्या-क्या आशाएं थीं और विहारियों में कौन-कौन से भय। पर आज मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि अरुण और दूसरे लोग बंगाल की गवर्नमेण्ट और विशेषकर वहां की कांग्रेस का विरोध करते हैं। चुनाव में सेवक समाज की ओर से कांग्रेसी उम्मीदवारों का विरोध किया गया था। बहुतेरी जगहों में हार गए, पर कुछ जगहें जीत भी लीं। संसद के चुनाव में निवारणबाबू के बड़े लड़के विभूति कांग्रेस को हराकर चुने गए। आश्चर्य इससे हुआ कि बंगाल में जाकर इन लोगों को कुछ विशेष संतोष नहीं हुआ, विहार में तो असन्तुष्ट थे ही। यदि ये विहार में रहे होते तो क्या इनकी इतनी सुनवाई नहीं होती जितनी आज हो रही है? यद्यपि इस आन्दोलन में मैं चुप और तटस्थ रहा, पर आज मुझे यह सुनकर कुछ अफसोस हुआ कि पुरुलिया का वार, जो एक जबर्दस्त वार था, अब कुछ नहीं रहा। इसका कारण यह हुआ कि दो जबर्दस्त हिस्से—धनबाद-झरिया और सिंहभूम-जमशेदपुर—जो इसकी आमदनी के खास जरिया थे, अब इसके मातहत नहीं रहे। केवल पुरुलिया में तो जमीन भी अच्छी नहीं है, कोई कारबार भी नहीं है। शायद कुछ लोगों को पछतावा भी होता होगा।

—राजेंद्र प्रसाद

२३–१०–६०

बिटिया ज्ञान, आशीर्वाद।

कल प्रयाग में यह स्पष्ट हो गया कि श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास टंडन के प्रति जनता तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं में कितनी श्रद्धा है। वहां जो सभा हुई वह एक बहुत बड़ी सभा थी जैसी अक्सर देखने में नहीं आती। मैं समझता हूं कि लगभग एक लाख आदमी उपस्थित थे; पर एक बड़े मार्के की बात यह थी कि जिन्होंने श्रद्धांजलि दी, उनमें से बहुतेरे अन्य प्रान्तों से आये थे और कुछ केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के तथा प्रांतीय मंत्रिमण्डलों के सदस्य भी थे। इनमें डॉ० काटजू, श्री सुखाड़िया, श्री राजबहादुर, श्री मालवीय विशेष उल्लेखनीय हैं और बाहर से आगन्तुक लोगों में श्रीमती कमलाबाई

थीं, जो इंदौर से आई थीं। पुस्तक जो भेंट की गई वह बहुत सुन्दर जिल्द में तो थी ही, उसके लिए कारीगरी से बना हुआ एक बहुत सुन्दर चंदन का बक्स भी था। मुझे इस बात की खुशी हुई कि मैं जा सका। मुझे डर था कि टंडनजी का स्वास्थ्य इतना कमजोर है कि उनका सभा में आना खतरे से खाली नहीं है। मैंने यह विचार व्यक्त भी किया। पर वह आये और सिर्फ आये ही नहीं, वहां लगभग २ घण्टे तक बैठे और अन्त में ७-८ मिनट तक भाषण भी दिया और जब 'जन-मन-गण' होने लगा तो सहारे से उठकर खड़े भी हो गए। जब मैं दोपहर को मिलने गया था तो दो-चार शब्द भी मुश्किल से बोल सकते थे, खांसी आ जाती थी, पर सभा में बिना खांसी के इतनी देर तक और जोर से बोलते रहे। यह उनके दृढ़ आत्म-बल का एक बड़ा सजीव सबूत है। ईश्वर उन्हें कायम रखे और वह देश के सामने दृष्टांत बने रहें।

—राजेंद्र प्रसाद

२–१–५६

बिटिया ज्ञान,

अजीब दृश्य इस देश में हमें देखने को मिल रहे हैं। आज के समाचार-पत्रों में खबर छपी है कि डाह्याभाई पटेल (सरदार वल्लभभाई के पुत्र) अन्य कई व्यक्तियों के साथ गिरफ्तार हुए। उनकी पत्नी जेल में रही हैं और अभी हाल में निकली हैं। मणिबहन दूसरे पक्ष में हैं। महागुजरात परिषद चाहती है कि गुजरात को अलग सूबा बनाया जाय। आजकल गुजराती-भाषी भाग, मराठी-भाषी भाग और बम्बई के साथ प्रान्त में है। मराठा लोग चाहते हैं कि महाराष्ट्र को बंबई के साथ अलग सूबा बनाया जाय। गुजरात को अलग करने के लिए कुछ गुजराती उसके पक्ष में हैं और कुछ ऐसा नहीं चाहते। डाह्याभाई उस दल में हैं जो अलग गुजरात चाहता है और मणि बहन दूसरे दल में, जो महाराष्ट्र और गुजरात को इकट्ठा रखना चाहता है। गवर्नमेण्ट के निश्चय के अनुसार आज द्विभाषी प्रान्त कायम हैं। इसलिए जो गुजराती अलग गुजरात चाहते हैं, सत्याग्रह

कर रहे हैं। परिणामस्वरूप वे जेल में जा रहे हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है ?

कौन सोच सकता था कि वह दिन इतना जल्द आयेगा जब सरदार का पुत्र जेल भेजा जायगा और मणि बहन दूसरे दल में होंगी और हम सब गवर्नमेण्ट में होंगे जो ऐसा करेगी। मालूम नहीं, अभी और कौन-कौन अनहोनी बातें होंगी और हम सब टुकुर-टुकुर ताकते रहेंगे।

बापूजी का आशीर्वाद !

मेरी ज्ञान बेटी,

महात्मा गांधी का स्वर्गवास हुए ११ वर्ष से अधिक हो गए और सरदार पटेल को ९ वर्ष से कुछ कम। जनसाधारण और बौद्धिक वर्ग दोनों ही बड़ी संख्या में उनका आदर करते थे। फिर भी इतने थोड़े समय में हमने बहुत-सी बातों में गांधीजी की शिक्षा को करीब-करीब भुला दिया और सरदार पटेल को तो एकदम ही भूल गए।

महात्मा गांधी बहुत बड़े शिक्षक थे इसलिए हम उन्हें उनकी उपलब्धियों से नहीं आंकते, बल्कि उनकी शिक्षा को याद करते हैं। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि तो स्वराज्य ही थी। हम इसे बड़ी साधारण घटना मानते हैं और मैं समझता हूं कि आनेवाली पीढ़ियां इसके बारे में और कम जानेंगी, जब कि हमीं लोग, जिन्होंने उनके साथ काम किया है, इस प्रकार सोचने लगे हैं। जहांतक उनकी शिक्षा का संबंध है, हममें से बहुतेरे उन्हें दकियानूसी न सही, पुरानी तो मानते ही हैं। हम उन्हें तभी याद करते हैं जब हमें किसी बात के लिए उनके सहारे की जरूरत पड़ती है। सरदार पटेल केवल आदर्शवादी और सिद्धांत बघारनेवाले ही व्यक्ति नहीं थे; सबसे ऊपर वे क्रियात्मक राजनीतिज्ञ और सफल प्रशासक थे। इन क्षेत्रों में वे इतिहास में अपने अमिट चिह्न छोड़ गए हैं जो भुलाये नहीं जाने चाहिए; किंतु ऐसा लगता है जैसे आज उन्हें उपेक्षित कर दिया गया हो। उस कठिन और नाजुक घड़ी की कल्पना करो जब बड़ी और छोटी, उन्नत और पिछड़ी हुई छः सौ

रियासतें भारत अथवा पाकिस्तान के साथ मिलने को स्वतंत्र थीं। ज़रा कश्मीर के बारे में सोचो, जिसने ऐसी समस्या हमारे सामने खड़ी कर दी है जो स्वतंत्रता-प्राप्ति के १२ वर्ष बीत जाने पर भी आजतक नहीं सुलझी। ज़रा उस स्थिति की कल्पना करो, यदि बड़ौदा और जोधपुर, इन्दौर और हैदराबाद की समस्याएं भी उलझी ही रह जातीं। और तब तुम्हें कश्मीर के अलावा अन्य सभी राज्यों अथवा रियासतों के मिलाये जाने का महत्त्व समझ में आयेगा।

आज हम जिस एक भारत के बारे में सोचते और बातें करते हैं, बहुत करके उसका श्रेय सरदार पटेल की राजनीतिक कुशलता और दृढ़ प्रशासन को ही है, जिन्होंने न केवल दृढ़ता से इन रियासतों को उनके शासकों की मर्जी से समाप्त किया, बल्कि उनमें देशभक्ति की भावना इस हद तक पैदा की कि आख़िर में वे इस महान कार्य के लिए सरदार का ही आभार मानने लगे। फिर भी हम उन्हें भूल-से गए हैं। दिल्ली में आज-तक उनकी स्मृति में कोई स्मारक बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया। यहां तक कि पार्लामेंट में भी जो चित्र है वह एक रियासत (ग्वालियर) के शासक की भेंट है। इसलिए किसीको इस भुलावे में नहीं रहना चाहिए कि चाहे उन्हें कोई मान्यता दे अथवा न दे, उनकी सेवाएं किसी भी माने में कम मूल्यवान हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

३१-१२-५८

बिटिया ज्ञान,

इंगलैंड के एक बड़े विद्वान् सीली हो गए हैं। उनका कथन है—"पॉलिटिक्स विदाउद हिस्ट्री हैज़ नो रूट; एण्ड हिस्ट्री विदाउट पॉलिटिक्स हैज़ नो फ्रूट।"—अर्थात्, राजनीति के लिए इतिहास उतना ही आवश्यक है जितना इतिहास को सफल बनाने के लिए राजनीति। जबतक किसी भी देश के ऐतिहासिक महत्त्व को न जाना और समझा जाय और वहां की ऐतिहासिक घटनाओं का ठीक विश्लेपण और अनुसन्धान न किया जाय, वहां की राजनीति ठीक नहीं समझी जा सकती है और इसी तरह इतिहास

का महत्त्व इसीमें है कि इससे वहां के कारबार चलाने में मार्गदर्शन मिल सके। इतिहास पढ़ने से ही किसी भी देश या जाति के महत्त्वपूर्ण कामों का पता लग सकता है और उसपर से उसकी योग्यता ठीक आंकी जा सकती है। इसी तरह उसकी त्रुटियां भी जानी जा सकती हैं और उनसे बचने के उपाय अपनाये जा सकते हैं। जो बात किसी भी देश के लिए सत्य है वह किसी व्यक्ति पर कहां तक लागू होती है, यह विचारणीय है। देश का काम किसी व्यक्ति-विशेष का काम नहीं होता, यद्यपि ऐसे लोग होते हैं जिनका जीवन और कार्य उस देश को उठा सकते हैं, जैसे महात्मा गांधीजी को हमने अपनी आंखों इस देश में देखा है। ऐसे व्यक्ति के जीवन से भी बहुत-कुछ सीखा जा सकता है, पर प्रायः इस प्रकार के लोग बहुत नहीं होते। बहुत करके जनसमूह के रहन-सहन, जीवन से जो बात जानी जाती है वही ऐतिहासिक हुआ करती है। इसलिए व्यक्ति के जीवन से भी बहुत-कुछ सीखा जा सकता है, पर बहुत करके व्यक्ति और जाति के जीवन हमेशा समान नहीं होते। गिरे हुए देश में भी बड़े व्यक्ति होते हैं और उन्नत देश में भी गिरे हुए व्यक्ति। इसलिए यदि सामूहिक रीति से विवेचन किया जाय तभी ठीक जांच हो सकती है। इसमें जो व्यक्ति विशेष हो जाते हैं वे तो विशेष होते हैं और यद्यपि वे कहीं-कहीं सारे इतिहास के मुंह को मोड़ देते हैं तो भी उनको आधार मानकर कोई सार्वजनिक नियम बनाना ठीक नहीं होगा।

बाबूजी का आशीर्वाद।

राजेंद्र प्रसाद

१४ | उद्योगीकरण

राजेंद्रबाबू गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों के अनन्य पोषक थे। खादी तथा ग्रामोद्योगों को वह देश के लिए अत्यंत आवश्यक मानते थे। उन्हें वह बड़े उद्योगों के पूरक के रूप में देखते थे। उनकी यह भी धारणा थी कि ग्रामोद्योगों से किसानों को काम मिल सकता है, जो खेती-बारी के बाद साल में कई महीने बेकार रहते हैं।

वह उद्योगीकरण द्वारा उद्योग-धंधों के केंद्रीकरण के भी विरोधी थे। वह चाहते थे कि उद्योगों का विकेंद्रीकरण हो, जिससे मानव-श्रम बेकार न जाय। वह गांधीजी के विकेंद्रीकरण के सोलहों आने पक्षपाती थे।

आगे के पत्रों में बाबूजी के इन्हीं विचारों की झलक मिलती है।

२१–९–५८

बेटी ज्ञान,

हमारे सामने एक महत्त्व का प्रश्न है कि जिसके उत्तर पर भारत के भविष्य का रूप बहुत-कुछ निर्भर कर सकता है। पर इस समय हम उस ओर ध्यान न देकर अंधाधुंध पश्चिम के रास्ते पर चले जा रहे हैं। कहा नहीं जा सकता कि हम एक कमजोर पश्चिम का प्रतिबिंब-मात्र होकर रह जायेंगे या कुछ हम भी देश को अपनी देन दे सकेंगे या अपना कुछ भी रख सकेंगे या नहीं। भौतिक सभी साधन हमारे प्रतिकूल हैं और एक प्रकार से अनिवार्य रूप से बाध्य होकर हम एक ओर चले जा रहे हैं। उद्योगीकरण का जितना कार्यक्रम होता है सबके मूल में केंद्रीकरण है और एक का जितना बाहुल्य होगा, दूसरे का कम हुए बिना नहीं रह सकता। यही पश्चिम में हुआ है। एक नतीजा जो स्पष्ट दीख रहा है वह यह है कि

जनसाधारण की आत्म-निर्भरता कम होती जा रही है या की जा रही है और व्यक्ति के जीवन के छोटे-मोटे सभी कामों पर शासन का अधिकार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है। जैसे आजकल अन्न-संकट है। मालूम होता है कि आहिस्ता-आहिस्ता अन्न की बिक्री पर और पीछे चलकर अन्न पैदा करने की क्रिया पर, शासन अधिकार जमाता जायगा। कौन बेचे, किसके हाथ बेचे, कितना बेचे; अर्थात् अन्न का जनता में बांटना और पहुंचाना शीघ्र ही नियंत्रित हो जा सकता है। उसके बाद प्रश्न होगा कि किस अन्न को कितना पैदा किया जाय और कहां क्या बोया जाय, इत्यादि। खेत में पैदा करके अपने घर में न रखकर किसान को नियत मात्रा में, नियत दाम पर सरकार को बेचना होगा और सरकार गांव-गांव में, घर-घर में थोड़ा-थोड़ा अन्न न रहने देकर बड़े-बड़े गोदामों में अन्न जमा कर देगी। फिर घरों से गोदाम तक ढोकर ले जाना और गोदामों से घर-घर तक पहुंचाना भी कम मुश्किल काम नहीं होगा और उसके लिए भी एक केंद्रित प्रतिष्ठान करना होगा, इत्यादि-इत्यादि। इस तरह हम डरते हैं कि जैसे उद्योगों को पश्चिमी रीति से बड़े-बड़े कारखानों में हम केंद्रित करते जायंगे, अधिकाधिक अधिकार शासन का बढ़ता जायगा और व्यक्ति निःसहाय होता जायगा। यह विचारणीय विषय है, क्योंकि इसमें सब समाजवादियों का भी रुख इस प्रकार शासनाधिकार बढ़ाने के पक्ष में ही होगा। केवल गांधीवादी अपने विकेंद्रीकरण के कार्यक्रम को चलाकर इसमें कुछ रोकथाम कर सकते हैं। पर मुझे बहुत शक है कि क्या इस लहर को वे रोक सकेंगे!

—राजेंद्र प्रसाद

५-११-५८

चिरंजीव ज्ञान,

गोमिया में एक सज्जन मिले, जिन्होंने कहा कि यद्यपि हजारीबाग में बहुत कारखाने खुल रहे हैं, तो भी वहां के निवासियों को उनमें बहुत कम जगहें मिल रही हैं। इसी बात को सुनकर मेरे मन में कुछ प्रश्न आये। जिनके संबंध में दिल्ली में खोज करनी होगी। हम लोगों ने उद्योगीकरण कर रहे हैं और मैं जहां जाता हूं, अक्सर लोग कहते हैं कि उनके इलाके में

भी कारखाने खुलने चाहिए, जिसमें लोगों को धंधे मिल सकें। मुझे जहां तक मालूम है, छोटा नागपुर में काफी उद्योगीकरण हुआ है और हो रहा है। यहां प्राकृतिक साधन भी काफी मात्रा में पाये जाते हैं। इसलिए उद्योगीकरण स्वाभाविक है। अब देखना यह है कि इस उद्योगीकरण से बेकारी का मसला कहां तक हल हो पाया है या हो सकता है। शायद विद्वानों ने और सरकारी अधिकारियों ने और विशेष करके योजना-आयोग ने जरूर विचार किया होगा कि उद्योगीकरण कहां तक बेकारी दूर करने में सहायक हो सकता है। इसलिए मैं पूछूंगा कि उनके क्या विचार हैं; और यदि पूरी तरह से इस विषय का अध्ययन नहीं हुआ है तो कहूंगा कि अध्ययन किया जाय। उसके कई पहलू हो सकते हैं। यह देखना होगा किन-किन उद्योगों को छोटा नागपुर, बंगाल, बंबई, बंगलौर इत्यादि जैसी जगहों में, जहां उद्योगीकरण कुछ हद तक हो चुका है, बढ़ावा दिया गया है और उनमें कितने आदमी लगे और उनका वहां की जनगणना में क्या अनुपात होता है; जो सामान उन कारखानों में तैयार होता है उसका कितना भाग उन इलाकों या राज्यों में खर्च होता है और बाकी कहां बिकता है। इन जानकारियों के आधार पर यह जाना जा सकेगा कि यदि उन्हीं वस्तुओं को और अधिक मात्रा में वहां बनाने के साधन हैं तो उनको कहां तक बढ़ाया जा सकता है; और यदि बढ़ाया गया तो नये तैयार माल की खपत कहां और कैसे होगी। मेरा अनुमान है—जिसकी यथार्थता अथवा अयथार्थता इस अनुसंधान पर निर्भर करेगी कि बड़े-बड़े कारखानों द्वारा माल तैयार करके हम बेकारी के मसले को हल नहीं कर सकते। यदि भारत का उद्योगीकरण उस परिमाण में हो जाय जितना इंग्लैंड में हुआ है तो इतना माल तैयार होने लगेगा जिसकी खपत सारे संसार में नहीं हो सकेगी। इसके अलावा सभी दूसरे देश भी उद्योगीकरण करने में लगे हैं। इसलिए यदि आज कुछ खपत हो भी तो वह दिनोंदिन घटती जायगी। इस प्रकार के अनेकानेक विचार उठते हैं जिनका समाधान इस अनुसंधान द्वारा हम कराना चाहेंगे। देखें, क्या हो सकता है।

—राजेंद्र प्रसाद

१–११–६०

बेटी ज्ञान,

इसमें कोई शक नहीं कि पिछले आठ-दस बरसों में कई प्रकार की बड़ी उन्नति हुई है। बड़ी-बड़ी योजनाएं बनाई गई हैं और कार्यान्वित हो रही हैं। उनमें बहुतेरों के फल भी देखने में आ रहे हैं, जैसे बड़े-बड़े बांध बांधे गए हैं और उनसे बड़ी-बड़ी नहरें निकाली गई हैं। इनमें बहुतेरी खुल गई हैं और अभी बहुतेरी खुलनेवाली हैं। कारखाने अनेक प्रकार के बनाये गए हैं और चालू हो गए हैं, जैसे लोहे के कारखाने पहले के मुकाबले चौगुने-पंचगुने हो गए हैं और उत्पत्ति भी उतनी ही बढ़ी है और अभी और बढ़ेगी। कृत्रिम खाद के कारखाने, सीमेंट के कारखाने, कोयले की खानें सभी बहुतायत से अपनी उत्पत्ति बढ़ा रहे हैं। खेती में भी अन्न की उपज बढ़ी हैं। यह सब केवल पुस्तकीय आंकड़ों की बातें नहीं हैं, आंखों से भी देखी जा सकती हैं। इतना होने पर भी जनसाधारण में इनके प्रति वह उत्साह नहीं देखने में आता जो होना चाहिए और यह हम कम सुनते और देखते हैं कि लोग इन सब कार्रवाइयों और रचनाओं को अपनी समझें और अपना उत्साहपूर्वक सहयोग देने को तत्पर हों। हां, नौकरी ढूंढ़नेवाले नौकरी की खोज में उनसे जानकारी रखते हैं और योग्यता भी हासिल करके नौकरी पाने की कोशिश करते हैं। पर जन-साधारण में ऐसी भावना और धारणा, कि यह सब कुछ देश की ही तरक्की है, जो अपनी निजी तरक्की के समान ही है—कम ही देखते-सुनने में आती है। इसलिए सबका और विशेष करके नेतावर्ग और गवर्नमेंट से संबंध रखनेवाले व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि इस कमी के कारणों की खोज करें और पता लगाकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करें। जब तक ऐसी धारणा जनसाधारण में नहीं हो जायगी, काम अधूरा रहेगा। मुझे मालूम होता है कि सभी अपने-अपने निजी स्वार्थ सुधारने में लगे हैं और वह सार्वदेशिक भावना इस होड़ में हार खा जाती है और कोई स्थान नहीं पाती। यह सोचने और दूर करने-जैसी चीज है।

—राजेंद्र प्रसाद

१८-११-५६

चिरंजीव ज्ञान बिटिया,

आज चार बरसों के बाद भाखरा-नंगल योजना फिर देखने का सुअवसर मिला। इस दरमियान में बांध का काम बहुत दूर तक पूरा हो गया है। बड़े बांध के दोनों तरफ दो सुरंगें बनी थीं जिनके द्वारा जब बांध बनता रहेगा, नदी का पानी नदी के अपने पेट से न बहकर सुरंगों द्वारा निकाला जाता रहेगा। बांध अब इतना ऊंचा बन चुका है कि सुरंगों की जरूरत कम होती जा रही है और जो कुछ पानी निकालने की जरूरत होती है, बने हुए रास्ते होकर निकाला जाता है और वह फिर नदी के पेट से होकर बहकर चला जाता है। इसलिए एक ओर की सुरंग तो बंद कर दी गई है पर दूसरी ओर की अभी पूरी बंद नहीं है। उसीके बगल होकर पानी निकाला जाता था जो ऊंचाई से गिरता है और बिजली पैदा कर सकता है। बिजली पैदा करने के लिए शक्तिघर (पावर-हाउस) बन रहा है। पानी नीचे लाने के लिए रास्ता है। उसमें कहीं कुछ टूट-फूट हो गई और पानी शक्ति-घर की ओर वह निकला। उससे तो अब पानी हटा दिया गया है, पर सुरंग के मुंह को बंद करने का प्रयत्न किया जा रहा है जिसमें वह पानी फिर नुकसान न पहुंचाये। इस आकस्मिक घटना में कई आदमी मर गए और इसकी मरम्मत के खर्च का अंदाजा एक करोड़ से ज्यादा लगाया गया है, आजकल बड़ी-बड़ी लोहे की जालियों में सीमेंट भरकर, चट्टान बनाकर, उस दरवाजे पर गिराया जा रहा है और इस तरह मुंह बंद हो गया। एक-एक बोरा लोहे-सीमेंट का १० से २० टन तक भारी होता है और बड़े-बड़े क्रेनों से उठाकर छोटे-छोटे स्टीमरों पर लादकर ले जाया जाता है और मुंह पर गिराया जाता है। इस तरह के करीब ७००० बोरे गिराये जा चुके हैं और कुल मिलाकर १५००० गिराने पड़ेंगे। यहां पर बहुत बिजली पैदा होगी, जितनी शायद किसी एक कारखाने में एशिया भर में नहीं पैदा होगी। यहां से १६-१८ मील पर गांगवाल दूसरा शक्तिघर है, वहां भी बहुत बिजली पैदा होती है। चार बरस पहले मैं २-१-५५ को उसीका उद्घाटन करने आया था। अब जरूरत इतनी बढ़ गई है कि एक नया उत्पादक यंत्र लगाना पड़ रहा है। यहां का पानी राजपूताने (राजस्थान) तक जायगा

और उसे हरा-भरा कर देगा।

जब मैं यह सब देख रहा था तो मुझे स्मरण आया कि भगीरथ प्रयत्न का अर्थ यदि साक्षात् देखना हो तो ऐसी योजनाओं को देख करके आदमी लगा सकता है।

—राजेंद्र प्रसाद

१५ | वैज्ञानिक प्रगति

विज्ञान के संबंध में राजेंद्रबाबू का यह स्पष्ट मत था कि यदि विज्ञान केवल भौतिक साधनों की उपलब्धि का एकमात्र साधन बनकर रह जाय, तो मनुष्य उसके सहारे अपनी सही मंजिल या वास्तविक आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। उनका सदा यह भी कहना रहा कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाकर कभी सुखी नहीं बन सकता। इन्हीं विचारों को उन्होंने यहां व्यक्त किया है।

"आधुनिक विज्ञान ने हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही सहायता नहीं पहुंचाई है बल्कि इस तरह इन सब बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति अधिकाधिक कठिन भी बना दी है।

पूर्ति से जो संतोष होता है वह संतोष विज्ञान सबको नहीं पहुंचा सका है। केवल मनुष्य मात्र के एक बहुत छोटे अंश, चंद लोगों तक ही, वह पहुंच पाया है और इस प्रकार से जो आवश्यकताएं उसने पैदा की हैं वहां अधिकांश लोगों को उसने अपूर्ण छोड़ा है और इस तरह से व्यक्ति और व्यक्ति के बीच में तथा समूह के बीच में झगड़ा पैदा कर दिया है।

पूर्ण मानसिक संतोष तो कभी प्राप्त होता नहीं, क्योंकि ये आवश्यकताएं कभी पूरी तरह से चंद आदमियों की भी पूरी नहीं होतीं और अधिकांश लोगों की तो एकबारगी पूरी होतीं ही नहीं। यदि आध्यात्मिक संतोष मानसिक संतोष के फलस्वरूप हो सकता है तो ऐसी अवस्था में स्पष्ट है कि उसकी कोई आशा की ही नहीं जा सकती।"

जाहिर है कि विज्ञान मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ाकर उसको इस तरह के जाल में बांध देता है कि वह अपनी स्वतंत्रता ही खो बैठता है। दूसरे मानों में वह वैज्ञानिक यंत्र का उपयोग और प्रयोग करते-करते स्वयं भी एक यंत्र बनकर रह जाता है।

"चाहे हम व्यक्ति अथवा समूह को लें, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अर्थ ही होता है व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अधिक रुकावट। इसका उदाहरण मनुष्य की सभी प्रकार की आवश्यकताओं में मिल सकता है, जैसे—भोजन, कपड़ा, घर, दवा, इलाज, शिक्षा, चालन, आना-जाना, इत्यादि। इसका उदाहरण समाज के नियमों तथा सरकार और राष्ट्र की कार्रवाइयों में भी मिलता है। यह आसानी से देखा जा सकता है कि व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत काम करने की शक्ति और स्वतंत्रता को खोता जा रहा है और राष्ट्र-रूपी एक बड़े यंत्र का, जो दिन-प्रतिदिन और विशाल होता जा रहा है, एक पुरजा बनता जा रहा है और उस यंत्र के अधिकार की कोई सीमा ही नहीं है चाहे उसके पास शक्ति हो या न हो।"

आज के इस यंत्र-युग में एक पुरजा बन करके रह जाने का विचार राजेंद्रबाबू के लिए असह्य था, किंतु फिर भी उसमें से बाहर आकर या उसीके रूप को परिमार्जित करके स्वयं अपने मन, शरीर और आत्मा को परिशुद्ध करने की दिशा में भी सोचे बिना वह नहीं रह पाते थे। एक युग की विचारधारा और तेज रफ्तार को अकस्मात् मोड़ देना आसान नहीं होता। उसके लिए कुछ पुरुषार्थ करना होता है, नये रास्ते बनाने पड़ते हैं। आगे के पत्रों में राजेंद्रबाबू ने इस विषय में अपने कुछ विचार इस प्रकार आलेखित किये हैं :

"यदि मानसिक परिशुद्धि का और समस्या को हल करने का तरीका बतला दिया जाय तो सब चीजों को बतलाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी; पर यह मान लेना ही पड़ेगा कि विचारधारा को बदलना बड़ा कठिन काम है। जब कार्रवाई एक रूप में हो रही हो तो उसे उलटे रूप में बदल देना बहुत ही मुश्किल काम है, तो भी एक आदर्श है। जिस लक्ष्य तक हम न पहुंचे तो भी कोशिश तो करनी चाहिए और इस तरह से यदि आधुनिक काल में हमें यंत्रों को छोड़ना भी पड़े तो छोड़ना चाहिए।"

वह आगे लिखते हैं :

२२-१२-५८

बेटी ज्ञान,

आज सुना कि दिल्ली में एक अमेरिकन प्रदर्शनी हो रही है। वहां पर बहुत तरह की चीजें दिखलाई जा रही हैं जिनमें ऐसे यंत्र हैं कि अगर कुछ मकई डाल दी जाय तो दूसरी ओर उसका लावा बनकर निकल आता है। दूध डाल दिया जाय तो मक्खन निकल आता है। गूंधा हुआ आटा डाला जाय तो छनी कचौड़ी निकल आती है। मैंने इसे देखा नहीं है और न शायद देख ही सकूंगा, पर इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जमशेदपुर में कारखाने के एक कोने में जमीन से खोदकर निकाला हुआ पत्थर का टुकड़ा एक तरफ डाला जाता है तो दूसरी ओर उसका गला हुआ पक्का इस्पात का लोहा जलते हुए पानी की धारा की तरह बड़ी घड़िया से बहता हुआ निकलता है जिसे बड़े-बड़े सांचों में ढाल लिया जाता है और ५-५ टन के टुकड़े ठंडे होकर बाहर निकलकर आ जाते हैं, तब उसी गर्म टुकड़े को बड़े-बड़े बेलनों के बीच से दबाया जाता है तो उस टुकड़े को जैसी शक्ल देने की इच्छा होती है उसी शक्ल में बनकर वह निकलता है—जैसे मकानों के लिए शहतीर—रेल की पटरी इत्यादि, अथवा बड़े-बड़े लम्बे छड़ इत्यादि। जब लोहे का यह हाल है तो गुंथे हुए आटे अथवा मकई की सूरत बदलने में क्या कठिनाई हो सकती है। इसी तरह चीनी के कारखानों में एक तरफ गन्ना जो खेतों से काटकर रेलों पर अथवा अन्य प्रकार से कारखानों में पहुंचाया जाता है, उस कारखाने के एक कोने में डाला जाता है। वह पीसा जाता है—रस उसका कड़ाहों में अथवा अन्य प्रकार से चीनी के रूप में परिवर्तित होकर दूसरे कोने में भुर-भुर करके गिरने लगता है और वहां बोरियों में उसे गिरते-गिरते ले लिया जाता है। यह सब तो आज के कारखानों का खेलमात्र है। और यह सब नगण्य हो जाता है जब हम देखते हैं कि सैकड़ों मन के बड़े-बड़े यंत्र आकाश में १५-२० हजार मील प्रति घंटे की रफ्तार से न जाने कितनी दूर तक जाते हैं और जैसे-जैसे जाते है अपनी खबरें यंत्रों द्वारा भेजते जाते हैं। अणुबम की शक्ति बेहिसाब है। आज इस प्रकार के इतने बम संसार में तैयार पड़े हैं कि यदि सब उपयोग में लाये जा सकें तो एक भी मनुष्य जीवित नहीं

रहेगा और दुनिया की हालत ही वदल जायगी। तो भी लोग इसके लिए तैयार नहीं होते कि कहें कि इस हथियार का उपयोग नहीं किया जायगा। क्या यह उन यंत्रों के अविष्कार से भी वढ़कर आश्चर्य की वात नहीं है कि मनुष्य इतना अंधा और वेसमझ हो सकता है ?

वावूजी का आशीर्वाद।

—राजेंद्र प्रसाद

१५-११-५८

वेटी ज्ञान,

मैं दूसरी वार 'इंडिया १९५८' में गया। अढ़ाई घंटों तक देखा। विशेप करके वड़े-वड़े कारखानों में क्या प्रगति हुई है, वही इस वार देखने का मौका मिला। अव तो रेलों के इंजन, माल ढोने के डव्वे, वड़े-वड़े ट्रक इत्यादि वहुत वड़े पैमाने पर और वड़ी संख्या में वनने लग गए हैं। इंजन तो करीव-करीव सोलहों आना यहां तैयार होता है। कुछ हिस्सों के लिए ठीक लोहा-इस्पात अभी देश में नहीं वनता है इसलिए वह वाहर से आता है। मोटर के कुछ अंश वाहर से आते हैं। इसी तरह वहुत-सी चीजें अव वनने लगी हैं और आशा की जाती है कि यदि यही प्रगति जारी रही तो कुछ वरसों में वहुतेरी चीजें, जो वहुत दाम देकर विदेश से आती हैं, यहां वनने लगेंगी। पर "सुरसा जस जस वेश वढ़ावा। तासु दुगुन कपि रूप दिखावा" की वात आज के इन वड़े उद्योगों और वैज्ञानिक प्रगति के साथ लागू होती है। यह काम कभी पूरा नहीं होगा—अर्थात् हमारा औरों के मुकावले में आने का प्रयत्न सतत जारी रखना पड़ेगा।

अव संसार में एक और वड़ी शक्ति आनेवाली है—वह है अणुशक्ति। उसकी प्रगति भी जोरों से हो रही है। हम उसमें भी प्रयत्नशील हैं और उसकी प्रगति प्रदर्शनी में अव देखनी है। हो सकता है कि चूंकि उसका काम हमने प्रायः और देशों के साथ-साथ ही आरंभ किया है, हम वहुत पीछे न रहें। पर उस खोज और खोज के नतीजों को काम में लाने के लिए जो कल-पुरजे चाहिए वे हमको वहुत करके दूसरों से ही अभी लेने पड़ेंगे और हम उस हद तक पीछे रहेंगे। विशेप कारण यह है कि

इसके लिए हमारे पास न तो काफी पैसे हैं और न काफी संख्या में योग्य व्यक्ति। तो भी जैसे भाप और बिजली के मामलों में हम और देशों से १०० बरस पीछे हैं, इस विषय में नहीं रहेंगे। देखें, इसका सारे उद्योगीकरण पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसमें शक नहीं कि भाप और बिजली के आविष्कार से जो प्रभाव पड़ा था उससे कम क्रांतिकारी असर नहीं होगा। अंत में यह सवाल तो रह ही जाता है--आखिर यह सब क्यों? किसके लिए? और इस सबसे मानव का कितना हित हुआ है? देखने में तो बहुत-कुछ हुआ है और हो रहा है---पर सच्चे अर्थ में मनुष्य कहां तक अधिक सुखी होता है और आनंद का अनुभव करता है, यह तो उसकी मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति पर निर्भर करता है।

—राजेंद्र प्रसाद

२३-१२-५८

बिटिया ज्ञान,

आज पांचवीं बार 'इंडिया १९५८' प्रदर्शनी में मैं गया और एटॉमिक एनर्जी पैविलियन देखा। इसके संचालक डा० भाभा मौजूद थे। मुझे बंबई के पास ट्रांबे में एटॉमिक एनर्जी कारखाने को देखने जनवरी में जाना है। पर वहां के सभी उपकरणों और कल-पुरजों की छोटी प्रतियां यहां उपस्थित हैं। उनको डा० भाभा ने बहुत सफाई के साथ समझाया। विषय विशेष होने के कारण सब बातें समझ नहीं पाया, पर इतना मालूम हुआ कि भारत की आबादी जैसी बढ़ती जा रही है उसे थोड़े ही दिनों के बाद एटॉमिक एनर्जी पर भरोसा करना पड़ेगा, क्योंकि अन्य प्रकार से बनाई बिजली हमारी उस समय की जरूरतों के लिए काफी नहीं होगी। यह भी मालूम हुआ कि एटॉमिक एनर्जी वाली बिजली आजकल की बिजली से अधिक खर्चीली नहीं होगी। एटॉमिक एनर्जी के लिए आवश्यक धातु भी भारत में, आशा है काफी मात्रा में मिलेगी। उसे यह देश दूसरे देशों में भी निर्यात कर सकेगा। वैज्ञानिक खोज और अनुसंधान जिस गति से आगे बढ़ रहे हैं, कहा नहीं जा सकता कि जिसको आज हम सबसे प्रगतिशील तरीका कहते हैं, वह कुछ दिनों में पीछे नहीं रह जायगा और दूसरे तरीके

अथवा वस्तु उससे कहीं आगे निकल जायंगे। इसलिए हमको ऐसा मालूम होता है कि इस होड़ में वही शरीक हो सकते हैं जिनके पास उपयुक्त मात्रा में योग्य मनुष्य और आवश्यक साधन मौजूद हैं। हम कहांतक मुकाबले में ठहर सकेंगे, कहना कठिन है। तो भी हार मानकर हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाना तो पुरुषार्थ नहीं, कायरता होगी।

बाबूजी का आशीर्वाद।

—राजेंद्र प्रसाद

१५-९-५९

ज्ञान बिटिया,

आज आकाशवाणी द्वारा संचालित एक टेलीविजन-कार्यक्रम का मैंने उद्घाटन किया। पहले-पहल दिल्ली की १२ मील की परिधि में, सप्ताह में केवल दो दिन—मंगलवार और शुक्रवार—को ही कार्यक्रम होंगे। यह एक प्रयोग-मात्र है और उसकी प्रगति तथा लोकप्रियता को देखकर इन कार्यक्रमों का आगे विस्तार किया जायगा। आरंभ में उन्हें इसके लिए साधन जुटाने में कुछ दिक्कत हुई जो उन्होंने यूनेस्को की सहायता से प्राप्त किये और कुछ पुरजे आदि अमेरिका से उन्हें मिले। इस संध्या का कार्यक्रम काफी रुचिकर था और यदि हर सप्ताह के कार्यक्रम अधिकाधिक लोकप्रिय होते गए तो इस प्रयोग को अवश्य ही सफलता मिलेगी। श्री जे० सी० माथुर ने मुझे बताया कि अभी टी० वी० को बहुत बड़े पैमाने पर शुरू करने को प्राथमिकता न देकर अन्य गैर-जरूरी और आवश्यक सेवा को प्राथमिकता दी जायगी, क्योंकि टी० वी० आखिरकार इतनी जरूरी नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि पश्चिम में टी० वी० को लोग अब एक सिर-दर्द मानने लग गए हैं। मुझे आशा है कि हम उस सीमा तक नहीं जायंगे और यह तभी हो सकेगा जब समय की सीमा हो और उसपर अच्छे कार्यक्रम ही दिखाये जायं, जिनका नैतिक स्तर ऊंचा हो, जो हम फिल्म इत्यादि के बारे में नहीं कह सकते। आशा है टी० वी० कार्यक्रम उससे बेहतर होंगे।

—राजेंद्र प्रसाद

१६-११-५८

चि० बेटी ज्ञान, आशीष !

'होलिडे ऑन आइस' (बरफ पर सैर) का तमाशा भारतीयों के लिए एक अनोखा तमाशा है क्योंकि एक तो हिमालय छोड़कर और कहीं भारत में बरफ होती नहीं और जहां तक मैंने सुना है, बरफ पर दौड़ने (स्कीइंग) का खेल हमारे लोग पश्चिमी लोगों की तरह बहुत खेलते भी नहीं। इसलिए इसमें कला और खूबसूरती लाने का शायद प्रयत्न नहीं हुआ है। पर इस अमेरिकन कंपनी ने यहां आकर प्राय: ४ हफ्तों में न मालूम कितने लाख रुपये लोगों से ले लिये होंगे। कल ९००० लोग थे और यद्यपि अन्य दिनों इससे कम रहा करते हैं, तो भी उनकी संख्या ७-८ हजार तो होती ही होगी। टिकट का दाम दस से ढाई रुपये तक है। इसीसे उसकी आमदनी का अंदाजा किया जा सकता है। कंपनी का खर्च वैसे ही बहुत बड़ा होगा। ७५ खिलाड़ी हैं और दूसरे वे ६० आदमी भी उसमें शामिल हैं जो बाजा बजाने का या और दूसरे काम करते हैं। बरफ जमाने का काम भी बहुत खर्च का काम है। इस चौकोर जमीन पर जो प्राय: १००-१२५ फुट लंबी और उतनी ही चौड़ी होगी, कृत्रिम रूप से ८ इंच मोटाई की इतनी कड़ी बर्फ बनाई जाती है कि वह पत्थर-जैसी हो जाती है। और एक बार बना देना ही काफी नहीं है, उसे उसी अवस्था में, जब तक खेल होता है, कायम रखा जाता है। इसके लिए बरफ के नीचे पाइप बिछाये जाते हैं जिन्हें रसायनों द्वारा इतना सर्द बना दिया जाता है कि ऊपर का पानी जम जाता है। पाइपों की लंबाई प्राय: ३० मील है। इतने आदमियों को लाने का खर्च और इस आयोजन का खर्च तथा जो वेतन लोगों को दिया जाता होगा, वह सब जोड़ा जाय तो एक बड़ी रकम बनेगी। पर सुना है कि इस सबके बावजूद उनको कुछ कम मुनाफा नहीं होगा। पांच हफ्ते दिल्ली में रहकर वे बंबई जायेंगे जहां उनका एक अग्रिम दल जा चुका है जो जमीन इत्यादि तैयार करके रखेगा ताकि वहां जाते ही वे लोग खेल शुरू कर सकें। वहां प्राय: ५ सप्ताह रहेंगे, तब तक जो सामान यहां लगा है उसे कलकत्ते ले जाकर सब कुछ तैयार रखेगा। कलकत्ते में भी ६ सप्ताह खेल होंगे और उसके बाद मद्रास। इस तरह सारा जाड़ा ये भारत में लगा देंगे। खेल

तो देखने ही योग्य थे और रंग-बिरंगे कपड़े और भी शोभा बढ़ा देते थे। इस सारे नाच में पैरों पर बहुत जोर पड़ता है और बरफ पर इस तरह फिसलकर पहियों की खड़ाउंओं पर दौड़ना-नाचना होता है जितनी तेजी के साथ मामूली तौर पर कोई नहीं चलता-दौड़ता है। कभी-कभी न संभलने के कारण गिर भी जाते हैं। तब पैर और दूसरी हड्डियां भी टूटती हैं। मामूली चोट तो आती ही रहती है। यहां भी प्रायः एक-दो बार कोई-न-कोई रोज गिरता है, पर कल कोई नहीं गिरा। तमाशे में जाकर यह मालूम होता है कि दिल्ली के पास कितने पैसे तमाशों के लिए हैं। यह खेल भी विज्ञान की तरक्की का एक करिश्मा ही है, यह मानना होगा।

—राजेंद्र प्रसाद

१५-१०-५८

बेटी ज्ञान,

पिछले आठ-दस दिनों में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं, जिनके संबंध में चर्चा चल रही है। एक तो पाकिस्तान में क्रांति जिससे वहां का संविधान तोड़ दिया गया और सैनिक शासन स्थापित हो गया। दूसरी अमेरिका के वैज्ञानिकों द्वारा चंद्रमा तक पहुंचने के लिए राकेट का भेजा जाना।

जहां तक पाकिस्तानी क्रांति का प्रश्न है, वह तो अभी तक पूरी शांति के साथ निबटी है। जहांतक मुझे खबर मिली है, कुछ भी लूटपाट, खून-खराबा, जो अक्सर क्रांतियों में हुआ करता है, वहां यह सब-कुछ नहीं हुआ, यहांतक कि पुलिस या फौज को कहीं भी गोली चलाने की जरूरत नहीं पड़ी है। केवल मात्र कुछ लोग, जिनकी संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती है, गिरफ्तार किये गए हैं—कुछ शांतिरक्षा कानून के अनुसार और कुछ चोरबाजारी, रिश्वतखोरी जैसे जुर्मों के लिए। हां, यह सच है कि ऐसे गिरफ्तार लोगों में बहुत प्रमुख लोग हैं। कुछ तो अपने विचारों के अनुसार देश-भक्ति के लिए—जैसे खान अब्दुल गफ्फार खां, अब्दुल समद खां, मौलाना भाशानी और श्री सैयद। और कुछ उपर्युक्त अपराधों के लिए जिनमें भूतपूर्व मंत्री और उच्च पदाधिकारी हैं—जैसे श्री गुर्मो गुहगंधी,

श्री हमीदुलहक चौधरी भूतपूर्व वैदेशिक मंत्री और क्रांति के समय वाणिज्य-मंत्री प्रभृति। पर अभी यह कहना मुश्किल है कि आगे भी ऐसी ही परिस्थिति रहेगी अथवा कुछ परिवर्तन होगा, और अगर हुआ तो किस तरह का। इसलिए यह काम अभी अधूरा है।

चंद्रलोक में भेजे गए राकेट का काम तत्काल एक प्रकार से समाप्त हो गया, वह वहां तक नहीं पहुंच सका और फिर पृथ्वी की ओर लौटकर जलकर समाप्त हो गया। पर उसके द्वारा बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें वैज्ञानिकों को मालूम होनेवाली हैं। जहां तक यह गया. उससे इतना तो स्पष्ट हो गया कि चंद्रमा तक पहुंचना असंभव नहीं है। इस राकेट में जो त्रुटियां थीं, उनको दूर करके यह प्रयोग तो फिर होगा ही और सफल भी होगा। प्रश्न इसकी सफलता का नहीं है; प्रश्न है—आखिर इसका लाभ क्या और इसका अंत कहां होगा? वैज्ञानिक लोग स्वभावतः अपने अनुसंधान के फलस्वरूप प्राकृतिक नियमों को जान लेने और उनको काम में लाकर जो मामूली तौर पर प्रकृति करती है, उसके विपरीत करना अपना कर्तव्य और गौरव मानते हैं। प्रकृति के नियम तो प्रकृति ने जारी करके, एक प्रकार की सृष्टि और उसका संचालन जारी कर दिया। मनुष्य सभ्यता के आदिकाल से ही इस उधेड़बुन में लगा है कि जो कुछ प्रकृति बिना किसी प्रयत्न के देती है, उससे अधिक हम कैसे पावें। इसका रास्ता रहा है, नियमों का जान लेना और उनका इस तरह उपयोग करना कि हम अधिक फल पा लें। जबसे मनुष्य ने अग्नि, और पहिया (चक्र) की उपयोगिता जान ली और लाभ उठाना शुरू किया, विज्ञान का क्रियात्मक उपयोग आरंभ हुआ और वह आज तक चल रहा है। पर लाभ क्या? अधिक सुख—पर वह अधिक आनंद भी है क्या?

—राजेंद्र प्रसाद

१६–९–५९

प्रिय ज्ञान,

कल सुबह रूस द्वारा भेजा गया राकेट चंद्रमा को छू सका है। यह पहला उदाहरण है जब किसी ठोस वस्तु को एक ग्रह से दूसरे ग्रह पर

भेजा गया हो। इसीलिए इसे विज्ञान की एक महान उपलब्धि मानना चाहिए। विज्ञान की यह महान प्रगति हमें कहां ले जायगी, हम नहीं जानते और इस समय हम उससे चिंतित भी नहीं।

श्री निकिता ख्रुश्चेव कल अमेरिका पहुंचे। उस देश की उनकी यह पहली यात्रा है। रूस के नेता की इस ऐतिहासिक यात्रा ने सारे संसार में बड़ी आशाएं पैदा कर दी हैं और लोग आशा करते हैं इन दो महाशक्तियों के बीच कशमकश कम होगी जिससे संसार में शांति बनाये रखने में मदद मिलेगी। मानवता का भला चाहनेवाले सभी शांतिप्रिय लोग निःस्संदेह इस मिलन की सफलता के लिए कामना और प्रार्थना करते हैं।

एक और बात भी है जो बड़ी मजेदार है और गंभीर भी। रूसी राकेट अपने साथ रूसी झंडा ले गया था जो चंद्रमा पर कहीं होगा। रूसी वैज्ञानिकों ने घोषणा की है कि चंद्रमा पर इस झंडे के कारण वे चंद्रमा पर अपना दावा नहीं करेंगे। श्री ख्रुश्चेव ने राष्ट्रपति आइजनहावर से अपनी पहली मुलाकात में कहा है कि अमेरिका भी अपना राकेट चंद्रमा पर भेज सकता है और दोनों देशों के राकेट अंतरिक्ष में साथ-साथ उड़ सकते हैं। विचार तो सच ही बड़ा सुंदर है। डर यही है कि इस भूमि पर भी जब दोनों एक साथ नहीं उड़ते तो कहीं उस अंतरिक्ष में जाकर भी वे एक-दूसरे से टकरा न पड़ें। क्या इस जमीन पर इस बात का प्रमाण दिये बिना, चंद्रमा की परिधि में वे शांतिपूर्वक जा सकेंगे और रह सकेंगे? हो सकता है कि दोनों ही चंद्रमा से टकराकर रह जायं, कम-से-कम इस धरती पर कोई विपत्ति तो नहीं आयेगी और विध्वंस नहीं होगा।

—राजेंद्र प्रसाद

५-१-५९

बेटी ज्ञान,

तीन-चार दिनों से अंतर्राष्ट्रीय जगत में, और विशेष करके वैज्ञानिक तबकों में, इस बात की बहुत चर्चा रही है कि रूस ने जो राकेट अंतरिक्ष में भेजा है, वह चंद्रमा तक पहुंचेगा या नहीं। कल खबर निकली है कि वह चंद्रमा के पास से होकर गुजरकर आगे निकल गया। चंद्रमा के नजदीक-से-

नजदीक वह स्थान, जहां होकर वह गुजरा, चंद्रमा से केवल ४,६६० मील दूर था। वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि वह १०,००० मील के भीतर आ जाता तो उसे भी वे पहुंचना ही मान लेते। पर यह तो ५,००० मील से भी कम—केवल ४,६६० मील—की दूरी तक पहुंच गया। वह स्थान पृथ्वी से २,३०,००० मील की लम्बी दूरी पर है। अब वह राकेट वहां से निकलकर अंतरिक्ष में सूर्य की ओर चला जा रहा है और उसकी गति प्रायः ३५,००० मील प्रतिघंटा है। समझा जाता है कि वह सूर्य के वृत्त में जब आ जायगा तो वहां ही घूमता रहेगा और सूर्य के चारों ओर एक बार चक्कर लगाने में उसे १५ महीने लगेंगे। वह सूर्य से प्रायः ६ करोड़ मील की दूरी पर रहेगा। कल रात तक उसमें लगे यंत्र खबरें दे रहे थे जो पृथ्वी पर पहुंच रही थीं। संकेत सब लिखे गए हैं और उनसे बहुत बातें मालूम होंगी। तापमान ४१° फा. हा. है। अब अनुमान किया जाता है कि कुछ दिनों में चंद्रमा पर मनुष्य उतर सकेगा, पर इसमें अभी देर है क्योंकि बहुत अनुसंधान बाकी हैं। माना जाता है कि चंद्रमा पर ऑक्सिजन नहीं है। उसके बिना मनुष्य जी नहीं सकता। इसलिए उसको ऑक्सिजन साथ ले जाना होगा। यह तो हो सकता है क्योंकि पानी में गहरे डूबने में भी ऐसा ही करना पड़ता है। पर राकेट ऐसा होना चाहिए जो चलाया जा सके और आवश्यकतानुसार ठहराया, उतारा और फिर उड़ाया जा सके। पर अब कुछ भी असंभव नहीं मालूम होता है। केवल समय का सवाल है। समय ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि मानव चंद्रमा तक पहुंच सकता है। हो सकता है एक दिन यह कवि-कल्पना भी सत्य सिद्ध हो और मानव तारे तोड़कर जमीन पर ला सके।

बाबूजी का आशीर्वाद।

—राजेंद्र प्रसाद

१–१२–५८

चि० ज्ञान,

कल डाक्टर आचार्य जगदीशचन्द्र बोस की शताब्दी-जयंती के अवसर पर जवाहरलालजी ने कलकत्ते में एक बहुत मार्के की बात कही थी।

उन्होंने कहा कि आचार्य जगदीश वोस में विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय था। वात ठीक है। जब उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक रीति से यंत्रों पर प्रयोग द्वारा यह दिखला दिया और सावित कर दिया कि वनस्पति और जीवित प्राणधारियों में बिजली लगने पर एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, अर्थात् वे प्रफुल्लित होते हैं, थक जाते हैं और जहर देने पर दोनों मर जाते हैं तो सहसा उनके हृदय में यह भावना उठी, जिस उद्गार को उन्होंने अपने किसी लेख में व्यक्त भी किया है कि उन्होंने कोई नया आविष्कार नहीं किया है वल्कि वही वात कही है जो हमारे पूर्वजों ने हजारों वरस पहले गंगा के किनारे वैठे-वैठे कही थी। अर्थात् हमारा यह विश्वास कि एक ही आत्मा सर्वव्यापी है और सर्वत्र वर्तमान है, वैज्ञानिक रीति से प्रमाणित हो गया है। जीव तथा स्थूल-द्रव्यों में कोई ऐसा भेद नहीं है जो स्पष्ट देखा जा सके। हमारे पूर्वजों ने तो मन को भी स्थूल ही माना है और आत्मा को उससे भी परे माना है। आज हम देखते हैं कि पश्चिमी वैज्ञानिक भी उसी ओर तेजी से वढ़ते जा रहे हैं और यद्यपि मैं इस विषय को न तो अपने शास्त्रों के अनुसार, न आधुनिक विज्ञान के अनुसार, जानने का दावा कर सकता हूं, फिर भी मुझे विश्वास है कि हमारी प्राचीन धारणाएं स्वीकृत हो रही हैं और जल्द ही सर्वमान्य हो जायंगी। पर हम इस देश में अभी विज्ञान से अव परिचित होने लगे हैं और उसकी करामातों से प्रभावित होकर उसके आध्यात्मिक तत्त्व को कुछ उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। चकाचौंध जब छूटेगा तो हम सब चीजों का ठीक-ठीक स्थान पहचान सकेंगे। यद्यपि आज आसार कुछ ऐसे दीखते हैं कि हम इस प्रवाह में बहे जा रहे हैं पर वैज्ञानिक अनुसंधान ने जो घातक साधन मनुष्य के हाथ में दे दिये हैं वही मानवमात्र की आंखें खोलेंगे और अपनी रक्षा के लिए ही उसे इन साधनों की सार्थकता पर विवेकपूर्ण विचार करना होगा और विज्ञान को ज्ञान और अध्यात्म के साथ जोड़कर उसको उचित स्थान देना होगा। इस प्रकार विज्ञान जो अनधिकार चेष्टा कर रहा है, उससे मनुष्य को छुट्टी मिलेगी। विवेक जब काम करने लगेगा तो वह अवस्था आ जायगी।

वावूजी का आशीर्वाद।

—राजेंद्र प्रसाद

४-११-५८

मेरी बेटी ज्ञान,

हम एटम बम और हाइड्रोजन बम की बातें बराबर ही सुना करते हैं और इनसे मानव के लिए जो खतरा पैदा हो गया है, उसका जिक्र भी अक्सर हुआ करता है। पर ऐसे बहुत कम लोग हैं जो इसकी विनाशक शक्ति का ठीक अंदाजा लगा सकते हैं। मैं आज के पहले इसे नहीं जानता था। मैं 'आणविक विस्फोट और उसके प्रभाव'[1] नामक डा० कोठारी द्वारा लिखित पुस्तक पढ़ रहा हूं। अभी थोड़ी ही पढ़ पाया हूं पर उतने से ही कुछ अंदाजा मिल गया है।

हिरोशिमा और नागासाकी में जो दो एटम बम छोड़े गए थे उनमें हर-एक में विस्फोटक पदार्थ की कुल मात्रा लगभग २०,००० टन टी. एन. टी. नामक विस्फोटक पदार्थ के बराबर थी। यह अगस्त १९४५ की बात है। अब जो खोजें हुई हैं उसके फलस्वरूप वह शक्ति कहीं अधिक हो गई है। इधर अमेरिका और रूस बराबर जांच के लिए विस्फोट किया करते हैं। १९५४ और १९५६ में अमेरिका ने और १९५५ में रूस ने जो विस्फोट किये उनमें इतनी शक्ति थी जितनी उस समय तक सभी लड़ाइयों और दूसरे प्रकार से जितनी विस्फोटशक्ति का खर्च हुआ है उतनी शक्ति इनमें प्रत्येक में थी। अब हम १९५८ में हैं। मालूम नहीं, आज दुनिया कहां तक गई है—अर्थात् अपने विनाश की ओर और कितनी नजदीक गई है। इन बातों का जनसाधारण के समझने योग्य सहज शब्दों में अच्छी तरह प्रचार होना चाहिए, जिसमें लोग केवल मोटे तौर पर ही इस खतरे को न समझें बल्कि कुछ जानकारी प्राप्त कर सकें और भयंकरता की छाप उनपर ठीक पड़ सके।

आशीष,

—राजेंद्र प्रसाद

---

१. न्यूक्लीअर एक्सप्लोज़न्स एण्ड देयर अफैक्ट्स।

१६ सिनेमा और उसका प्रभाव

आज के युग को एक प्रकार से हम 'सिनेमा का युग' कह सकते हैं। फिल्म-संसार की अपनी ही एक दुनिया भी तो वस गई मालूम होती है—शिक्षा, संस्कार और रहन-सहन, अर्थात् फैशन इत्यादि; पर जो प्रभाव आज सिनेमा का है वह शायद स्कूल की पुस्तकों का भी नहीं होता। यह जानकर सवको और विशेपकर विद्यार्थियों को अवश्य ही आश्चर्य होगा कि राजेंद्रवावू (हमारे देश के प्रथम राष्ट्रपति) ने, राष्ट्रपति वनने से पहले कभी सिनेमा नहीं देखा। राष्ट्रपति-भवन में भी उन्हें एक प्रकार से कर्तव्यवश ही सिनेमा देखना पड़ता था। कई वार फिल्म-समारोहों में पुरस्कार-वितरण भी उनके हाथों हुआ। इन अवसरों पर उन्होंने इसके महत्त्व पर अपने विचार भी व्यक्त किये। वह मानते थे कि सिनेमा हमारे मानस, विशेपकर वच्चों के संस्कार और चरित्र पर ही नहीं, सारे जीवन पर असर डालते हैं। जमाने की हवा से वचा नहीं जा सकता, यह वे जानते और मानते थे। इसीलिए अक्सर कहा करते कि आजकल स्कूल के वच्चों के पत्रों को देखो तो अधिकांश पत्रों में यही मिलता है कि हमने फलां फिल्म देखी और वह ऐसी लगी, जवकि हम लोगों के जमाने की चिट्ठियां कुछ और तरह की हुआ करती थीं। उन्हें ऐसा लगता था जैसे सिनेमा आज के जीवन का एक अंग वन चुका है। इसलिए वे हमेशा इस वात पर जोर देते थे कि स्कूल के पाठ्यक्रम और शिक्षा की नीति और पद्धति पर जिस प्रकार गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता होती है, फिल्मों को वनाते समय भी उतने ही गंभीर विचार की आवश्यकता है।

कभी-कभी जव उन्होंने कोई फिल्म देखी और उसकी उनके मन पर जो प्रतिक्रिया हुई वह उन्होंने अपने पत्र में इस प्रकार व्यक्त की। यों

तो राजेंद्रबाबू बहुत कम फिल्म देखते थे और कभी-कभी तो बीच से ही उठ जाते थे। एक बार जब उन्होंने 'मदर इंडिया' फिल्म देखी तो उसी रात उसके संबंध में उन्होंने लिखा :

प्रिय ज्ञान,

मैंने आज शाम 'मदर इंडिया' फिल्म देखी। उसका आरंभ बड़ा अच्छा था और मालूम होता था कि हमारे गांव के जीवन का इसमें अच्छा चित्रण होगा। लेकिन जैसे-जैसे उसकी कहानी आगे बढ़ी, उसमें अतिशयोक्तियां भी बढ़ती गईं। मैं नहीं समझता कि भारतीय किसान ऐसा निरा बुद्धू होता है और न ही मैं समझता हूं कि भारतीय महाजन (पैसा उधार देने-वाला) ऐसा दुष्ट होता है जैसा कि इसमें दिखाया गया है। हां, कुछ किसान बेवकूफ हो सकते हैं और कुछ महाजन नीच भी, पर एक गांव में केवल ऐसे ही किसान या महाजन नहीं होते। सारी कहानी देखते हुए फिल्म में कुछ कमियां रह गई हैं। लेकिन चित्र के बाद की कहानी, जो एक प्रेम-कहानी में बदलती है, वह भी बहुत ऊंचे प्रकार की नहीं है। मैं सारी फिल्म में नहीं बैठा, इसलिए नहीं कह सकता कि कहानी का अंत कैसा हुआ। पर जो भी मैंने देखा, उससे मुझे बहुत संतोष नहीं हुआ, यद्यपि फिल्मों अथवा ऐसी बातों के संबंध में मैं कोई निर्णायक नहीं हो सकता।

—राजेंद्र प्रसाद

राजेंद्रबाबू गांव में ही पले और बढ़े थे, इसलिए वहां के जीवन के हर पहलू से परिचित थे। उन्हें फिल्मों में गांव के जीवन का असली रूप नहीं मिलता तो कुछ आश्चर्य के साथ दुःख होता। कुछ ऐसी ही प्रतिक्रिया उनकी तब हुई जब उन्होंने प्रेमचंद की कहानी 'दो बैलों की कथा' पर आधारित 'हीरा-मोती' फिल्म देखी। उनकी प्रतिक्रिया इन शब्दों में व्यक्त हुई :

१६-५-५६

ज्ञान बेटी,

यद्यपि चित्र में अभिनय बहुत अच्छा और प्रभाव पैदा करनेवाला है, पर मेरा खयाल है कि कहानी में गांव के जीवन का चित्रण पूरा-पूरा नहीं हो पाया। असल में गांव की हर घटना को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित किया गया है। इसमें भी संदेह नहीं कि उसमें सच्चाई का अंश है। जैसे, गांव के किसान खेत में काम करते हुए गाते जरूर हैं, पर उस हद तक और उस रूप में नहीं, जैसा इसमें बताया गया है। यह भी सही है कि गांव के लड़के और लड़कियों में प्रेम के किस्से होते हैं पर इसमें जो यह दिखाया गया है कि केवल वही बात ध्यान में आने योग्य है, वह सही नहीं है। इसी प्रकार इसमें शक नहीं कि परिवार में कटु व्यवहार भी होता है पर इस हद तक नहीं जैसा एक अनाथ बच्ची के प्रति इसमें दर्शाया गया है। गांववालों की एकता और उसी तरह बैलों अथवा जमींदार के कारनामों को भी बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण बना दिया है।

हमारी फिल्मों में अक्सर नाच-गानों की प्रधानता होती है और यह सभी महसूस करते हैं कि समय-असमय सब जगह इसकी भरमार होती है। बाबूजी का ध्यान भी इस ओर गये बिना न रह सका और उन्होंने कहा :

"हमेशा की तरह इसमें भी अनावश्यक नाच दिखाया गया पर इतना अच्छा था कि वह बहुत लंबा नहीं था। मैं चाहता हूं कि हमारे ग्राम्य जीवन की सभी अच्छी और बुरी बातों का बिना किसी प्रकार की अतिशयोक्ति के चित्रण किया जाय। उनका प्रभाव जनता पर निश्चय ही कहीं अधिक और स्थायी होगा।"

——राजेंद्र प्रसाद

बाबूजी को हमेशा ऐसी फिल्में ही अधिक पसंद आती थीं जिनमें जीवन की वास्तविकता का चित्रण हो और किसी आदर्श का दिग्दर्शन हो। इस दृष्टि से बंगला फिल्में बड़ी सफल रही हैं। उनमें वास्तविकता और आदर्श, दोनों का पुट होता है। ऐसी एक फिल्म देखकर राजेंद्रबाबू बड़े प्रभावित हुए। उनके मन पर उसका ऐसा असर हुआ कि उन्होंने संक्षेप में उसकी

कहानी ही लिख दी, जिसमें मुझे भी आनंद आया :

१७-१-५६

बेटी ज्ञान, आशीर्वाद !

आज बंगला की एक फिल्म देखी। पहले तो समझ में नहीं आता था, पर जैसे-जैसे बात आगे बढ़ी, बहुत सुंदर मालूम हुआ और उसका अंत तो अत्यंत सुंदर और हृदयग्राही रहा। इसका नाम है, "नीले आकाश के नीचे पृथ्वी"। इसमें एक चीनी का कथा है जो फेरी करके कपड़ा बेचा करता था। उसकी एक महिला से जान-पहचान हो गई जो एक बैरिस्टर की धर्मपत्नी थी और जिसके पिता स्वराज्य के आंदोलन में गोली खाकर शहीद हुए थे। वह स्वयं खादी की भक्त थी और दूसरा कोई कपड़ा नहीं पहनती थी। पर उस चीनी की जिद पर मुग्ध होकर उसने एक टेबल-क्लाथ खरीद लिया। इसके बाद वह फिर उनके यहां आया और चीनी कपड़े का एक रूमाल दे गया जिसे लेने से वह इन्कार न कर सकी। सन् १६३० के आंदोलन में वह गिरफ्तार हो गई और बहुत दिनों तक जेल में रही। एक बार उसको पुलिस ने गिरफ्तार किया था, पर सबूत नहीं होने के कारण छोड़ दिया। उसके हाथ में कुछ ऐसे कागज थे जिसके बल पर उसकी सजा हो सकती थी; पर ठीक उस समय, जब पुलिस उसे गिरफ्तार करने को थी, उसने वह कागज उसी चीनी को दे दिया जो इत्तिफाक से उस समय वहीं भीड़ में था। उस महिला के बैरिस्टर पति ने पहले तो उस चीनी के साथ उसका भाई-बहन का नाता जोड़ना पसंद नहीं किया और उसके मन में अपनी पत्नी के प्रति कुछ क्षोभ और संदेह हुआ। पर उसके जेल चले जाने पर वह सब जाता रहा। जब वह जेल से छूटकर आई, उस समय चीन में विप्लव खड़ा हो गया था और वह चीनी यह कहता हुआ कि उसके देश में लड़ाई चल रही है और देश प्रत्येक को, चाहे वह जहां भी हो बुलाता है, अपने देश चला गया। इस महिला और चीनी दोनों के चरित्र बहुत ऊंचे दर्जे के हैं यद्यपि एक साधारण फेरीवाला है और एक उच्चशिक्षित है।

बाबूजी के आशीर्वाद।

—राजेंद्र प्रसाद

पर राजेंद्रबाबू को यह जानकर दु:ख हुआ और वह स्वाभाविक था कि ऐसी आदर्शवादी फिल्में हमारे देश में सफल नहीं हो पातीं। उनके ये शब्द थे : "मैंने सुना है कि बंगाल की वे फिल्में जिन्होंने न केवल भारत में बल्कि विश्व में सबसे ऊंचे पुरस्कार जीते हैं, बहुत बड़ी भीड़ को आकर्षित नहीं करतीं और इस माने में वे बहुत सफल नहीं मानी जातीं। मुझे यह जानकर भी आश्चर्य हुआ कि हमारे अभिनेताओं और वितरकों की कृपा से उनकी फिल्में इतनी सफल हुईं कि दूसरी ऐसी उच्च कोटि की फिल्में, जिनमें बड़े प्रसिद्ध अभिनेता ने भाग नहीं लिया, असफल हो गईं। मैं 'अपूर संसार', 'अपराजिता' अथवा 'पाथेर पांचाली' जैसी फिल्मों की बड़ी सराहना करता हूं और यदि दूसरी सैकड़ों 'सफल' फिल्मों को सरकार के आदेश द्वारा नष्ट करवा दिया जाय तो इस बात से मुझे जरा भी अफसोस नहीं होगा। मैं नहीं कह सकता कि मेरे इस विचार को नियमित रूप से सिनेमा देखनेवाले बहुत लोगों का खास समर्थन मिलेगा।" (३०-१२-६०)

राजेंद्रबाबू के इन विचारों में ऐसी ही क्रांति है जैसी विनोबा भावे के उन विचारों में थी जो उन्होंने अश्लील पोस्टरों को हटाने के लिए व्यक्त किये थे। बाबूजी मानते थे कि "आज के युग में सिनेमा शिक्षा और प्रचार का सबसे बड़ा और शक्तिशाली साधन है। आज फिल्म-उद्योग इतना बड़ा उद्योग बन गया है कि उसमें करोड़ों रुपये लगे हुए हैं। इसलिए हमारी सरकार और हमपर बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है कि हम इस साधन का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करें। सेंसर-बोर्ड को भी चाहिए कि वह ऐसी फिल्मों को ही प्रोत्साहन दे जो इस उद्देश्य को पूरा करती हों।"

उन्होंने अपने पत्र में लिखा है :

११-६-५६

ज्ञान बेटी,

फिल्में काफी लोकप्रिय हैं और अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही हैं। कुछ वर्ष हुए, बम्बई के एक सज्जन ने बिहार के एक मित्र से पूछा कि आपके शहर में कितने सिनेमाघर हैं? उस समय शायद ही कोई सिनेमाघर वहां रहा हो और उनका वह मित्र उस प्रश्न के महत्त्व को नहीं समझ

सका। हम किसी शहर की प्रगति तथा समृद्धि इस बात से आंकते हैं कि उस शहर में कितने सिनेमाघर हैं। सिनेमा देखनेवाले लोगों की संख्या विशेषकर युवा लोग, पर्याप्त है और यहांतक कि बच्चे भी सिनेमा देखने लगे हैं। सिनेमा की अपेक्षा लोगों में शायद ही कोई और वस्तु लोकप्रिय हो और सिनेमा का उपयोग अच्छी व बुरी दोनों प्रकार की बातों के लिए किया जा सकता है। मेरे विचार में इसका उपयोग सदा ही अच्छी बातों के लिए नहीं किया जाता। मैं अक्सर या नियमित रूप से सिनेमा देखने वालों में नहीं हूं और मुझे याद नहीं कि मैंने इसके लिए अपनी जेब से कभी पैसा खर्च किया हो। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं सिनेमा नहीं देखता या मैंने कभी सिनेमा नहीं देखा। पिछले १३ वर्षों से मैं दिल्ली में रह रहा हूं और मैंने बगैर पैसे खर्च किये बहुत-सी फिल्में देखी हैं। मैंने देखा है कि अच्छी फिल्मों को भी, उनमें अनावश्यक दृश्य जोड़कर, विशेष-रूप से नृत्य आदि, जो आवश्यक नहीं होते अथवा उसके कथानक से सम्बद्ध नहीं होते, बिगाड़ दिया जाता है। मुझे बताया गया है कि दर्शक को आकर्षित करने के लिए ऐसा किया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उस सीमा तक तो जनता को गुमराह किया ही जाता है। किंतु इसमें कोई शक नहीं कि इसे शिक्षा और प्रचार का एक शक्तिशाली माध्यम बनाया जा सकता है। सेंसर-बोर्ड को यह देखना चाहिए कि फिल्मों का उपयोग इस उद्देश्य के लिए किया जाय।

—राजेंद्रप्रसाद

सिनेमा केवल शिक्षा और प्रचार का ही शक्तिशाली माध्यम नहीं, भाषा और विचारों पर भी उसका बहुत असर होता है, दिल और दिमाग पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता—चाहे बच्चे हों या बड़े। इसीको राजेंद्रबाबू ने पत्र में इस तरह व्यक्त किया है :

१७-१२-५६

चि० बेटी ज्ञान,

आज संध्या को मैंने उत्तर प्रदेश के वन्य जीवन-संबंधी एक फिल्म

देखी जो बहुत ही सुंदर थी। उसके साथ ही एक फ्रेंच फिल्म भी दिखाई गई जिसे फ्रांस के राजदूतावास ने कुछ चुने हुए लोगों को दिखाने को कहा था। यह फ्रांस के एक ऐसे व्यक्ति के निजी संस्मरणों पर आधारित है जिसे पिछले युद्ध में जर्मन लोगों ने कैदी बना लिया था और जो बाद में कैद से भाग निकला। इस फिल्म में इस बात पर ज्यादा जोर नहीं दिया गया कि जर्मन जेलखानों में कैदियों की जिंदगी कितनी भयानक होती है, लेकिन इसमें उस आदमी के उन सबसे कठिन और असह्य हालत में भाग निकलने के दृढ़ निश्चय का चित्र खींचा गया है। सारी फिल्म में घटनाओं की भयंकर हालत और उससे पैदा होनेवाले टेंशन को बनाये रखा गया है और जब कैदी रस्सी और अन्य औजारों के सहारे अपनी जान पर खेल करके इतने कड़े पहरे में से भी भाग निकलने की कोशिश करता है, वह दृश्य एक ओर कैदी के साहस और दूसरी ओर पहरेदारों की कड़ी निगरानी के बीच बहुत ही असरकारक बना है जिसका असर बहुत देर तक दिमाग से नहीं जाता। वास्तव में तो एक बार ऐसा हुआ कि एक अवसर पर उस व्यक्ति को जासूस समझा गया और उसे गोली मार देने का आर्डर भी दे दिया गया, लेकिन पुलिस का अभी वाक्य भी पूरा नहीं हुआ था कि वह आदमी बच निकला। इस काम में उसे एक दूसरे कैदी की मदद भी मिली जो मूल रूप से पहले एक विश्वासघाती था और फ्रेंच लोगों के बीच जर्मन बनकर काम कर रहा था लेकिन उसका हृदय-परिवर्तन हुआ और वह एक देश-भक्त बन गया जिसने अपने दूसरे साथी को भाग निकलने में मदद की। ये दोनों फिल्में कला की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर थीं। पहली फिल्म में हिमालय के जंगलों में पशु-पक्षियों के जीवन के बहुत सुन्दर और रंगीन चित्र दिखाये गए हैं और दूसरी में कैदी के जीवन का चित्र चित्रित किया गया है, साथ ही मनुष्य के जीवन में भारी मानसिक तनाव के क्षण बड़ी खूबी से पेश किये गए हैं और इसलिए फ्रेंच दूतावास ने यह कहलाया था कि फिल्म को बच्चों को न दिखाया जाए, क्योंकि उसमें जेल-जीवन के बड़े क्रूरतापूर्ण और गुप्त षड्यंत्रों के दृश्य दिखाये गए हैं जिनका दर्शकों और खास करके बच्चों के मन पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ सकता था। मैं बहुत देर तक युद्ध और उसके परिणाम पर सोचता रहा। आखिर इन

घटनाओं से ही तो यह फिल्म भी बन सकी है। तुम्हें इसे देखकर कैसा लगा ?

—राजेंद्रप्रसाद

युग बदलता है, दृष्टिकोण और आदर्श बदलते हैं। आज जबकि हमारा देश संकट-काल से गुजर रहा है। फिल्म अभिनेता राष्ट्र के अभ्युदय में यथा-शक्ति सहयोग दे सकते हैं। यदि इस क्षेत्र का हर व्यक्ति अपने सामने देश और समाज के कल्याण और उसकी कला, संस्कृति, साहित्य तथा सुविचारों को ध्यान में रखे तो ऊंचे आदर्श और उद्देश्य की प्राप्ति अवश्य हो सकेगी। जनता की रुचि और अभिरुचि भी परिष्कृत होगी तथा जनमानस फिल्मों का सही मूल्यांकन कर सकेगा। इसलिए हमें सही माने में 'सफल' फिल्मों के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने का संकल्प करना चाहिए, ताकि जनमन पर सिनेमा का अच्छा प्रभाव पड़े और फिल्मों की सफलता के साथ-साथ देश को उसका सुफल भी मिले। देश के बच्चों के लिए तो यह और भी जरूरी है।

१७ भाषा-संबंधी विचार

जन-साधारण की शिक्षा के माध्यम के रूप में अथवा राजकीय काम-काज की वाहिनी के रूप में भाषा के संबंध में राजेंद्रबाबू के विचार आरंभ से अंत तक सुस्पष्ट, दृढ़ और निर्विवाद रहे। समय के अनुसार उन्होंने अपने मत में संशोधन करना स्वीकार न किया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। बात यह है कि कई कारणों से राष्ट्र की भाषा-नीति पर स्वयं राजेंद्रबाबू के विचारों की गहरी छाप थी। संविधान में भाषा को जो स्थान मिला, उसमें भी बहुत हद तक उनका मार्गदर्शन था।

जैसा कि उनके पत्रों से स्पष्ट होता है, भाषा के बारे में उनके सिद्धांत इस प्रकार थे :

१. जहां तक शिक्षा के माध्यम का प्रश्न है वह स्थान मातृभाषा का है। इसलिए वे इस पक्ष के दृढ़ समर्थक थे कि सभी राज्यों में अंग्रेजी का स्थान यथाशीघ्र क्षेत्रीय भाषाओं को ले लेना चाहिए।

२. अखिल भारतीय क्षेत्र में शिक्षा के एकीकरण के लिए और सार्वदेशिक राजकीय कामकाज के लिए वे हिंदी को ही उपयुक्त भाषा समझते थे, किंतु इस पद के उपयुक्त होने के लिए हिंदी के कलेवर और शब्दावली में हेरफेर का विरोध उन्होंने कभी नहीं किया।

३. वे हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं में बहिनों के-से संबंध का दर्शन करते थे और संस्कृत को इन सभी भाषाओं की जननी मानते थे। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि इन सभी भाषाओं का विकास और उनकी उन्नति सभी की समृद्धि का एक समान साधन है, अर्थात् इन सबके हित इतने अधिक समान हैं कि उनमें आपसी विरोध की कल्पना तक भी नहीं की जा सकती। इसी बात को लेकर वे कहा करते थे कि बंगला, मराठी ही नहीं, तमिल-तेलुगु आदि भी जितनी समृद्ध होंगी, हिंदी और अन्य भाषाओं को

भी उतना ही बल मिलेगा। उनकी कल्पना थी कि भारतीय भाषाएं एक महान वृक्ष की विभिन्न शाखाओं के समान हैं। सभी शाखाएं अन्योन्याश्रित हैं, पर पराश्रित कोई नहीं। यही कारण है कि दक्षिण के कुछ क्षेत्रों में १९५५-५६ में हिंदी के विरोध के समय तमिलभाषियों ने राजेंद्रबाबू के भाषा-संबंधी विचारों का एकस्वर से स्वागत किया था। वे अहिंदीभाषी लोगों को यह विश्वास दिलाने में सफल हुए थे कि क्षेत्रीय भाषाओं को भय हिंदी से नहीं, केवल अंग्रेजी से होना चाहिए और उन सबकी प्रतिस्पर्धा हिंदी से नहीं, एकमात्र अंग्रेजी से है।

राजेंद्रबाबू इस मत के थे कि यदि सभी भारतीय भाषाएं एक लिपि को अपना लें अर्थात् देवनागरी को स्वीकार कर लें, तो जो भेद-भाव इस समय दिखाई देता है वह भी धीरे-धीरे लुप्त होने लगेगा और सभी भाषाएं एक-दूसरी के निकट आने लगेंगी।

सरकार की भाषासंबंधी नीति से उन्हें कभी पूर्ण संतोष नहीं हुआ। उनकी सदा यह आशंका रही कि सरकार, विशेष करके केंद्रीय सरकार, इस दिशा में जो कुछ भी करती है, वह अंग्रेजी के प्रति पक्षपात की भावना से प्रभावित होकर करती है।

बाबूजी स्वयं बहुभाषाविद् थे। अंग्रेजी, संस्कृत, फारसी, हिंदी और उर्दू के अतिरिक्त बंगला भाषा पर भी उनका काफी अधिकार था। मैथिली और भोजपुरी तो वह धाराप्रवाह बोलते ही थे। गांधीजी के संपर्क में रहने के कारण गुजराती भी वे खूब लमझ लेते थे, भले ही बोल और पढ़ न सकते हों। इसलिए भाषाओं के प्रति उनका दृष्टिकोण उदात्त और उदार था।

संविधान-सभा के अध्यक्ष और बाद में राष्ट्रपति के रूप में संविधान की भाषासंबंधी धाराओं को कार्यान्वित करने की दिशा में उन्होंने बहुत-कुछ किया, यद्यपि यह कहना कठिन है कि इस कार्य में उन्हें सफलता कहां तक मिली। कुछ भी हो, इससे उनके विचारों में कभी अंतर नहीं आया। यह भी असंदिग्ध है कि उनके भाषा-संबंधी विचारों का मूल्य स्थायी है। इन विचारों की कुछ झांकी और भाषा-विश्लेषण उनके इन पत्रों में मिल सकेगा :

१७–१०–५६

वेटी ज्ञान,

हमारे संविधान के अनुसार हिंदी को संघ के राजकीय काम-काज के लिए स्वीकार किया गया है, किंतु अंग्रेजी १९६५ तक जारी रहेगी। जवसे संविधान लागू हुआ उसके पांच वर्ष के वाद संविधान के अनुसार ही एक भापा आयोग की नियुक्ति हुई जिसने अपनी रिपोर्ट पेश की। इस रिपोर्ट पर संसद की एक समिति ने विचार किया और उसने भी अपनी एक रिपोर्ट पेश की जिसपर पार्लमेंट ने भी विचार किया। राष्ट्रपति को इस समिति की सिफारिशों के अनुसार आदेश जारी करने हैं। समिति ने आयोग की सिफारशों को मान लिया है और यह कहा है कि १९६५ में हिंदी देश की राजभापा वन जायगी, पर अंग्रेजी वैकल्पिक भापा वनी रह सकती है। मुझे जो आदेश जारी करना है उसके लिए मैं सरकार के नोट की प्रतीक्षा कर रहा हूं।

एक सवाल, जो मेरे मन में कभी-कभी उठता है, वह यह है कि क्या विना पूर्व तैयारी के संसद-समिति की रिपोर्ट और इस संवैधानिक व्यवस्था को अमल में लाना संभव होगा? मुझे इसमें जरा भी शक नहीं कि इसके लिए तैयारी आवश्यक है। आशंका केवल इस प्रयोजन के लिए उठाये गए कदमों की पर्याप्तता के संवंध में है। स्वाभाविक ही मुझे सरकार की सिफारिशों की राह देखनी है। इस वीच मैंने गृहमंत्री का ध्यान इस वात की ओर आकर्षित किया है और वे इसपर विचार कर रहे हैं। कभी-कभी ऐसा मालूम होता है जैसे मैं हिंदी के लिए आवश्यकता से अधिक कुछ कर रहा हूं, पर मैं समझता हूं कि सिर्फ संविधान में जो कहा गया है उसीको दोहराने के अलावा तो मैं और कोई खास वात हिंदी के पक्ष में नहीं कहता या करता; लेकिन इस वात पर जोर देते हुए मैं हमेशा कहता हूं कि कोई भी काम जवर्दस्ती नहीं करना चाहिए; अर्थात् हिंदी को किसी पर लादना नहीं है और इसलिए इसके निर्णय की जिम्मेदारी अहिंदी-भाषी क्षेत्रों की ही होनी चाहिए। अव मुझे यह देखना है कि १९६५ के इस परिवर्तन के लिए क्या उपयोगी कदम उठाये जाते हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

२९–४–५९

ज्ञान बिटिया,

लोकसभा में यह प्रस्ताव रखा गया है कि संविधान के आठवें अनुच्छेद में भारतीय भाषाओं की सूची में अंग्रेजी को भी शामिल किया जाय। हिंदी के कुछ प्रेमी इस मांग से इतने अधिक उत्तेजित हो गए हैं कि उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा है जिसमें अपनी वेदना व्यक्त की है। यह प्रस्ताव ठीक है अथवा नहीं इसके अलावा मुझे इस उत्तेजना का कोई कारण समझ में नहीं आता। पहली बात तो यह है कि यदि यह इतना अनुचित है तो संसद-सदस्य इस प्रस्ताव को गिरा देने के लिए स्वतंत्र हैं। दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रस्ताव पास हो जायगा तो इसका मतलब यह नहीं कि सरकार उसे स्वीकार कर लेगी। और यदि सरकार ने स्वीकार कर भी लिया तो यह जरूरी नहीं कि संविधान में जल्दी और बिना विचारे, संशोधनों के लिए पूरी सावधानी के बावजूद, संविधान में आवश्यक संशोधन कर दिया जायगा। और अंत में यदि यह मान लिया जाय कि संविधान में संशोधन हो गया और भारत की मान्यता-प्राप्त भाषाओं की सूची में अंग्रेजी भी शामिल कर ली गई तो इसका यह मतलब नहीं कि हिंदी का जनाजा ही निकल जायगा जैसा कि उन्होंने अपने पत्र में लिखा है। अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि उन विभिन्न भारतीय भाषाओं में से कोई एक राजभाषा हो जाय जो हिंदी के सिवा किसी को भी संविधान, भाषा-आयोग और संसदीय समिति के अनुसार अखिल भारतीय स्तर पर सरकारी काम-काज के लिए स्वीकार न की गई हो।

हमें पहले ही से यह नहीं मान लेना चाहिए कि संविधान में बुनियादी परिवर्तन के लिए सभी आवश्यक कार्रवाइयां हो जायंगी और अंत में हमेशा के लिए अंग्रेजी भारत की राजभाषा के रूप में हिंदी का स्थान ले लेगी। हमें कुछ सूझ-बूझ और समझदारी से काम लेना चाहिए, दूसरों के प्रति उदारता रखनी चाहिए और दूसरों के बारे में किसी भी नतीजे पर पहुंचने की जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए।

—राजेंद्र प्रसाद

२५-७-६०

ज्ञान बेटी,

मुझे मद्रास की डी० एम० के० (द्रविड़ मुनेत्र कडगम) के एक नेता की ओर से पत्र मिला है जिसमें सलाह दी गई है कि जबतक भापा-आयोग और संसद-समिति की रिपोर्ट के आधार पर सरकार कोई आदेश जारी नहीं कर देती, तबतक मैं मद्रास न जाऊं।

अक्सर यह इलजाम लगाया जाता है कि दक्षिण पर हिंदी लादी जा रही है और वे लोग इसे बर्दाश्त करने को तैयार नहीं। मैं नहीं समझता कि इस गलत खयाल को दूर किया जा सकता है। जहां तक घोपणाओं का संबंध है, अधिकारपूर्वक कह सकनेवाले प्रत्येक व्यक्ति ने अनेक बार यह आश्वासन दिया है कि हिंदी को लादने का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यक्तिगत रूप में मैंने भी कई बार यह बात जोर देकर कही है कि हिंदी को किसी पर लादा नहीं जायगा। तो भी यह इलजाम बार-बार लगाया जाता है और वह भी तब जबकि आलोचक जानते हैं कि इस दिशा में कई एक ठोस कदम उठाये जा चुके हैं। वास्तव में तो अंग्रेजी को जारी रखने का यह बहाना मात्र है जो अनिश्चित काल के लिए अनिवार्य-सी बताई जाती है। जो कुछ कहा गया है और जो संविधान में अंकित है, वह यह है कि सरकारी काम-काज के लिए अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेजी का स्थान हिंदी लेगी। इसके लिए संविधान में समय निर्धारित कर दिया गया है; किंतु साथ ही पार्लमिंट को इसकी अवधि बढ़ाने का अधिकार भी दे दिया गया है। जो आसार नजर आते हैं उनसे तो ऐसा ही लगता है कि यह समय बढ़ाया जायगा। पर इससे भी महत्व की बात तो यह है कि अंग्रेजी को हटाने के लिए अभी तक कोई ठोस कदम नहीं उठाये गए हैं।

वास्तव में क्षेत्रीय भापाओं की स्पर्धा हिंदी से नहीं, अंग्रेजी से है, जो आज शिक्षा, शासन और यहांतक कि राज्यों में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। धीरे-धीरे अब अंग्रेजी का स्थान क्षेत्रीय भापाएं ले रही हैं। राज्यों में हिंदी द्वारा क्षेत्रीय भापाओं का स्थान ग्रहण करने का तो प्रश्न ही नहीं है, प्रश्न है क्षेत्रीय भापाओं द्वारा अंग्रेजी का स्थान लेने का। इसलिए यह आशंका एकदम निर्मूल है कि क्षेत्रीय भापाओं को हिंदी से कोई डर है। इस प्रकार

की सभी बातें निराधार और निरर्थक हैं।

—राजेंद्रप्रसाद

२०–८–५८

ज्ञान विटिया,

आजकल दक्षिण में एक आंदोलन चल रहा है जिसका उद्देश्य है कि भारत में भारतीय सरकार के कारवार की भाषा अंग्रेजी बरावर वनी रहे। इसके समर्थकों में श्री राजगोपालाचारी, श्री कोदंडराव, जनरल करियप्पा, मैसूर के भूतपूर्व दीवान श्री माधवराव इत्यादि हैं। एक मंडल मेरे पास भी यह मांग लेकर आया था। मैं समझ सकता हूं कि आज जल्दी हिंदी जारी कर देने से कुछ लोगों की दिक्कतें बढ़ जायंगी और हो सकता है कि कुछ लोगों को नौकरी आदि की सुविधा न मिलने से उनके प्रति अन्याय भी हो। इसका उत्तर यही होना चाहिए कि समय कुछ दिया जाय और हिंदी-शिक्षा का समुचित प्रवंध किया जाय। पर अंग्रेजी हमेशा उस स्थान को लेती रहे, यह मेरी समझ में नहीं आता।

उस दिन बंबई में श्री श्रीप्रकाशजी से बातोंबात एक बात मालूम हुई जिसका असर मुझपर बहुत पड़ा। कहते थे कि जब वह इंग्लैंड में पढ़ते थे, उसी समय से वह डायरी लिखा करते हैं। उन दिनों वह अंग्रेजी में लिखा करते थे। एक दिन उनके अंग्रेज साथी ने यह देख लिया और पूछ लिया कि क्या तुम्हारी अपनी कोई भाषा नहीं है कि ऐसी चीज भी अंग्रेजी में लिखा करते हो? श्रीप्रकाश जी ने उस दिन से डायरी हिंदी में लिखना शुरू कर दिया और आजतक वही करते हैं। क्या हम लोग ऐसी गलती रोजाना नहीं करते? यदि हम करते हैं तो उन लोगों को हम कैसे गलत ठहरावें जो आगे भी अंग्रेजी का ही बोलवाला जारी रखना चाहते हैं। इसलिए आज से मैंने यह हिंदी में लिखना शुरू कर दिया।

—राजेंद्रप्रसाद

१२–३–६१

चि० विटिया ज्ञान,

इधर कई दिनों से मैं कुछ नहीं लिख रहा हूं। इसका कारण मेरी थकावट है। संध्या के समय दिनभर के काम के वाद थकावट स्वाभाविक है। पर आजकल दवा की मात्रा कम हो जाने से कुछ विशेष कमजोरी और थकावट हो जाती है। खैर, जो भी हो, आज मैं तुम्हारा वह लेख पढ़ रहा था जिसके आधार पर तुम्हें 'पी०-एच० डी०' की उपाधि मिली है। उसमें तुमने एक अध्याय गांधीजी की हिंदी-सेवाओं के संबंध में लिखा है। उसे पढ़कर मुझे अचानक स्मरण आ गया कि महात्माजी हिंदी के इतने वड़े हिमायती थे कि जहां तक अपने को कुछ अंग्रेजी में लिखने के लिए मजवूर नहीं समझते थे, वह गुजराती अथवा हिंदी में ही लिखा करते थे। वह जिस सिद्धांत को स्वीकार कर लेते और जिस कार्यक्रम को मान लेते, उसपर नियमित रूप से चलते और हिंदी की मान्यता भी ऐसे सिद्धांतों और कार्यक्रमों में से एक थी। इसलिए इसका पालन वह वड़ी सख्ती से करते।

हम लोग उनसे आज कितने दूर हो गए हैं कि १४ वरसों के स्वराज के वाद भी हमारा अधिकांश काम प्रायः १०० में से ९५ प्रतिशत दिल्ली में अंग्रेजी में ही होता है। सरकारी वात तो अलग रही, हम लोग दूसरे निजी और खानगी कामों में भी वहुत करके अंग्रेजी से ही काम लेते हैं। अपनी वात मैं क्या कहूं? चाहे कारण जो हो, जो एक नोट या पत्र तुम्हारे नाम से प्रायः लिखा करता हूं, वह भी वहुत करके अंग्रेजी में। मुझे उसी समय यह गलती महसूस हुई। संविधान ने १५ वरस की अवधि दी है कि भारत सरकार के दफ्तरों में अंग्रेजी का स्थान हिंदी ले ले। पर वहुत प्रकार की वाधाएं उठ रही हैं। यह अवधि तो शायद वढ़ाई जायगी; कुछ लोग शायद यह भी स्वप्न देख रहे हैं कि वे वरावर अंग्रेजी से काम चलाते रहेंगे। देखें, क्या होता है। दुःख की वात है पर वात है।

—राजेंद्रप्रसाद

२०–१०–६०

ज्ञान बेटी,

आज सऊदी अरेबिया के तीन पत्रकार मुझसे मिलने आये। अंतर्राष्ट्रीय विभाग से एक सज्जन दुभाषिया का काम करने आये। उक्त शख्स से मैंने उर्दू में ही बातें शुरू कीं जिन्हें वह भाषांतरित करने लगे। उन्होंने मुझसे कहा कि बंबई में उन लोगों ने यह देखकर कि भारतवासी अंग्रेजी में बातें करते हैं, आश्चर्य प्रकट किया और कहा था कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी आप लोग अंग्रेजी क्यों जारी रक्खे हुए हैं ? इसलिए मुझे उर्दू में बातें करते देखकर वे खुश हुए।

मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि विदेशी इस बात पर आश्चर्य करते हैं और इससे कुछ खेद हुआ कि हम भारतवासी अभीतक इसकी जरूरत नहीं महसूस करते कि अपना सब काम हिंदी में चलाने का प्रयत्न करें, और यह अभी एक बहस की बात है कि सारे देश में से अंग्रेजी का बोलबाला कब समाप्त होगा और भारतीय भाषा उसका सार्वदेशिक कार्यों में स्थान ले लेगी। बात अचंभे की है जरूर, पर उससे भी बढ़कर शर्म की है। मैं इस संबंध में उत्तर-दक्षिण के विवाद को ही दोषी नहीं ठहराता। हम उत्तर के रहनेवाले, जो हिंदी को अपनी भाषा कहने का दावा करते हैं, वे भी अभी तक कितना काम अंग्रेजी में करते हैं––कितना सारा काम जो आसानी से ही नहीं, स्वाभाविक रूप से हिन्दी में ही हो सकता है और होना चाहिए, आज भी अंग्रेजी में हम करते हैं। इसकी जिम्मेदारी बहुत हद तक हमारी शिक्षा की है जिसमें देशी भाषा को कोई स्थान ही नहीं था, पर उस शिक्षा में तो और कितनी ही बातें थीं जिनमें मुख्य विदेशी राज्य भी था, जिनको हमने बिना किसी हिचक और अफसोस के छोड़ दिया। उनसे जो सुविधाएं मिलती थीं उनकी भी परवाह नहीं की। पर अंग्रेजी भाषा के प्रति कुछ ऐसा मोह है कि वह जान नहीं छोड़ती। देखें, कबतक यह मानसिक दासता हमें बांधे रहती है !

—राजेंद्रप्रसाद

३-६-६१

बेटी ज्ञान,

देश की स्थिति अच्छी नहीं मालूम होती। किसी भी बात को लेकर आपस में इतना वैमनस्य हो जाता है कि वह देश की एकता और सुरक्षा में बाधक साबित हो सकता है। अभी तीन-चार दिन पूर्व दुर्गापुर में ए० आई० सी० सी० की बैठक हुई थी। आसाम में वहां की सरकार ने एक कानून हाल में ही पास किया है कि वहां की सरकारी भाषा असमिया ही होगी। वहां कुछ भाग में बंगला बोलने वालों की संख्या बहुत है और वे बहुत बड़ा बहुमत रखते हैं। वहां के लोगों ने आंदोलन शुरू किया कि बंगला भी सरकारी भाषा मानी जानी चाहिए और आंदोलन का संचालन एक समिति करने लगी जिसको संग्राम समिति कहते हैं। कुछ दिन पहले समिति की ओर से संगठित प्रदर्शन और पुलिस में मुठभेड़ हुई और पुलिस ने गोली चलाई, जिससे ११ आदमी मरे और बहुतेरे घायल हुए। पार-साल गोरेश्वर नामक स्थान में असमियों की ओर से बंगालियों के साथ दुर्व्यवहार हुआ जिसके फलस्वरूप हजारों बंगाली घर-बार छोड़कर अन्यत्र चले गए और इनमें से बहुतेरे बंगाल में भाग आये। अभीतक यह मामला बिलकुल बुझा नहीं था कि सिलचर में गोलीकांड हो गया।

इसलिए बंगाल में स्वभावतः बहुत क्षोभ है। यह ए० आई० सी० सी० के इजलास के समय खूब प्रदर्शित हुआ। प्रदर्शन तो हुआ ही, ए० आई० सी० सी० में भी कुछ बंगाली सदस्यों ने कटु भाषण दिया और विशेषकरके प्रधान मंत्री पर भी आक्षेप किये गए। यहां से एक सज्जन दुर्गापुर गये थे, वह आज ही वापस आये हैं। उन्होंने कहा कि कुछ बंगालियों ने भाषण दिये, पर बंगला में, इसलिए उनके-जैसों को भाषण समझ में नहीं आया। अच्छा ही हुआ कि बंगाल के बाहर के लोग भाषण नहीं समझ सके—नहीं तो उनपर उन भाषणों का बुरा ही असर पड़ता।

जो हो बात यह है कि इस प्रकार छोटी-मोटी घटनाओं का बहुत बुरा असर पड़ रहा है। प्रधान मंत्री ने सभी पक्षों से अपील की है कि आसाम में एक बरस तक भाषा का विवाद, गवर्नमेंट और बंगाली जनता, दोनों बंद रखें। गृह-मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री आसाम गये हैं। देखें, क्या होता

है। समस्या जटिल है—क्योंकि आदिवासी भी, जिनकी संख्या काफी है, असमिया नहीं चाहते हैं। वे अंग्रेजी अथवा हिंदी मानने को तैयार हैं, पर असमिया नहीं। यदि आंदोलन स्थगित हुआ और समय का सदुपयोग हुआ तो शायद कुछ हल निकले।

—राजेंद्रप्रसाद

६-११-६०

शान बेटी,

कल मैंने आसाम की स्थिति के संबंध में लिखा था। आज कुछ अन्य प्रदेशों के संबंध में लिखना अनुचित नहीं होगा। पंजाब के सिखों में अकाली एक जानदार जमात है। यह पंथ में कट्टर है और आजकल राजनीति भी पंथ के साथ जुड़ जाने से एक नई स्थिति पैदा हो जाती है। जब हम ब्रिटिश सरकार से लड़ रहे थे तभी अकालियों ने अपने गुरुद्वारों पर कब्जा करने के लिए सत्याग्रह किया और बहुत मारपीट व जेल-यातना सहन कीं। अंत में गवर्नमेंट ने मजबूर होकर गुरुद्वारों के प्रबंध के लिए कमेटी मुकर्रर करने का कानून बना दिया। तब से उस कमेटी के अधीन सभी गुरुद्वारे आ गए और उनकी संपत्ति तथा चढ़ावे पर कमेटियों का अधिकार हो गया। इसलिए गुरुद्वारा कमेटी के चुनाव का महत्व बढ़ गया। इस बार चुनाव में मास्टर तारासिंह सभापति के पद के लिए उम्मीदवार हुए। दूसरे दल की ओर से, जिसको सरदार प्रतापसिंह प्रभृति का सहारा था, दूसरा कोई खड़ा हुआ। मास्टर तारासिंह बहुत बड़े बहुमत से केवल स्वयं ही नहीं बल्कि अपने दल-बल के साथ चुने गए। अब उन्होंने यह मांग पेश कर दी है कि पंजाबी सूबा अलग होना चाहिए। देखने में तो मालूम होता है कि अल्प-भाषावाले सूबों की तरह यह भी एक पंजाबी भाषावाला सूबा चाहते हैं। मांग नामंजूर कर देने पर उन्होंने सत्याग्रह शुरू कर दिया और अबतक प्रायः २०,००० या इससे अधिक लोग गिरफ्तार हुए और जेल गये। कुछ माफी मांगकर निकल भी आये तो भी अभी बहुत बड़ी तादाद जेल में है और रोजाना लोग जा रहे हैं। अब यह भाषा का सवाल नहीं रह गया, क्योंकि जेल जानेवालों में सिख ही होते हैं और सूबा के बाहर

से भी सिख आंदोलन में शरीक होने के लिए आते हैं। अभी तक तो यही आशा की जाती रही है और ऐसा ही वहां के मुख्य मंत्री और गवर्नर भी भरोसा दिलाते रहे कि यह आंदोलन बहुत चलेगा नहीं।

अब कुछ हिंसात्मक रूप भी कहीं-कहीं देखने में आया है। चिंता इस बात की है कि यह आंदोलन ठीक उसी तरह चल रहा है जैसा हम लोगों का ब्रिटिश के विरुद्ध आंदोलन हुआ करता था। मालूम नहीं, इसका क्या अंत होगा। यदि इसे निवटा भी दिया गया और आंदोलन आज दब भी गया तो क्या जो दुर्भाव पैदा हो गया रहेगा, वह कुछ कम दुःखदायी न होगा? सोचना है और रास्ता निकालना है। क्या हम समय रहते देखेंगे?

—राजेंद्रप्रसाद

२८-८-५८

ज्ञान बेटी,

प्रांतों के पुनर्गठन के लिए जब आयोग बनाया गया तो हमने समझा था कि इससे भाषावार प्रांत बनाने की जो मांग है वह पूरी हो जायगी, और हम शांति से और ज़रूरी काम कर सकेंगे; पर ऐसा हुआ नहीं। अन्य स्थानों में तो शांति है पर महाराष्ट्र-गुजरात मिलाकर जो बंबई का प्रांत बना, उसमें शांति नहीं है। महाराष्ट्रवाले चाहते हैं कि बंबई मिलाकर केवल मराठीभाषी भाग का एक प्रांत बनना चाहिए। उसमें भी कुछ जो मराठावाड़ा और विदर्भ के हैं, पूरी तरह सहमत नहीं हैं, क्योंकि विदर्भ-वाले अपना अलग सूबा चाहते हैं। गुजरात में एक दल है जो महागुजरात चाहता है और गुजरातियों में कुछ लोग हैं जो बम्बई को उसमें चाहते हैं। इन सब झगड़ों को मिटाने के लिए ही बंबई के रूप में एक बड़ा प्रांत बनाया गया। पर वहां शांति नहीं है। हाल में अहमदाबाद और गुजरात के अन्य स्थानों में बलवे हुए—कुछ लोग गोली से मरे, इत्यादि। मैंने जवाहरलालजी को पत्र लिखा कि इसपर पुनर्विचार करना होगा। उन्होंने पत्र की नकल श्री ढेबर प्रभृति को भेज दी। कल श्री ढेबर मुझसे मिले और इसी संबंध में बातें करने आये। वह कहते हैं कि पुनर्विचार से

झगड़ा तय नहीं होगा——दूसरे नये झगड़े खड़े होंगे जैसे बंबई शहर के बारे में, सौराष्ट्र के संबंध में और विदर्भ के बारे में। देखादेखी तेलंगाना का झगड़ा भी उठ खड़ा होगा और पंजाब में भी हिंदी-पंजाबी का झगड़ा जोर पकड़ेगा। सच है, यह सब होगा, पर किया क्या जाय? हमारे लोग देश की एकता को महत्व नहीं देते, जो देना चाहिए, और इस तरह के झगड़े खड़े करके उसे खतरे में डालते हैं। सोचना होगा।

—राजेंद्रप्रसाद

१–६–६१

चि० बेटी ज्ञान,

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद जब अधिकार अपने हाथों में आया तो हमने प्रांतों (राज्यों) का पुनर्गठन भाषा के आधार पर किया। इसका आरंभ आंध्र प्रदेश को तमिलनाड से अलग करके (तेलुगु-भाषी भाग को अलग करके) किया गया। उस समय भारत सरकार इसके लिए कुछ उत्सुक क्या शायद तैयार तक नहीं थी, पर आंध्र के एक त्यागी कर्मठ कार्यकर्त्ता ने जब इसके लिए आमरण अनशन किया और उनकी मृत्यु भी हो गई——उनके साथ आंध्र के प्रायः सभी लोग थे——तब भारत सरकार को जनमत के सामने नमना पड़ा और संविधान में संशोधन करके यह परिवर्तन करना पड़ा। इसके बाद अनेक जगहों से मांग हुई कि भाषा को आधार मानकर राज्यों का पुनर्गठन किया जाय। इस काम के लिए एक आयोग नियुक्त किया गया और उसकी सिफारिशों के अनुसार प्रांतों का पुनर्गठन हुआ। बंबई प्रांत के महाराष्ट्रीय और गुजराती भागों को साथ ही रहने दिया गया और फिर बड़ा आंदोलन महाराष्ट्र में विशेष करके खड़ा हुआ और फिर मराठी-भाषी और गुजराती-भाषी हिस्सों को अलग-अलग प्रांत के रूप में गठित कर दिया गया। अबतक पंजाब में अकालियों का आंदोलन मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में चल रहा है कि पंजाबी प्रांत कायम किया जाय। इस सारे मामले का यह नतीजा हुआ है कि जनता में भाषा को लेकर कट्टरता आ गई है और हाल में प्रधानमंत्री ने कहा है कि उन्होंने

अबतक नहीं समझा था कि यह जहर कितना असरदार है। सच पूछिये तो भाषावार प्रांतों का संगठन पहले-पहल कांग्रेस ने अपने विधान में १९२० के नागपुर-अधिवेशन में स्वीकार किया और वही प्रांत कांग्रेस में स्वराज्य-प्राप्ति तक बने रहे। राजकीय प्रांतों का पुनर्गठन उस समय कांग्रेस नहीं कर सकती थी क्योंकि उसे अधिकार नहीं था। अब जो कुछ किया गया है वह कांग्रेस के विधान के नमूने पर ही किया गया है। पर महात्माजी के विचार और आशाएं और ही थीं। वह इससे लाभ की और राष्ट्रीयता के दृढ़ होने की पूरी उम्मीद रखते थे। पर बात उल्टी हो रही है।

—राजेंद्र प्रसाद

२०–८–६०

चि० बेटी ज्ञान,

संस्कृत-साहित्य के बारे में मेकाले का मूल्यांकन और स्वयं अपनी भाषा और साहित्य के बारे में उसकी आस्था और अभिमान देखकर मैं कुछ हँसा और सच कहूं तो मुझे थोड़ी खीझ भी हुई। इससे पता चलता है कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के लिए वह एक प्रकार के मिशनरी-उत्साह से भरे हुए थे। उसकी यह भविष्यवाणी भी कम विनोदपूर्ण नहीं कि यदि अंग्रेजी-साहित्य और इतिहास पढ़कर हिन्दुस्तानियों ने भी एक दिन अपने देश में उसी प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं की मांग की, तो वह दिन इंग्लैंड के लिए बड़े गर्व का होगा। उत्कर्ष की वह सुखद घड़ी अब आ गई है और वह खुशी का दिन भी अब आ पहुंचा है जब हम भारतीय गणतंत्र को स्थापित हुए देख रहे हैं—ऐसा गणतंत्र जिसका संविधान ब्रिटिश संविधान की ठीक नकल है। यह भी स्वीकार करना होगा कि अंग्रेजी भाषा का जादू भी हमारे बुद्धिवादियों और राष्ट्रवादियों के सिर पर सवार है।

हम यह मानते हैं कि हम इंग्लैंड, उसकी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा, के बहुत ऋणी हैं। इसके साथ ही, यह बात भी स्वीकार करनी चाहिए कि वही उद्देश्य इस बात का तकाजा करते हैं कि हम अपने पैरों पर खड़े हों, केवल शारीरिक रूप से नहीं, आध्यात्मिक रूप से भी। उसी शिक्षा से हमें

शर्मिन्दगी का अहसास भी होना चाहिए कि हम बराबर उस वस्तु को अर्थात् हमारी धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक विरासत को त्याग रहे हैं जिसे शिक्षा-विज्ञान में दिनोंदिन अधिक मान्यता मिल रही है।

—राजेंद्रप्रसाद

२४–८–६०

प्रिय बेटी ज्ञान,

रूस ने जिस प्रकार भाषाओं और राष्ट्रीयता के सवाल को सुलझाया है उसे देखकर मैं बहुत ही प्रभावित हुआ। साधारण रूप से जो असर मुझ पर हुआ वह यह था कि रूस अपने सभी छोटे-बड़े संघों की भाषाओं को समृद्ध कर सका है। विशेष रूप से अन्य भाषाओं से अनुवाद के जरिये ही यह संभव हो सका है। हमारे देश में जब कभी कालेजों और विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाने का सवाल खड़ा होता है, उसका जवाब यही मिलता है कि अभी इन भाषाओं में पाठ्य पुस्तकें तथा अन्य साहित्य उपलब्ध नहीं है जो बड़ी शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ाया जा सके। मुझे यह जानकर खुशी हुई कि दूसरी भाषाओं से हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में बड़े परिमाण में अनुवाद द्वारा पुस्तकें तैयार करवाने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है कि योजना जल्दी ही पूरी कर ली जायगी और उसे शीघ्र कार्यान्वित किया जायगा। यदि प्रयत्न गंभीरतापूर्वक किये गए तो कोई कारण नहीं कि दो-चार वर्षों के भीतर इतनी पुस्तकें तैयार न हो सकें जिनको कालेज और विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जा सके। प्रश्न केवल गंभीरतापूर्वक कार्य को करने का है और मुझे पूरी आशा है कि अब वह होगा।

—राजेंद्रप्रसाद

२६–१२–५८

बिटिया ज्ञान,

आज एशिया की तरह अफ्रीका के देश भी एक-एक करके स्वतंत्र होते जा रहे हैं। उन देशों में घाना भी है जो थोड़े दिन हुए, स्वतंत्र होकर राष्ट्र-

मंडल का सदस्य बन गया है। उसके प्रधान मंत्री श्री एन्क्रूमा भारत आये हुए हैं। कहते थे कि उन लोगों की जो प्राचीन सभ्यता थी, वह एक प्रकार से लुप्त हो गई है और अब नये सिरे से वे लोग जाग्रत हो रहे हैं। उनकी भाषा भी अभी इतनी उन्नत नहीं है इसलिए अंगरेजी अथवा फ्रेंच पर उनको बहुत-कुछ भरोसा करना पड़ रहा है पर आहिस्ता-आहिस्ता वह अपना सब-कुछ बना लेंगे।

बातोंबात दिल्ली-युनिवर्सिटी के वाइस चांसलर डाक्टर वी. के. आर. वी. राव ने सुझाव दिया कि जब उनकी भाषा बन रही है तो वह एक बात पर ध्यान रखें। उनकी चाहे कितनी भी बोलियां हों, जो अब आहिस्ता-आहिस्ता एक भाषा का रूप धारण करेंगी, पर अभी से यदि सबों के लिए एक लिपि रखेंगे तो उनका आपस का संपर्क-सूत्र बना रहेगा और सब एक-दूसरे से बिल्कुल विलग नहीं हो जायंगी। यदि हमारे देश के लोग थोड़ी संकुचित भावना छोड़कर एकलिपि-विस्तार परिषद के उद्देश्य को मानकर एक लिपि मान लें तो विभिन्न भाषाओं का आपस में संपर्क और लेन-देन बहुत बढ़ जाय। पर अभी यह आंदोलन जोर नहीं पकड़ रहा। हमारे देश में वर्णमाला तो एक है पर लिपियां अलग-अलग हैं। यदि इस बात पर ऐक्य हो जाय तो जुदाई का एक बड़ा कारण दूर हो जाय और भाषाएं भी एक-दूसरे के निकट आ जायं। पर न मालूम इतनी सद्बुद्धि हममें कब आवेगी!

बाबूजी की आशीष।

—राजेंद्र प्रसाद

२७-७-६०

बेटी ज्ञान,

सभी भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि हो, यह प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। एक-दो अवसरों पर मैंने और प्रधान मंत्री ने भी इस विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं। किंतु यह किसी से सलाह-मशवरा के परिणाम-स्वरूप नहीं, साधारण रूप से ही व्यक्त किये गए हैं। हम दोनों ने ही देवनागरी लिपि के पक्ष का समर्थन किया है और यही हमारे संविधान में

भी कहा गया है। यदि सभी स्थानों के भाषाशास्त्री इस बारे में एकमत हो जायं कि एक मूल भारतीय लिपि हो जो भारत में प्रचलित हो, तो संभव है कि देवनागरी को स्वीकार कर लिया जाय।

पर सवाल यह है कि सभी एक प्रचलित लिपि पर सहमत होंगे अथवा नहीं ? स्थानीय अथवा प्रांतीय संकुचित भावनाओं के अतिरिक्त, जो बात इस रास्ते में बाधक हो सकती है, वह यह भी है कि हमारे यहां ऐसे भी कई लोग हैं जो किसी भी भारतीय लिपि की अपेक्षा रोमन लिपि में पक्ष में हैं। इसके पक्ष में भले ही यह कहा जाता हो कि रोमन लिपि भारत के बाहर जानी और समझी जाती है और कुछ संशोधनों के साथ कई देशों ने उसे ग्रहण भी किया है तथा हिंदुस्तान में भी कहीं-कहीं इसका उपयोग होता है; भले ही देवनागरी कुछ विद्वानों और विशेषज्ञों को छोड़कर भारत के बाहर बहुत समझी जाती हो, किंतु इसके पक्ष में जो सबसे जोरदार तर्क दिया जा सकता है और जिसे लगभग सभीने माना है, खासकर भारत और उसके आसपास के सीलोन, बर्मा, सियाम, तिब्बत आदि देशों ने जिसको मान्यता दी है, वह यह है कि इसकी अक्षर-माला में प्रत्येक ध्वनि के लिए एक अक्षर है और दूसरी भाषाओं की अक्षरमाला की हर ध्वनि के लिए भी इसमें अक्षर मौजूद हैं।

लिपि तो एक प्रतीक मात्र है जो अक्षर अथवा ध्वनि का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें कोई अंतर नहीं पड़ता कि किस प्रतीक को अपनाया जाय, बशर्ते कि वे सभी, जिनका इससे संबंध हो, इसे स्वीकार करें। इस दृष्टि से संस्कृत-अक्षरों का प्रतिनिधित्व करने के लिए कोई भी लिपि अच्छी है चाहे वह बंगला, गुजराती, असमिया या उड़िया ही क्यों न हो और भारत-भर के लिए इनमें से किसी को भी स्वीकार किया जा सकता है। मैंने मराठी का जिक्र यहां नहीं किया, क्योंकि लिपि की दृष्टि से मराठी और हिंदी सभी तरह से बिल्कुल एक-समान हैं। यही एकमात्र कारण है, और वह बहुत बड़ा कारण है, कि अन्य किसी भी लिपि की अपेक्षा देवनागरी लिपि को ही प्रधानता दी जानी चाहिए, क्योंकि देश के अधिकांश भाग के लोग इसे जानते हैं।

यदि देवनागरी लिपि को मानने के सवाल को देश के सामने रखा

जाय और यदि उत्तर भारत के लोग स्वयं आपस में सहमत हो सकें, तो मैं नहीं समझता कि दक्षिणभाषी लोग इसका विरोध करेंगे—भले ही राष्ट्रभाषा के प्रश्न को मिला-जुलाकर दक्षिण के कुछ लोगों का और कोई रुख क्यों न हो। किसी भी लिपि को, देवनागरी हो या अन्य कोई भारतीय लिपि अथवा रोमन ही क्यों न हो, स्वीकार करने से पहले इस प्रश्न पर खुले रूप से और गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। जिनकी इस विषय में दिलचस्पी है, उन्हें लोगों से इस विषय पर चर्चा शुरू कर देनी चाहिए ताकि उनको जनता के सब तरह के विचार जानने का अवसर मिले और उसके बाद वे किसी निर्णय पर पहुंच सकें।

—राजेंद्र प्रसाद

५-८-६०

प्रिय ज्ञान बेटी,

संस्कृत-वर्णमाला वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक पूर्ण है। उसमें एक ध्वनि वाले एक अक्षर के लिए एक ही ध्वनि है। रोमन वर्णमाला में इस बात की कमी है। उसमें न तो सभी ध्वनियों के लिए पूरे अक्षर हैं और न ही एक अक्षर एक ध्वनि को बताता है। एक ही बड़ी सुविधा उसमें है वह यह कि उसे एक ही लाइन में सीधे और बिना किसी मात्रा अथवा ऊपर-नीचे लकीर खींचे लिखा जा सकता है। आज जबकि सब तकनीकी सुविधाएं उपलब्ध हैं, मैं नहीं समझता कि यह कोई ऐसी कठिन बात है जिस पर पार न पाया जा सके। इसके अलावा, भारत में ऐसे लोग मौजूद हैं जो अपनी लिपि के भक्त हैं और मानते हैं कि लिपि और वर्णमाला दो भिन्न वस्तुएं हैं। दक्षिण में भारत, सीलोन, ईरान, हिन्द-चीन और उत्तर में नेपाल, तिब्बत इत्यादि में वर्णमाला समान है। देश-भक्ति की उस भावना के अलावा, जो विदेशी वस्तुओं के अधिक अच्छे और उच्च कोटि के होने पर भी अपने ही देश की वस्तुओं को प्रधानता देने की मांग करती है, सुविधा, कुशलता और वैज्ञानिक दृष्टि से लिपि की पूर्णता का भी यही तकाजा होगा कि रोमन के बजाय देवनागरी लिपि को ही प्राथमिकता दी जाय। रोमन लिपि के समर्थन का आधार यह बताया जाता है कि इसके

कारण शायद हमारी गिनती संसार के प्रगतिशील देशों में होने लगेगी और शायद हमारे अहिंदी-भाषी लोग हिंदी के इतने खिलाफ हैं कि वे अपने देश की लिपि को स्वीकार करने के बजाय विदेशी लिपि को सिर्फ इसलिए स्वीकार करने को तैयार होंगे क्योंकि वह उनकी नहीं है। मैं नहीं मानता कि हमारे देशवासी इतने संकुचित अथवा अदूरदर्शी साबित होंगे।

—राजेंद्र प्रसाद

२१–१–६०

प्रिय ज्ञान,

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि रूसी लोग हिंदी और उर्दू इतनी अच्छी तरह कैसे सीख और बोल लेते हैं! उनके स्वर और उच्चारण में कुछ भेद जरूर होता है, अन्यथा उनका भाषा-ज्ञान और समझ बहुत ही अच्छी होती है।

कल एक बात सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। कल रूस के कई भाषणों में से एक भाषण का अनुवाद हिंदी में न करके उर्दू में किया गया, जो बहुत सरल था; पर उसमें कई शब्द ऐसे थे जो सामान्य रूप से व्यवहार में नहीं आते। मुझे बताया गया कि उनमें से बहुतेरों ने जो हिंदी जानते थे, कहा कि वे अनुवाद को पूरा नहीं समझ सके और पूछ रहे थे कि 'अम्न' का क्या अर्थ होता है? और उन्हें यह देखकर आश्चर्य हो रहा था कि 'अम्न' के स्थान पर 'शांति' का प्रयोग क्यों नहीं किया गया! इसलिए ऐसा मालूम होता है कि सरल भाषा होते हुए भी इन दो भाषाओं की विभिन्नता ध्यान में आये बिना न रह सकी, क्योंकि एक विदेशी व्यक्ति के लिए दूसरी भाषा समझना मुश्किल होता है जो वह नहीं जानता।

संभव है कि बहुत-से हिंदुस्तानियों के साथ भी यही बात हो और इसलिए जब इस प्रकार की हिंदी के खिलाफ आवाज उठती है तो मुझे अचरज नहीं होता। उसी तरह का विरोध उर्दू भाषा के खिलाफ साधारण रूप से नहीं होता क्योंकि ऐसी मिश्रित उर्दू अक्सर बोली या लिखी नहीं जाती। पुस्तक या पेपर वही लोग पढ़ते हैं जो उस भाषा को जानते हैं। मैं सोचता हूं, क्या इस भेद की खाई को, जो दिनोंदिन चौड़ी होती जा रही है, पाटने

का कोई भी प्रयत्न कारगर हो सकता है? यदि यह न पाटी जा सके, तो क्या इसे उन अधिकाधिक शब्दों को खपाकर, जो जाने या अनजाने ले लिये गए हैं, इस भेद को कम किया जा सकता है?

—राजेंद्र प्रसाद

२६–७–६०

बेटी ज्ञान,

आज मैं निवान-ए-उर्दू में गया जहां 'अदबियात-ए-उर्दू-इदारा' नामक उर्दू-साहित्य की संस्था बनी हुई है। उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित और पुनर्मुद्रित पुस्तकों का संग्रह किया है जिससे कुतुबशाही के जमाने पर और उसके उसके बाद के समय की ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। एकत्रित लोगों के बीच भाषण करते हुए मैंने भाषा के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि वास्तव में देखा जाय तो हिंदी और उर्दू कोई भिन्न जबानें नहीं हैं, क्योंकि उनका व्याकरण करीब-करीब एक-जैसा है। यदि हिंदी उन फारसी या अरबी शब्दों को ग्रहण कर ले, जो उर्दू में प्रचलित हैं और यदि उर्दू संस्कृतनिष्ठ शब्दों को अपने में खपा ले जो हिंदी में प्रचलित हैं तो उन्हें एक बनाना आसान हो जायगा, कम-से-कम दोनों एक-दूसरे के निकट तो आ ही सकेंगी।

हिंदी और उर्दू के लेखकों को अपनी-अपनी भाषाओं में संस्कृत और फारसी के क्रमशः अधिकाधिक कठिन शब्दों का उपयोग करके इनको निकट लाने के प्रयत्नों को और मुश्किल नहीं बनाना चाहिए। एक-दूसरे के शब्दों को अपनी भाषा में खपाने से दोनों भाषाएं समृद्ध होंगी। मुझे पूरी आशा है कि यह संभव हो सकेगा। इस बीच प्रत्येक को अपना विकास करना चाहिए और उसमें सुधार भी। मैं समझता हूं कि भारत की किसी भी भाषा का विकास निश्चय ही दूसरी भाषा के लिए सहायक और फायदेमंद होगा क्योंकि इस तरह से न केवल एक-दूसरी भाषा में अच्छे साहित्य का अनुवाद होगा, परोक्ष रूप से वातावरण पर भी असर होगा, जिससे हरेक को लाभ हो सकता है।

—राजेंद्रप्रसाद

१५-१०-५६

बेटी ज्ञान,

भारतीय भाषाओं में हमारा साहित्य बड़ी तेज़ी से बढ़ रहा है। यह कहना मुश्किल है कि इसकी विपुलता उसकी कोटि से मेल खाती है। किंतु इसमें कोई शक नहीं कि पिछले ५० वर्षों में और निश्चय ही पिछले १०-१२ साल में हर प्रकार का साहित्य बहुत ही समृद्ध हुआ है। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि कविता के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास और किसी हद तक इतिहास में भी जो कुछ लिखा गया है वह दूसरी पुस्तकों के आधार पर लिखा गया है अथवा दूसरी जगह से उधार लिया गया है, वह मौलिक नहीं है; विशेष करके वैज्ञानिक और तकनीकी रचनाएं इसी प्रकार की हैं। इन विषयों में कुछ अनुवाद का कार्य भी हो रहा है, लेकिन यह जाहिर है कि जबतक मौलिक पुस्तकें नहीं लिखी जातीं, स्तर ऊंचा नहीं हो सकता। मौलिक रचनाएं भले ही कुछ निम्न स्तर की हों, पर उस विषय के साहित्य की दृष्टि से उनका महत्व है। इस कमी के कारण ही विश्वविद्यालय भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने में हिचकिचाते हैं। दूसरी ओर, यदि योग्य पुस्तकों की कमी के कारण ये भाषाएं शिक्षा का माध्यम न बनीं तो इन भाषाओं की शिक्षा का स्तर ऊंचा हो ही नहीं सकता। यह ऐसा कुचक्र है जिसे तोड़ना ही चाहिए।

—राजेंद्र प्रसाद

६-१-६०

ज्ञान बेटी,

अनुवाद एक श्रम-साध्य कला है। किसी भी भाषा में मौलिक लेखन की अपेक्षा यह अधिक कठिन है। इसके लिए जिस भाषा से अनुवाद किया जाय और जिसमें अनुवाद किया जाय, उन दोनों भाषाओं के अच्छे ज्ञान की आवश्यकता है। किंतु भाषा के कोरे ज्ञान से काम नहीं चलता। अनुवादक को मूल लेखक की भावना समझनी चाहिए और अच्छा हो यदि वह लेखक की आत्मा में पैठ सके। आदर्श अनुवाद वह है जो शाब्दिक न होकर मूल लेख की प्रत्येक अभिव्यक्ति को व्यक्त करता हुआ और उसके प्रत्येक कथ्य

पर समुचित जोर देता हुआ लेखक की भावना को व्यक्त करता हो। कोई भी अनुवाद मूल लेख के समान पाठकों पर प्रभावशाली तभी हो सकता है, जबकि अनुवादक मूल लेखक की आत्मा में पैठने में समर्थ हो। मेरा अपना मत है कि अनुवाद की वास्तविक कसौटी शब्दशः अथवा वाक्यशः अनुवाद करना नहीं है। मैं अपने अनुभव से यह कह सकता हूं कि यह कार्य कितना कठिन और रोचक है। और जब अनुवाद तत्त्वज्ञान, मनोवैज्ञानिक, काव्यात्मक, वैज्ञानिक अथवा तकनीकी आदि विषयों-संबंधी हो तो वह और भी कठिन हो जाता है। इसका एक कारण यह है कि एक भापा में व्यक्त विचार और संकल्पनाएं, संभव है, दूसरी भापाओं में उपलब्ध न हों। यह भी संभव है कि दूसरी भापा की अभिव्यक्ति-शैली का ज्ञान अनुवादक को इतना अधिक न हो कि वह एक भापा से दूसरी भापा के अनुवाद में उस भाव को निभा सके। इसलिए कठिनाई अनुवाद की नहीं है, वल्कि एक भापा के विचारों को दूसरी भापाओं के विचारों में अनूदित करने की है। क्या ऐसी ही कठिनाई का अनुभव हमने अपने अभिभाषणों का अनुवाद करते समय नहीं किया है?

—राजेंद्र प्रसाद

१६-१०-६०

चि० वेटी ज्ञान,

भारत सरकार ने नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी को दस खण्डों में हिंदी विश्वकोश निकालने का कार्य सुपुर्द किया था। सभा की ओर से उसका प्रथम खण्ड, गोविन्दवल्लभ पंत द्वारा, जो सभा के अध्यक्ष हैं, आज मुझे भेंट किया गया। डा० धीरेन्द्र वर्मा उसके प्रधान सम्पादक हैं और अन्य कई विद्वानों ने उसके प्रकाशन-कार्य में सहयोग दिया है।

मुझे याद है कि वहुत समय पहले श्री वसु विद्यावाचस्पति ने एक वंगला-विश्वकोश निकाला था और उसका ही एक हिन्दी-संस्करण भी उन्होंने प्रकाशित किया था। कई वर्षों तक वह चलता रहा और उसके कई भाग प्रकाशित हुए। जहां तक मुझे याद है मैंने भी उसमें कुछ लिखा था। मैं नहीं जानता कि वे किताबें कहां हैं, और उस किताब की शैली या स्तर

के विषय में भी मुझे कोई जानकारी नहीं है; पर जिन व्यक्तियों के नाम उसके साथ जुड़े हैं, उसे देखते हुए इसमें संदेह नहीं कि उसका स्तर बहुत ऊंचा रहा होगा।

मुझे उम्मीद है कि इन पुस्तकों को देखना मेरे लिए संभव होगा और जिन विषयों में मेरी रुचि है, उसके बारे में मैं कुछ पढ़ सकूंगा।

यह एक छोटा-सा सुंदर आयोजन था जिसमें हिंदी के अनेक विद्वान् तथा सुनीतिकुमार चटर्जी और नीलकांत शास्त्री-जैसे व्यक्तियों ने हिस्सा लिया था। मुझे खुशी है कि सरकार ने इस कार्य के लिए साढ़े छः लाख रुपये का अनुदान दिया है। आशा है, उचित समय में यह पूरा हो जायगा।

—राजेंद्र प्रसाद

इस अध्याय में राजेंद्रबाबू के भाषा-संबंधी विचारों का विवेचन उनके ही पत्रों से जानने को मिलता है। पाठकों की सुविधा और संदर्भ की दृष्टि से संविधान-सभा में भाषा-संबंधी बहस का आरंभ करते समय अध्यक्ष-पद से दिया गया उनका भाषण यहां दिया जा रहा है :

अध्यक्ष : अब हम भाषा के प्रश्न से संबंधित अनुच्छेदों पर विचार करेंगे। मैं जानता हूँ कि इस विषय पर सदस्यों के मस्तिष्क में बहुत बेचैनी हो रही है और इसलिए मैं इस बहस में बोलनेवालों से अपील करूंगा। मेरी अपील किसी विशेष रुख के लिए नहीं है बल्कि यह सदस्यों द्वारा दिये जानेवाले भाषणों के संबंध में है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा के प्रश्न पर जो भी निर्णय लिया जायगा उसे पूरे देश पर लागू करना होगा। देश के पूरे संविधान में ऐसा कोई अन्य विषय नहीं है जिसे प्रत्येक घण्टे—और मैं कहूंगा कि प्रत्येक मिनट—व्यवहार में लाया जायगा। इसलिए सदस्यों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस सदन में बहस पर अंक नहीं मिलेंगे। सदन का निर्णय सारे देश को मान्य होगा। चाहे हम बहुमत से किसी विशेष रूल को स्वीकार कर लें, किन्तु यदि उसे उत्तर के अथवा दक्षिण के पर्याप्त लोगों का समर्थन नहीं मिलता तो संविधान को लागू करना एक कठिन समस्या बन जायगी। इसलिए जब भी कोई सदस्य भाषा के प्रश्न पर बोलें तो मैं उनसे अनुरोध करूंगा कि वे ऐसा कोई शब्द

या वात न कहें जिससे किसी की भावनाओं का ठेस पहुंचे। जो भी कहा जाय, वह सभ्य भापा में कहा जाय ताकि उसका प्रभाव हो और उसका असर किसी की भावनाओं पर न पड़े।"

संविधान-सभा में पंडित-जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य सदस्यों के जो भापण हुए, उनके संकलन की जिल्दें संसद के पुस्तकालय में संगृहीत हैं। यहां केवल राजेंद्रवावू का वह भापण ही दिया जा रहा है जो उन्होंने भापा-संवंधी वहस का समापन करते हुए दिया था :

अध्यक्ष : इसके साथ ही आज की कार्रवाई समाप्त होती है, लेकिन सदन स्थगित करने से पहले मैं वधाई के कुछ शब्द कहूंगा। मेरे विचार में, हमने अपने संविधान के लिए एक ऐसा अध्याय स्वीकार किया है जिसका पूरे देश के निर्माण पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा। हमारे इतिहास में कभी भी ऐसा नहीं हुआ जवकि पूरे देश में नियम और प्रशासन की भापा के रूप में एक भापा स्वीकार की गई हो। संस्कृत एक ऐसी भापा थी जिसमें हमारा सभी धार्मिक साहित्य और ज्ञान तथा अन्य साहित्य प्रतिप्ठापित किया गया था था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत का अध्ययन देश के सभी भागों में किया जाता था किन्तु इसका प्रयोग समस्त देश में कभी भी प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए नहीं किया गया। आज यह पहला अवसर है कि हमारा संविधान है, आज हम संविधान में एक ऐसी भापा की व्यवस्था कर रहे हैं जो संघ के प्रशासन की भापा होगी और जो समय की मांग और आवश्यकतानुसार अपना विकास करेगी।

मैं अपने-आपको हिन्दी अथवा किसी अन्य भापा का विद्वान् नहीं मानता। मैं यह दावा भी नहीं करता कि मैंने साहित्य में कोई योगदान किया है; किन्तु एक साधारण व्यक्ति के नाते मैं इतना कहूंगा कि आज यह वताना संभव नहीं है कि आज जिस भापा को हमने संघ की प्रशासन की भापा के रूप में स्वीकार किया है, उसका भविप्य में क्या स्वरूप होगा। आज इसका जो स्वरूप है उसे देखने से पता चलेगा कि पिछले कई अवसरों पर हिन्दी में परिवर्तन हुए हैं और हमारे सामने इसकी कई शैलियां हैं। व्रजभापा में भी वहुत-सा साहित्य लिखा गया। हिन्दी का विद्यमान स्वरूप आज खड़ीवोली है। मेरा विचार है कि देश की अन्य भापाओं के साथ

इसके सम्पर्क से इसे भविष्य में विकास का अवसर मिलेगा। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि देश की अन्य भाषाओं में पाई जानेवाली सर्वोत्तम सामग्री को इसमें खपा लेने से इसका लाभ ही होगा।

आज हमने देश में राजनीतिक एकता प्राप्त कर ली है। अब हम एक और कड़ी का निर्माण कर रहे हैं जो हमें एक किनारे से दूसरे किनारे तक एक सूत्र में बांधेगी। मुझे आशा है कि सभी सदस्य सन्तोष के साथ अपने अपने घरों को जायेंगे और जो मतदान में हार गए हैं वे भी इसे एक खिलाड़ीपन की भावना, अथवा कहना चाहिए कि उदार भावना, से स्वीकार करेंगे और भाषा के संबंध में देश के ऊपर संविधान द्वारा जो कुछ आरोपित किया जायगा उस कार्य को पूरा करने में मदद देंगे।

दक्षिण भारत के संबंध में मैं एक शब्द कहूंगा। १९१७ में जब महात्मा गांधी चम्पारन में थे और मुझे उनके साथ काम करने का अवसर मिला था तब उन्होंने दक्षिण में हिन्दी-प्रचार आरंभ करने की बात सोची थी और उन्होंने स्वामी सत्यदेव और अपने पुत्र देवदास गांधी से यह प्रार्थना करने का निश्चय किया कि वे वहां जायं और कार्य करें, जो उन्होंने किया। बाद में १९१८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर-अधिवेशन में कार्य की प्रगति हुई। यह मेरा सौभाग्य रहा है कि अब से पिछले लगभग ३२ वर्षों की अवधि में मेरा इससे सहयोग रहा, यद्यपि मैं यह दावा नहीं कर सकता कि यह बहुत निकट था। मैं दक्षिण में एक छोर से दूसरे छोर तक गया और यह देखकर मुझे प्रसन्नता हुई कि इस भाषा के संबंध में महात्मा गांधी के आह्वान का दक्षिण के लोगों ने कितना स्वागत किया। मैं जानता हूं कि उन्हें क्या-क्या कठिनाइयां उठानी पड़ीं, किन्तु जो उत्साह उन्होंने दिखाया, वह आश्चर्यजनक था। मैं बहुत से पुरस्कार-वितरण-समारोहों पर उपस्थित था और सदस्यों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि एक ही अवसर पर मैंने भाषा-अध्ययन के लिए निर्धारित परीक्षा पास कर लेने पर और अपने-अपने डिप्लोमा के पुरस्कार के पात्र होने पर दो पीढ़ियों को एक साथ पुरस्कार वितरित किये हैं और कभी-कभी तीन को,—अर्थात् दादा, माता-पिता और पोते को। इस कार्य में प्रगति हुई है और इसे दक्षिण के लोगों ने अपने कार्य के रूप में अपना लिया है। आज मुझे यह पता नहीं है कि वे इस

हिन्दी-प्रचार कार्य पर कितने लाख रुपये खर्च कर रहे हैं और मुझे यह याद नहीं प्रत्येक वर्ष इन परीक्षाओं में कितने विद्यार्थी बैठते हैं, इसका यह अर्थ है कि दक्षिण के बहुत से लोगों ने अखिल भारतीय प्रयोजनों के लिए भाषा के रूप में इस भाषा को स्वीकार कर लिया है और इसके लिए जो उत्साह उन्होंने दिखाया है उसके लिए वे उत्तर के लोगों की बधाई, मान्यता और आभार के पात्र हैं।

यदि आज उन्होंने किसी बात का हठ किया है तो हमें यह याद रखना चाहिए कि वे हिन्दी को स्वीकार करेंगे, उन्हें स्वीकार करना चाहिए। आखिरकार वह कौन सी बात है जिसके कारण यह विवाद उठा ? मुझे आश्चर्य हो रहा था कि एक छोटी-सी बात पर हम इतना समय क्यों लगावें, इतना वाद-विवाद क्यों करें ? अंक आखिर कितने हैं ? कुल दस अंक हैं। इन दस में से, जहां तक मुझे याद है तीन ऐसे हैं—०, २ और ३—जो अंग्रेजी और हिन्दी में एक-से हैं। चार ऐसे हैं जो आकार में एक-से हैं किन्तु उनके अर्थ भिन्न हैं। जैसे हिन्दी का ४ अंग्रेजी के ८ जैसा है, यद्यपि एक का अर्थ ४ और दूसरे का आठ है। अंग्रेजी का ६ हिन्दी के ७ जैसा है, यद्यपि उनके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। आजकल हिन्दी में प्रयुक्त किया जानेवाला अंक ९, जो मुख्यतः महाराष्ट्र से लिया गया है, अंग्रेजी के ९ से मिलता है। इस प्रकार दो या तीन अंक रह जाते हैं जिनका आकार और अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए, जैसा कि कुछ सदस्यों ने सुझाया है, यह प्रेस की सुविधा अथवा असुविधा का प्रश्न नहीं है। मेरा विचार है कि जहां तक प्रेस का संबंध है, अंग्रेजी के अंक लगभग हिन्दी के अंकों-जैसे हैं।

किन्तु हमें अपने उन मित्रों की भावनाओं का सम्मान करना है जो ऐसा चाहते हैं और मैं अपने सभी मित्रों से कहूंगा कि वे इसी भावना से इसे स्वीकार करें, इसे इस दृष्टि से स्वीकार करें क्योंकि हम चाहते हैं कि वे हिन्दीभाषा को स्वीकार करें, और जहां तक बाकी का संबंध है वे देव-नागरी लिपि को स्वीकार करें। और मुझे खुशी है कि इस सदन ने इस सुझाव को बहुमत से स्वीकार कर लिया है। मुझे ऐसा लगा कि यह कोई रियायत देने की बात नहीं थी। हम चाहते थे कि वे हिन्दी को स्वीकार कर लें और उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है। वे चाहते हैं कि हम अंकों का

भिन्न रूप स्वीकार करें, और इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई क्यों हो ? यह ऐसा लगता है, यदि मैं एक उदाहरण दूं, हम चाहते हैं कि कुछ मित्र हमें आमंत्रित करें; वे हमें आमंत्रित करते हैं। वे कहते हैं, "आप आ सकते हैं और हमारे मकान में रह सकते हैं। हम इस प्रयोजन के लिए आपका स्वागत करते हैं। किन्तु जब तुम हमारे घर आओ तो अंग्रेजी जूते पहनकर आओ न कि देशी चप्पल, जिन्हें आप अपने घर में पहनते हैं।" यदि मैं केवल चप्पल न छोड़ने की वजह से आमंत्रण अस्वीकार कर दूं तो यह कोई बुद्धिमानी नहीं होगी। मुझे अंग्रेजी जूते स्वीकार करके भी आमंत्रण स्वीकार कर लेना चाहिए और इसी लेन्दे की भावना से राष्ट्रीय समस्याएं हल हो सकती हैं।

हमारे संविधान के विषय में अभी तक बहुत-से विचार उठे हैं और बहुत-से ऐसे प्रश्न उठे हैं जिनमें गहरे मतभेद थे, किन्तु हमने किसी-न-किसी प्रकार उन्हें दूर कर लिया। यह सबसे बड़ा मतभेद था जिससे हम विभाजित हो सकते थे। जरा हम सोचें कि यदि दक्षिण ने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि स्वीकार न की होती तो क्या होता ? स्विटजरलैण्ड-जैसे छोटे-से देश में संविधान में तीन भाषाओं को मान्यता दी गई है और प्रत्येक कार्य तीनों भाषाओं में करना होता है। क्या हम सोच सकते हैं कि हम सभी प्रान्तों को इकट्ठा रख सकेंगे, यदि हम जितनी भाषाएं हैं उतनी भाषाएं रखें ? यदि केन्द्रीय प्रशासकीय प्रयोजनों के लिए एक और पृष्ठ छापना पड़ेगा, मैं नहीं जानता तो शायद वह पन्द्रह से लेकर बीस पृष्ठ तक होगा।

और यह केवल खर्च की बात है। एक मनोविज्ञान का प्रश्न भी है जिससे हमारे पूरे जीवन पर प्रभाव पड़ेगा। यह भाषा, जिसका प्रयोग हम केन्द्र में करेंगे, हमें और निकट लायेगी। आखिरकार अंग्रेजी ने हमें निकट ला दिया क्योंकि यह एक भाषा थी। अब अंग्रेजी के स्थान पर हमने एक भारतीय भाषा स्वीकार कर ली है, इससे निश्चय ही हम और निकट आयेंगे, विशेष रूप से इसलिए कि हमारी परम्पराएं एक समान हैं, हमारी संस्कृति एक है और सभ्यता के निर्माण के लिए आवश्यक सभी बातें एक समान हैं। इसलिए यदि हम इस सूत्र को स्वीकार नहीं करते तो परिणाम यह होता

कि या तो सारे देश के लिए बहुत सी भाषाएं प्रयुक्त करनी होतीं या जो प्रान्त दबाव में आकर किसी भाषा विशेष को स्वीकार नहीं करते, उनका पृथक-करण होता। हमने यथासंभव बुद्धिमानी का काम किया है और मुझे खुशी है और आशा है कि इससे हम समृद्ध होंगे।

१८

भारत की सांस्कृतिक परंपरा

इतिहास का कोई भी विद्यार्थी, जिसने भारतीय विचारधारा का अध्ययन किया हो, इस प्राचीन देश की संस्कृति की ओर आकृष्ट हुए विना नहीं रह सकता। राजेंद्रवाबू तो इतिहासवेत्ता थे। उनका संस्कृत भाषा और साहित्य तथा भारतीय दर्शन का अध्ययन बहुत गहन था। और फिर, परंपरागत विचारों और धारणाओं के प्रति भी उनकी सहानुभूति तथा आदर था। उनकी विश्लेषणात्मक और तत्त्वदीपिका प्रतिभा भी उन्हें इतिहास की विशृंखल लड़ियों में से स्थायी सांस्कृतिक तत्त्व ढूंढ़ने को अनुप्राणित करती थी।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विलक्षणता, जिसपर बाबूजी सदा जोर दिया करते थे, विभिन्नता में एकता थी। जितनी परिवर्तनशीलता इस देश की भूमि ने देखी है, बहुत कम देशों ने देखी होगी; फिर भी बदलती हुई परिस्थितियों और असीम विभिन्नताओं के बावजूद यह महान देश कुछ भौतिक तत्त्वों और मान्यताओं के आधार पर इन सब विभिन्नताओं को एक सांस्कृतिक परंपरा की लड़ी में पिरो सका है। हल्की-सी और धुंधली होने पर भी भारतीय एकता की यह रेखा अपने में इतनी अमिट है कि लाखों-करोड़ों आक्रांताओं के कूच से उठी हुई धूल भी उसे दबा नहीं सकी।

भारत के सांस्कृतिक चित्रपट में राजेंद्रबाबू को आकाश में इंद्रधनुष के समान रंगों के समन्वय की एक अनोखी छटा दिखाई दिया करती थी। हजारों वर्षों तक इस पुण्यभूमि पर न जाने कितने विदेशी आये, किंतु यहां आकर सब अपने-अपने विचारों, धर्मों, मतों, रीति-रिवाजों और परंपराओं आदि को भूलकर यहीं के रंग में रँग गये। यूनान, गान्धार, मध्य एशिया और अन्य देशों से अनेक कबीले यहां आये और भारतीयता के समुद्र में विलीन हो गए। केवल मुसलमान लोग ही ऐसे हैं जो धार्मिक दृष्टि से

अपना अलग अस्तित्व बनाये रख सके हैं; किंतु उन्होंने भी अनेक स्थानीय विचार और विश्वास ग्रहण किये हैं, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता।

एक और विशेषता, जिसपर बापूजी सदा जोर दिया करते थे, वह यहां के लोगों की व्यापक सहिष्णुता की भावना है। "जियो और जीने दो" का इससे अच्छा उदाहरण संसार भर में और कहीं नहीं मिलेगा। मुसीबत के मारे यहूदी लोगों को भारत में शरण मिली। सीरिया के ईसाई लोग भी नये घर की खोज में भारत की ओर आकर्षित हुए। इसी प्रकार दसवीं सदी में इस्लाम की सत्ता से त्रस्त पारसी लोगों का भी भारत ने ही स्वागत किया। ये सब लोग आज भी अपने पुरातन विश्वासों और धर्मों का अनुसरण करते हुए भारत के अन्य लोगों की तरह शान्तिपूर्वक रह रहे हैं। अपने अस्तित्व को अलग बनाये रखते हुए भी वे पूर्ण भारतीय हैं। उन्हें बलपूर्वक अपने में खपाने की अथवा उनका धर्म-परिवर्तन करने की भारतीय समाज ने कभी कल्पना तक नहीं की होगी।

संस्कृति के संबंध में बापूजी के विचार कितने गहरे, मौलिक और खोजपूर्ण थे, इसका कुछ प्रमाण इन पत्रों से मिल सकेगा। उन्होंने अपने भाव व्यक्त करते हुए लिखा है :

बेटी,

भारत के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन की तीन बड़ी विशेषताएं हैं—पहली, अनेक विभिन्नताओं में उसकी मौलिक एकता; दूसरी, उसकी खपाने और अपने को दूसरे के अनुरूप बना लेने की शक्ति; और तीसरी, उसकी जीवित रहने की शक्ति तथा उसका चिरंतन अस्तित्व।

भारत के भौगोलिक स्थूल चिह्न हैं : उत्तर में हिमालय और दक्षिण में कन्याकुमारी तथा पूर्व और पश्चिम के दोनों समुद्र। इस सीमा के अंदर आज ४६ करोड़ से भी अधिक लोग रहते हैं, जो विभिन्न धर्मों को मानने-वाले हैं और जो अनेक बोलियों के अलावा कम-से-कम १२ ऐसी भाषाएं बोलते हैं जिनका अपना साहित्य और शैली है, जिनका अपना रहन-सहन है, खान-पान है और जो आदतों और रीति-रिवाजों में भी इतने भिन्न हैं कि किसी भी विदेशी को वे एक-दूसरे से एकदम अलग दिखाई देंगे। पर इन

सब विभिन्नताओं के बावजूद इनके बीच मौलिक एकता की एक ऐसी धारा है जो एक विदेशी और किसी भी भारतीय के बीच अंतर को स्पष्ट कर देती है और जो आसानी से बताई अथवा समझी नहीं जा सकती, पर जो भारतीय जीवन की एक खासियत है—और वास्तविकता भी। वर्षों से भारत की यह एकता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, भले ही उसका कोई रिकार्ड हो या न हो, स्थायी अस्तित्व ही उसका जीता-जागता प्रमाण है।

यह एक समन्वित संस्कृति है; यह मैं इस माने में कह रहा हूं कि यद्यपि विश्लेषण करने पर इसका अंतिम रूप भारतीय ही होता है, इसका मूल उद्गम भी भारतीय संस्कृति में ही है, किंतु अपने सांस्कृतिक प्रवाह में विभिन्न लोगों और अन्य देशों से जो भी मिला, वह इसमें मिलकर एकरूप हो गया। अपनी रंग-बिरंगी संस्कृति में उन रंगों को मिलाने में भारत कभी नहीं हिचकिचाया। इस प्रकार भारत के लोग अपनी भाषा, धर्म, जीवन, लोक-परंपराओं और रीति-रिवाजों में हमेशा बाहर से कुछ-न-कुछ लेते रहे। लेकिन जो कुछ भी बाहर से आया वह यहां की संस्कृति के विशाल समुद्र में आकर विलीन हो गया और इसकी अपनी विरासत का अंग बन गया। उसका कोई भी भिन्न अस्तित्व नहीं रहा और न किसी जुड़े हुए टुकड़े की तरह वह अलग दीखता है, पर वह इसका ऐसा अंग बन गया जिसका विकास सच्चे मानों में एक साथ होने लगा। भारत की खपाने और आत्मसात् कर लेने की शक्ति आज भी वैसी ही सक्रिय और जीवित है जैसी कभी पहले थी।

इन सबके बावजूद उसकी जीवित रहने की शक्ति अक्षुण्ण और उसकी चिरंतनता ज्यों-की-त्यों बनी है। भारत का राजनीतिक इतिहास भी बड़ा विविध है। समय-समय पर यहां कई साम्राज्य स्थापित हुए, किंतु उनके बावजूद और भारतीय गणतंत्र की स्थापना से पहले भारत अनेक छोटी-बड़ी राजनीतिक इकाइयों में बंटा था। चाहे वह हिंदू राजा के समय में हो अथवा मुगल बादशाहों के जमाने में, यहां ऐसी अनेक रियासतें थीं जो एक-दूसरे के प्रति तो लापरवाह-सी थीं, पर जो कमोबेश रूप में केंद्र की सत्ता को स्वीकार करती थीं। ब्रिटिश काल में भी देश का करीब एक-तिहाई हिस्सा छोटी-बड़ी रियासतों के रूप में रजवाड़ों के अधीन था।

कोई रियासत तो इतनी छोटी थी कि उसका क्षेत्रफल कुछ मीलों तक ही सीमित था और एक रियासत का क्षेत्रफल समस्त यूरोप से बड़ा था। किंतु ये सभी रियासतें ब्रिटिश सत्ता के अधीन थी और उसके नियंत्रण को स्वीकार करती थीं।

इस विविध और शाश्वत संस्कृति के मौलिक तथा आधारभूत विचार और आदर्श शताब्दियों से चले आते हुए हमारे साहित्य में संगृहीत हैं। उन वेदमंत्रों और रामायण तथा महाभारत, शास्त्रों और पुराणों के रचनाकाल तथा उन पुराणों और आज के बीच की शताब्दियों अथवा हजारों वर्ष के काल-क्रम को निश्चित करना तो अनुसंधान-कार्य करनेवाले विद्वानों का काम है। जो भी हो, एक बात साफ है और वह यह कि इन सब कालों और युगों में एक क्रम है, जो आश्चर्यजनक है। इस अनवरत क्रम को हम न केवल संस्कृत, प्राकृत और पाली के विशाल और व्यापक साहित्य में पा सकते हैं, बल्कि यह भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य में भी मिलता है। कालिदास और भवभूति की कल्पना और प्रेरणा का स्रोत हमें रामायण, महाभारत और उससे भी पहले घटित घटनाओं और रचनाओं में मिल सकता है और रवीन्द्रनाथ टैगोर, मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर और महादेवी वर्मा के काव्य और संगीत, कथा और उसकी कल्पनापूर्ण पृष्ठिभूमि के प्रेरणा-स्रोत भी वही महाकाव्य हैं। मैंने उन थोड़े से ही साहित्यकारों का उल्लेख किया है जिन्हें मैं जानता हूं।

इस मौलिक एकता का आधार नकारात्मक ढंग से व्यक्त किंतु सकारात्मक अहिंसा का सिद्धांत है, जिसकी सकारात्मक अभिव्यक्ति सहिष्णुता के रूप में हुई, जिसके कारण हम विदेशी लोगों और उनके विचारों को यहां की जीवन-सरिता में खपा सके। उर्दू के प्रसिद्ध महाकवि इकबाल ने भारत के विभाजन से पहले राष्ट्रीयता की लौ में यह तराना गाया था :

> यूनान-ो-मिस्र-रोमां सब मिट गए जहां से
> अब तक मगर है बाकी नाम-ो-निशां हमारा!
> कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
> सदियों रहा है दुश्मन दौरे-जमां हमारा!

यदि कोई भविष्य की झांकी लेना चाहे, तो कहा जा सकता है कि

इस समन्वित और महिमापूर्ण संस्कृति के भविष्य में अभी बहुत-कुछ बदा है। संभव है अतीत की तरह भविष्य में भी यह निजी अनुभूतियों के बल पर ऐसा मार्ग दर्शा सके जिससे प्रेम और सहिष्णुता के रेशमी धागे उन विभिन्न देशों को एक लड़ी में पिरो सकें जिन्हें आज न केवल पर्वत और नदी आदि, बल्कि द्वेष और अहंभावना एक-दूसरे से जुदा किये हुए हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

राजेंद्रबाबू जो स्वयं भारतीय संस्कृति की आत्मा अथवा प्रतिमूर्ति थे, उन्होंने एक ऐसी परंपरा हमें दी है जिससे भारत अपने अतीत पर गर्व कर सकता है, वर्तमान को सुधार सकता है और भविष्य को सुन्दर बना सकता है। इस परंपरा की रक्षा में ही भारत का और सबका भी कल्याण है।

इस देश की संस्कृति का एक और सबसे आकर्षक गुण बाबूजी की दृष्टि में यह था कि विदेशियों के आक्रमण सहते हुए भारत की सेनाओं ने कभी किसी दूसरे देश पर हमला नहीं किया। इसका कारण चाहे आत्म-संतोष हो अथवा दूसरे की भूमि हड़पने की अनिच्छा हो, किंतु यह बात भी कम विलक्षण नहीं।

यह होते हुए भी भारतीय विचारधारा और धर्म लगभग समस्त एशिया और मध्य एशिया तक फैल गए और आज भी एशिया के बहुत-से देशों में प्रचलित हैं। अन्य देशों के विपरीत भारत ने विदेशों में केवल विचार और सांस्कृतिक दूत ही भेजे और इन लोगों का प्रभाव वहां की जनता पर तलवार के धनी विजेताओं की अपेक्षा गहरा और स्थायी पड़ा। बाबूजी इस बात को जानते तो थे ही, किंतु इस तथ्य का प्रत्यक्ष दर्शन उन्होंने अपनी जापान और मलाया, इंदोनेशिया आदि देशों की यात्रा में भी किया। उसका उल्लेख उनकी लेखनी ने इस प्रकार किया है :

२५—१०—५८

चि० बेटी,

भारत का प्रभाव कितने देशों और कितनी दूर तक गया, यह हम जब-तक अनेक निकटवर्ती और दूरस्थ देशों को न जायें, नहीं समझ सकते।

जापान-यात्रा में यह स्पष्ट हो गया कि बौद्धधर्म के द्वारा भारत का कहांतक बहुत गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा है। अब जब इंदोनेशिया जाने की बात आई और मैंने उस देश के संबंध में कुछ जानना चाहा तो मेरे पास इतनी पुस्तकें आ गई हैं और उनमें इतनी जानकारी मिल सकती है जिससे अपने पूर्वजों के यश और कीर्ति पर गर्व हो जाता है। उस देश में, मलाया देश में और पूर्व-दक्षिण द्वीपों पर केवल बौद्ध धर्म का ही नहीं, हिंदू धर्म की भी गहरी छाप पड़ी है। यहां पुराने मंदिरों और दूसरे स्थापत्य-चिह्नों के अलावा वहां की प्रचलित भाषा में बहुतेरे संस्कृत के शब्द मिलते हैं, और आज यद्यपि वहां के प्रायः ६० प्रतिशत लोग आज से ५०० बरस या इससे भी अधिक काल से मुसलमान हो गए हैं, तो भी उन लोगों में बहुतेरों के नाम संस्कृत के हैं जो हिंदुओं के ग्रन्थों, विशेषकर महाभारत से लिये गए हैं। यह भी सुना है कि आज भी वे लोग महाभारत की कथा को लीला के रूप में, वैसे ही देखते हैं जैसे हम भारत में रामायण की कथा को देखते हैं और उसके पात्रों के बल, बुद्धि, ज्ञान और कीर्ति के प्रति केवल आदर ही नहीं प्रकट करते, वरन् उसे अपने लिए आदर्श मानते हैं।

मैं थोड़ा-बहुत जो हो सकेगा, जाने के पहले पढ़ूंगा, पर चाहे जितना भी पढ़ूं, उतना असर और जानकारी नहीं हो सकेगी जितनी वहां जाकर मिलेगी। यही जापान में हुआ। वहां से कुछ पढ़कर गया था, पर वहां जाने पर जो ज्ञान और अनुभव हुआ वह पुस्तकों से शायद ही हो पाता। साथ ही मैं समझता हूं कि उन लोगों के साथ पुरानी संस्कृति के आधार पर आज के नवयुग की जरूरतों के अनुसार जो संबंध बनेगा, वह स्थायी और लाभ-प्रद होना चाहिए।

इसमें केवल एक ही सोचने की बात सामने आती है : क्या हम अपने देश में अपनी संस्कृति के प्रति आदर का भाव रखते हैं जिसके आधार पर दूसरों से उसकी आशा रख सकें? हमको कभी-कभी ऐसा लगता है कि हम अपनी सभी पुरानी चीजों को केवल छोड़ना ही नहीं चाहते, उनको हेय भी समझते हैं। हो सकता है कि समय के फेर से और लकीर के फकीर बन कर हम रूढ़िवादी बन गए हों, पर यह दोष सभी रीति-रिवाजों पर आरोपित

नहीं किया जा सकता है। और इसलिए यह आवश्यक है कि 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने' की नीति अपनाई जाय और जो ठीक जंचे उसे पुरानी होने पर भी अपनाया जाय और जो बुरी है उसे त्याग दिया जाय। क्या इसके विपरीत कोई दूसरी नीति हो सकती है?

—राजेंद्र प्रसाद

राजेंद्रबाबू को प्राय: परम्परावादी समझा जाता था। यह ठीक है कि हमारी प्राचीन संस्कृति में उनकी गहरी आस्था थी; पर वह अतीत जो नव भविष्य का निर्माण न कर सके उन्हें आमान्य था। प्राचीन और नवीन तथा अतीत और भविष्य की विवादास्पद समस्या के संबंध में उनके विचार कितने सुलझे हुए थे, वह इस पत्र से स्पष्ट हो जायेगा :

२-११-५८

बिटिया ज्ञान, आशीर्वाद।

यह समझना आसान है कि यदि किसीको किसी सामने के स्थान पर जाना है और जल्दी दौड़कर जाना है तो उसको सीधे सामने की ओर मुंह करके दौड़ना चाहिए। वह यदि बीच-बीच में दौड़ते-दौड़ते पीछे की ओर भी देखना चाहेगा, तो डर है कि वह चारों खाने चित्त गिर पड़े। पर सामने सीधे दौड़ते जाना भी तभी संभव है जब रास्ता सीधा और प्रशस्त हो और उसमें छोटी या बड़ी कोई बाधा न होवे। यदि बीच सड़क पर गड्ढे हों अथवा रास्ता कंटीली झाड़ियों से भरा हो अथवा पहाड़ पर होकर गुजरता हो, तो दौड़ना न तो संभव है और न खतरे से खाली। ऐसे रास्ते पर ध्येय निश्चित रहने पर भी संभल करके चलना होगा और अगल-अगल की ओर अथवा पीछे मुड़कर भी बिना बाधावाला रास्ता ढूंढ़कर निकालना होगा। तभी ध्येय तक पहुंचा जा सकेगा। यह केवल रास्ते के संबंध में ही सत्य नहीं है बल्कि देश के कार्यक्रम के संबंध में भी उतना ही सत्य है। हमारा ध्येय सर्वोदय है। उसे यदि हम ठीक समझ और देख सकते हैं तो उसके रास्ते के संबंध में भी वही बातें सत्य होंगी जो मामूली रास्ते के संबंध में ऊपर कही गई हैं। सामाजिक विषयों में तो शायद प्राचीन अनुभव की

नींव पर दीवार खड़ी करना तभी अधिक सुरक्षित होगा। इसलिए मुझे मालूम पड़ता है कि जब भविष्य और उसका रास्ता दोनों कुछ अंश में भी संदिग्ध हों, तो पिछले अनुभव के बल पर ही चलना और उसीकी नींव पर भविष्य की इमारत बनाना अच्छा होगा। इसीलिए मैं बराबर कहता हूं—चाहे इसे प्रतिगामिता ही कहा जाय—कि अपनी संस्कृति और संस्थाओं को हेय नहीं मानना चाहिए, बल्कि उनसे लाभ उठाकर यथासाध्य उनके अनुकूल ही, भविष्य के लिए भी कार्यक्रम बनाना अधिक लाभप्रद होगा। इस वैज्ञानिक आणविक युग में, जब भविष्य ही अंधकारमय है और उसका रास्ता और भी तमसाच्छादित है, इस अनजान खतरनाक रास्ते पर क्यों दौड़कर चलने का प्रयत्न किया जाय? यदि हम भविष्य को संदिग्ध न भी मानें तो भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि रास्ता संदिग्ध है और उसमें ऐसे खतरे दीखते हैं जो न केवल मानव-समाज को बल्कि मानव-मात्र को विनष्ट कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में कम-से-कम पिछले अनुभवों को बिलकुल न भुलाया जाय और उनसे भी कुछ लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाय तो इससे हानि नहीं हो सकती। मैं यही कहता हूं कि जिस तरह भविष्य की ओर अंधाधुंध नहीं दौड़ना चाहिए, उसी तरह अतीत को भी आंख मूंदकर उसकी बुराइयों के साथ स्वीकार नहीं करना चाहिए। अर्थात् संग्रह और त्याग पहिचान करके ही करने चाहिए। इसीमें भलाई है।

—राजेंद्र प्रसाद

१६-८-६०

प्रिय ज्ञान,

इधर बहुत दिनों से मैं तुलसीदास की रामायण नियमित रूप से पढ़ता रहा हूं। मैं अभी अयोध्याकाण्ड के उस चरण पर पहुंचा हूं जहां उन्होंने प्रकृति की सहानुभूति का वर्णन किया है और प्राणि-मात्र की भावना को बड़े ही अनूठे ढंग से अभिव्यक्त किया है। राम, वैदेही और लक्ष्मण को वन में छोड़कर जब सुमंत लौटते हैं उस समय का वर्णन बड़ा ही करुण और वास्तविक बन पड़ा है। घोड़ों को देखकर ऐसा लगता है मानो राम को वन में छोड़ने से उन्होंने अपना सब-कुछ खो दिया है। वास्तव में, नर-नारी सभी

दुःख से व्याकुल हैं। मैं नहीं समझता कि इस प्रकार की घटनाओं का ऐसा विचित्र और सजीव चित्रण कहीं और किसी कवि ने किया है, किन्तु तुलसीदास की कृतियों में काव्य-गुणों के अतिरिक्त भक्ति-भावना का मूर्त रूप है और इस महान कलाकार-भक्त अथवा भक्त-कलाकार के प्रत्येक शब्द तथा वाक्य से भक्ति-भावना टपकती है। कितना अच्छा होता यदि रामायण का अध्ययन हमारे तथाकथित शिक्षित लोगों में भी उतना ही लोकप्रिय होता जितना यह तथाकथित ग्रामीण जनता में लोकप्रिय है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि यह एक ऐसी देन है जिसने भारत को जिन्दा रखा है और यदि भविष्य में हमें इस तरह कुछ करने की आशा हो तो हमें उसके अर्थ और महत्व को कभी भूलना अथवा कम नहीं करना चाहिए।

—राजेंद्र प्रसाद

रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य भारतीय संस्कृति के आगार हैं जिनमें यह विरासत सुरक्षित है। हमारी सांस्कृतिक निधि भारत के गिरिगह्वरों और मंदिरों में भी आरक्षित है। अजन्ता और एलोरा की गुफाओं और भारत के मंदिरों की मूर्तियों में हम इसके दर्शन आज भी कर सकते हैं। इसीका वर्णन हमें इन पत्रों में मिलता है :

४–७–५६

बेटी ज्ञान,

आज मैंने एलोरा की गुफाएं देखीं। पहले भी दो वार मैंने यह स्थान देखा है। एक वार वहुत पहले, जव मैं कांग्रेस में था तव चालीसगांव के रास्ते से आया था; और दूसरी वार, राष्ट्रपति वनने के वाद औरंगावाद से आया।

यह जगह देखने योग्य है। यहां गुफाओं में तीन भाग हैं जो हिन्दुओं, वौद्धों और जैनियों ने वनवाये हैं। ये सव सातवीं शती (ईसा-पूर्व) की हैं। मैंने केवल तीन या चार गुफाएं देखीं जो सवसे अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं; वाकी की करीव-करीव उन्हीं के समान हैं। वौद्ध चैत्य, कैलास,



प्रथम राष्ट्रपति

अध्ययन



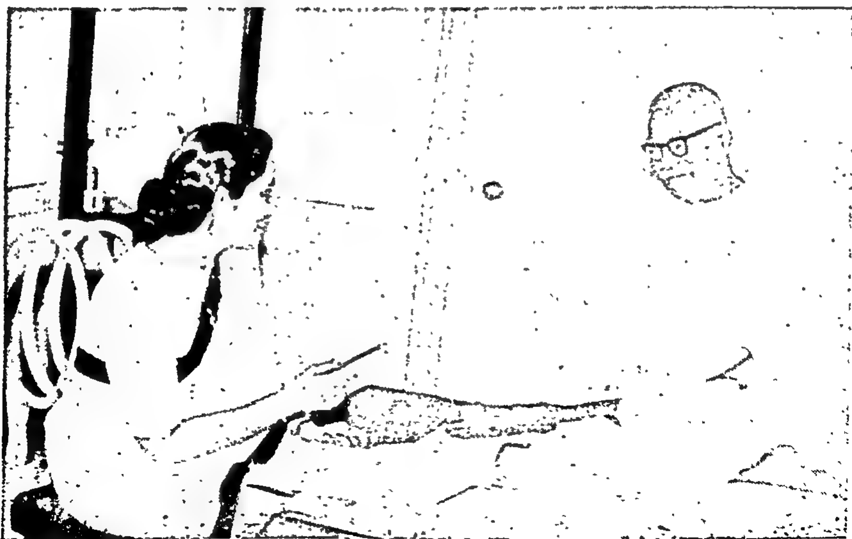
कताई :
दैनिक चर्या
का
अभिन्न अंग

सतत कर्मरत

सादगी की मूर्ति



व्यस्तताओं के बीच भी पत्र लिखना नहीं भूले



"मैं उनकी सदा ऋणी रहूंगी."

—ज्ञान

शिवमंदिर और जैन-गुफा—इन चार को मैंने देखा। जिस किसीने भी इनकी योजना बनाई और जिन्होंने उस योजना को कार्यान्वित किया, उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। हम आश्चर्य से सोचते ही रह गए कि इनको बनाने में न जाने कितना समय लगा होगा और कितने आदमी इसे बनाने में लगे होंगे। आज के मापदंड से इसे नापना भी गलत होगा, क्योंकि आधुनिक औजारों और साधनों की तुलना हम उस समय के औजारों से नहीं कर सकते, जबकि उन कारीगरों के पास केवल छैनी, गैंती और हथौड़े-जैसे औजार ही होते थे। इन औजारों के कुछ नमूने भी हमने देखे। मुझे यह सुनकर और भी अचरज हुआ कि इतना बड़ा निर्माण-कार्य बिना किसी पाट या ढांचे के सहारे किया गया, क्योंकि यह काम आज की तरह, नीचे से ऊपर की ओर न होकर, ऊपर से नीचे की ओर शुरू किया गया था। उन दिनों बारूद इत्यादि से चट्टानों को काटने के के उपायों की जानकारी लोगों को नहीं थी, लेकिन इतने बारीक कारीगरी के काम के लिए चट्टान काटने का काम तो किया ही जाता था। जो उपाय उन दिनों में कारगर ढंग से इस्तेमाल होता था, वह भी हमारी कला की कारीगरी का अद्भुत नमूना है। मैं तो सुनकर हैरान रह गया। मुझे बताया गया कि उन दिनों ऐसे काम के लिए पत्थर में सूराख करके उसमें सूखी लकड़ी घुसाई जाती थी और फिर सोखने के लिए उस खंभे को पानी में भिगोया जाता था। पानी की वजह से लकड़ी फूल जाती थी और लकड़ी के फूल उठने से पत्थर तोड़ना संभव होता था, हालांकि इसमें समय जरूर लगता था।

हमारे आज के इंजीनियर इन बातों की जानकारी के लिए यह अध्ययन करने की परवाह नहीं करते कि इन पुरानी इमारतों में कैसी सामग्री लगाई जाती थी जो शताब्दियों के समय और हर तरह के मौसम में भी मजबूती से खड़ी हैं और उनकी मरम्मत भी नहीं करनी पड़ी। आजकल तो हम केवल कागजों में यह देखते हैं कि इमारतों के लिए इतना चूना-मिट्टी-गारा-सीमेंट चाहिए। यह तो सौ-दो सौ साल के बाद ही पता चलेगा कि वे आंकड़े और अनुमान कहां तक सही उतरते हैं। पुरानी विधि और सामग्री के बारे में तो हमें ज्यादा मालूम नहीं, क्योंकि इसका अध्ययन ही नहीं

किया गया। यदि इसकी जानकारी किताबों में नहीं है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी जबानी ज्ञान हासिल हुआ है तब वह ज्ञान तो एक प्रकार से खो ही गया समझो। अभी भी हम समझते हैं कि इस मामले में छानबीन और खोज आवश्यक है।

—राजेंद्र प्रसाद

११-१-५६

बेटी ज्ञान,

मैं चालीस बरसों से बंबई आता-जाता रहा हूं और उन बरसों को छोड़कर, जब जेल में रहा, कोई साल शायद ही ऐसा गया हो जब एक बार से अधिक नहीं आया हूं। पर तो भी, आज ही मैं पहले-पहले एलिफेण्टा की गुफा में बनी मूर्तियों को देख सका। एलौरा में जैसे पहाड़ काटकर पूरा मंदिर और मंदिर के भीतर मूर्तियां बना दी गई हैं, उसी तरह यहां भी बहुत बड़ी-बड़ी मूर्तियां पहाड़ काटकर बनाई गई हैं और इसीलिए वे जहां-की-तहां आज भी मौजूद हैं। यद्यपि ये बहुत टूट-फूट गई हैं अथवा तोड़-फोड़ दी गई हैं। एक-एक मूर्ति १८ फुट तक ऊंची है और उसी अनुपात में उसके सब अंग बने हैं और बहुत तरह से तोड़ी-फोड़ी जाने के बाद भी ये सजीव और भावपूर्ण मालूम होती हैं। मूर्ति-पूजा के संबंध में मनुष्य का चाहे जो भी मत हो, कोई भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि ऐसी कलात्मक सृष्टि आसान चीज नहीं। जब हम यह याद करते हैं कि उन दिनों वे साधन—औजार-हथियार और कल-पुर्जे—यहां नहीं थे जो आज उपलब्ध हैं तब हमको उन कलाकारों की कला के प्रति श्रद्धा होती है। हमें यह देखकर अचरज होता है कि एकाग्रचित्त होकर ऐसी कृतियों का अपने हृदय या मस्तिष्क में निर्माण कर पीछे चट्टानों में उनको उतार देना कितना कठिन और कितने चिंतन तथा अभ्यास का काम होगा। आज उसकी रक्षा के लिए बंगाल के श्री शैलेंद्र सेन ने, जो हमारे मित्र श्री गिरीशचंद्र सेन के भांजे हैं, मुझसे सब बातें बताईं और कला की दृष्टि से जो रहस्यपूर्ण बातें थीं, कहीं। वास्तव में यह अद्भुत कला है। आज हम उसे मनुष्य के परिश्रम और बुद्धि का अपव्यय भले ही कहें, पर इसमें संदेह नहीं कि वह कला और

उस कला का निर्माण करनेवाली प्रवृत्ति ने ही भारत को भारत बनाया है और स्वयं उसके निर्माण में वह धर्म की भावना इस प्रकार से घुली-मिली है कि कला ही धर्म और धर्म ही कला बन गया है।

बाबूजी के आशीर्वाद !

—राजेंद्र प्रसाद

बाबूजी को अपनी संस्कृति पर गर्व था और अपनी चीजें उन्हें प्रिय थीं। भारत की आत्मा जिन चीजों में बसती थी, उन सबसे उनका लगाव था। भारत की सरल-सात्त्विक आत्मा से उन्हें प्यार था। उसके विशुद्ध रूप का वर्णन करते हुए उन्हें सदा खुशी होती थी। एक बार फ्रांस के मंत्री श्री मालरो भारत की यात्रा पर आये थे। बाबूजी को उनसे बातें करने में बड़ा आनंद आया, क्योंकि उन बातों का विषय भारत और भारत की संस्कृति था। उन्हें इस बात का अफसोस रहा कि राष्ट्रपति के सीमित समय और उसपर कठोर पाबन्दी के कारण उनकी दिलचस्प वार्ता का क्रम टूट गया। किंतु इस वार्तालाप का जो वर्णन बाबूजी ने अपने पत्र में किया है उससे भारतीय दर्शन और संस्कृति के साथ भारत की आत्मा के दर्शन होते हैं। नीचे वही पत्र प्रस्तुत है :

२८–११–५५

मेरी बेटी ज्ञान,

फ्रांस के मंत्री मालरो आज मुझसे मिले और उनसे कुछ दिलचस्प बातें हुईं। उन्होंने पूछा कि भारत की आत्मा को किस तरह समझा जाय और उसकी पकड़ कैसे हो? मैंने कहा कि किसी भी देश की आत्मा की पकड़ वहां की कला, संगीत, साहित्य इत्यादि द्वारा ही हो सकती है और वही भारत की भी बात है। पर आजकल हम एक संक्रमण-काल से गुजर रहे हैं। जब हम एक ओर आधुनिक विज्ञान और तकनीक में अपनी पिछड़ी हुई अवस्था को सुधार कर आगे बढ़ना चाहते हैं और दूसरी ओर अपने प्राचीन को भी छोड़ना नहीं चाहते, तो भी अधिक झुकाव आधुनिक चीजों की तरफ ही है।

शिक्षा के संबंध में भी मैंने कहा कि उसमें हेरफेर की जरूरत है क्योंकि जिस उद्देश्य और स्थिति के लिए प्रचलित प्रथा चलाई गई थी, उसमें बहुत परिवर्तन हो गया और इस परिवर्तन के अनुसार हम प्रथा में हेरफेर अभी नहीं कर पाये हैं। उन्होंने कहा कि यही स्थिति अन्य देशों में भी है। उन्होंने यह भी कहा कि भारतीय नृत्य, गान, वाद्य, चित्र आदि की प्रदर्शनी पश्चिम के देशों में हो तो लोग उत्साहपूर्वक उनको देखेंगे। राष्ट्रपति-भवन के एक कमरे में अजंता के एक चित्र की प्रतिलिपि लगी थी। उसे देखकर उन्होंने कहा कि यह अजंता का चित्र है। इन चित्रों का परिचय लोगों को थोड़े ही दिनों से मिला है, पर न मालूम कितनी हजार प्रतियां इनकी यूरोप में बिक गई हैं। मैंने कहा, इस देश में कुछ काल तक हम अपनी इन सभी चीजों को उपेक्षा की दृष्टि से देख रहे थे अथवा इनपर ध्यान ही नहीं दे रहे थे। अब हमने यह काम शुरू किया है और चारों ओर पुनर्जीवन तथा जागरण के चिह्न दीख रहे हैं। उन्होंने कहा, किसी भी देश की जनता वहां के उस वातावरण और सांस्कृतिक जलवायु में ओत-प्रोत रहती है और उसी संस्कृति के मौलिक सिद्धांत एक-न-एक रूप से उसके जीवन और मानस में आ जाते हैं। मैंने कहा, हमारे देश में एक खूबी रही है कि बड़े और जटिल प्रश्नों को भी बहुत सीधे और साधारण तरीकों से हल किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रारंभिक गणित को लीजिये। उसके ऐसे सीधे-सादे चुटकुले और नुसखे हैं जिनको बच्चे बिना परिश्रम के सीख लेते हैं और जो हिसाब कागज और स्लेट पर लिखकर मामूली तौर पर बनाये जाते हैं, वे जबानी जोड़ लेते हैं।

इसी तरह मनोविज्ञान और दर्शन के बड़े-बड़े और जटिल सिद्धांत आसानी से हमारे जीवन में घुसा दिये गए हैं। उन्होंने कहा था कि जैसे किसी आदमी को, जिसने गणित का अभ्यास किया ही नहीं है, एक बार कैलकुलस देखकर घबराहट हो सकती है; उसी तरह अनजान विषय के सामने आते ही आदमी घबरा जाता है। इसीपर मैंने कहा कि हमारे दार्शनिक सिद्धांत अनपढ़ लोग भी बहुत-कुछ जानते हैं यद्यपि वे उनको व्यक्त नहीं कर सकते। इस प्रकार की बातें होती रहीं। मुझे अफसोस रहा कि दूसरे काम के कारण वार्तालाप समाप्त कर देना पड़ा।

—राजेंद्र प्रसाद

जबतक शरीर में प्राण अथवा आत्मा का निवास होता है, शरीर में स्फूर्ति रहती है, रोम-रोम में जीवन बसता है। ठीक उसी तरह देश की आत्मा जबतक उस देश में बसती है, वहां के कण-कण में जीवन और हवा के हर झोंके में स्फूर्ति और प्रेरणा रमती है। बाबूजी ने अपने दूसरे पत्र में इस विचार को इस प्रकार स्पष्ट किया :

२६-११-५८

ज्ञान बेटी,

दिल्ली से प्रायः २० मील दूरी पर एक छोटा-सा कस्बा है जिसका नाम है गुरुगांव। वहां पर एक कालेज है जिसका नाम है : श्री द्रोणाचार्य सनातनधर्म महाविद्यालय। गांव और कालेज के नाम सार्थक हैं। मुझको इसका इतिहास आज बताया गया। गुरु द्रोणाचार्य ने पांडवों और कौरवों को यहीं पर शिक्षा दी थी। यहांपर एक तालाब है जिसके संबंध में जन-श्रुति है कि आचार्य के शिष्य शिक्षा समाप्त करने पर उसीमें स्नान किया करते थे। इस प्रकार गांव का नाम गुरुगांव और कालेज का नाम द्रोणाचार्य कालेज पड़ा। यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि हमारी प्रायः सभी महत्त्व-पूर्ण संस्थाएं, तीर्थस्थान, धार्मिक ग्रंथ आदि सबका संबंध रामायण, महा-भारत तथा किसी-न-किसी पौराणिक कथा के साथ होता है, चाहे हम उस कथा से परिचित हों या न हों, कोई-न-कोई संपर्क और संबंध जरूर मिल जाता है। इसीसे मालूम होता है कि ये बातें हमारे जीवन में किस प्रकार ओतप्रोत हो गई हैं। फ्रांस के मंत्री श्री मालरो मुझसे कल पूछते थे कि भारत की आत्मा का कैसे दर्शन हो सकता है? डा० राधाकृष्णन से भी उन्होंने यही प्रश्न किया था। उन्होंने उत्तर दिया कि इस देश की हवा सूंघने से, यहां के जीवन को समझने अथवा यहां के आश्रमों को देखने और समझने से यह दर्शन हो सकता है। बात सच्ची है। हम लोगों को भी, जो दावा करते हैं कि हम भारतीय हैं, यह दर्शन नहीं होता। इसमें भी अपनी प्रवृत्ति होनी चाहिए और अनुकूल मानस, तभी आदमी समझ सकता है।

—राजेंद्र प्रसाद

इन बातों को सुनकर और समझकर क्या हममें ऐसी प्रवृत्ति का उदय होगा ? और क्या हम अपना ऐसा मानस बनायेंगे जिससे अपने देश की संस्कृति और दर्शन को स्वयं समझ सकें और दूसरों को भी समझा सकें ? यदि ऐसा हो सके तो हमारे देश के मानस का वह भव्य रूप सामने आयेगा जिसमें भारतीय संस्कृति की आत्म-गरिमा जगमगा उठेगी और हमारे सारगर्भित दर्शन की गहराई तक जन-मानस पहुंच सकेगा। भारतीय संस्कृति की परंपरा तब स्वयं देश और विदेशों के बीच सेतु बन जायगी, इसमें संदेह नहीं।

भारतीय एकता

सप्तरंगी इन्द्रधनुष के रंगों में श्वेत रंग के समान विभिन्नताओं के बीच भारतीय एकता का श्वेत रंग शाश्वत है। अनंत काल से विविध रंगों के बीच भी यह अमिट और स्पष्ट है। इसीलिए भारतीय इतिहास के विद्यार्थी बरबस इस विषय की ओर आकर्षित होते हैं और इस रंग-बिरंगी मनमोहक और आकर्षक विविधता में छिपी अनोखी एकता के रहस्य को जानने और समझने का यत्न करते हैं।

भारत की यह विशेषता रही है कि अनेक बाह्य आक्रमणों के बावजूद वह अपनी सांस्कृतिक एकता को अपनी महिमा और गरिमा के साथ अक्षुण्ण रख सका है। ऐसे बहुत-से विरोधी तत्त्व हमें भारत के भूतकाल में पड़े मिलेंगे जो बाहर की हवा के साथ आये, किंतु यहां की मिट्टी में, लोगों की सामंजस्यता और सहिष्णुता के स्वभाव की वजह से, आत्मसात् हो गए। इन तत्त्वों के सामंजस्य ने इस एकता में ऐसे रंग भर दिये जिससे भारत के इतिहास का रूप और सुंदर बन गया। इसको देखकर सब चकित रह जाते हैं। यहांतक कि कोई भी इसका रूप-वर्णन, विविधता के उस विश्लेषण के बिना नहीं कर सकता जिसने युगों से भारत को विचारों की एकता और क्रियात्मक राष्ट्रीय दृढ़ता की ओर अग्रसर किया।

हमारे प्रथम राष्ट्रपति, राजेंद्रबाबू ने इस विषय का बहुत ही सुंदर और विशद विश्लेषण किया है। उन्होंने भारत के इस स्वरूप का ऐसा वर्णन किया है कि हमारे मन-प्राण आश्चर्य और देश-प्रेम की भावना से भर

उठते हैं। हमारे उस देश-रत्न नेता की स्मृतियों को मैं उन्हीं की कलम से पुनः सजीव कर रही हूं। यह उनके विचारों का, उन्हींकी तूलिका से, खींचा भारत का रेखाचित्र है जो सबके सामने है। अपने शब्दों में इतिहास की सचाई और एकता की दुहाई का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है :

२२-१२-५६

ज्ञान बेटी,

भारत एक सुनिश्चित भौगोलिक इकाई है जिसके उत्तर, उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व में ऊंचे पर्वतों की शृंखलाएं हैं और अन्य तीनों दिशाओं में समुद्र है। धर्म और संस्कृति के क्षेत्रों में भारत का प्रभाव सभी ओर इन प्राकृतिक सीमाओं को लांघकर दूर-दूर गया, किन्तु सीमाओं के भीतर भी देश ने ऐसी विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण सभ्यता का विकास किया जिसकी धारा आज भी प्रवाहित है और भारत के जनगण को एक सूत्र में पिरोये हुए है। यह गतिविधि राजनीतिक सत्ता और प्रभाव से एकदम अछूती थी, क्योंकि भारत राजनीतिक दृष्टि से एक इकाई कभी नहीं बन सका। इसी प्रकार भाषा और दूसरी बातों की दृष्टि से, जो सब मिलकर सामूहिक रूप से सभ्यता को जन्म देती हैं, भारत में सदा से विभिन्नता रही है। इस वैभिन्य के बीच और वास्तव में इसके बावजूद, एकता की भावना हमारे देश की सबसे बड़ी विचित्रता रही है, जिसका वास्तविक आधार था समाज के प्रत्येक अंग और राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र को निजी प्रतिभा, आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों के अनुसार अपना विकास करने की पूर्ण स्वतंत्रता। ये सब विभिन्न अंग पारस्परिक सहयोग तथा सहायता से अपने-आप ही नहीं पनपते रहे, बल्कि सार्वभौम राष्ट्रीय एकता को भी दृढ़ करते रहे हैं।

भारत ने जिस प्रभाव का प्रसार दूरस्थ देशों में किया वह अनन्य था, और वह ईसा की नवीं सदी तक अक्षुण्ण बना रहा है। यह बात नहीं कि उस समय तक भारत दूसरे देशों से एकदम अलग-अलग था। उससे पहले भी सदियों तक दूसरे देशों के साथ भारत का घनिष्ठ संबंध रहा है। उस संपर्क का प्रभाव यद्यपि गौण था, फिर भी इसके कारण उन देशों की परं-

परागत जीवनधारा में किसी प्रकार की प्रतिकूलता नहीं आई है। यह वाह्य प्रभाव स्थानीय परंपरा तथा विचारधारा में इस तरह आत्मसात् हो गया कि संवद्ध देशों की प्राचीन सभ्यता के चिह्न तक विलुप्त हो गए।

भारत में धर्म तथा सुधार-संवंधी जिन आन्दोलनों का जन्म हुआ उनका प्रभाव इतना व्यापक था कि वह देश की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रह सका। वौद्धधर्म का इतिहास इस दृष्टि से वहुत लंवा और गौरवपूर्ण रहा है। कालांतर में यह धर्म एशिया के दो-तिहाई से अधिक देशों का स्वीकृत धर्म वन गया और आज भी उन देशों के अधिकांश लोग वौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। भारत के सुधार-संवंधी आन्दोलनों का प्रभाव हिंदू धर्म तक ही सीमित रहा और चूंकि हिंदू धर्म अधिकतर भारत की सीमाओं में ही रहा, उनके आन्दोलनों का प्रभाव भी भारत से वाहर नहीं जा सका। किंतु इस सीमा के कारण इन आन्दोलनों का प्रभाव विचार, धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में कम गहरा तथा प्रभावशाली नहीं रहा है। इस्लाम का संपर्क हमारे देश के साथ नवीं शती में हुआ और जो प्रभाव उसने भारतीय जीवन और सभ्यता पर डाला है, वह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

भारतीय सभ्यता पर इस्लाम का प्रभाव दो प्रकार से पड़ा जो परस्पर-विरोधी होते हुए भी काफी असरकारक रहा है। एक ओर जहां हिंदुत्व और हिंदू सभ्यता पर इस्लाम की सैनिक शक्ति और धार्मिक कट्टरता की करारी चोट के कारण इस देश के धर्म और सभ्यता को रक्षात्मक नीति अपनानी पड़ी, दूसरी ओर इस प्रहार से वचने के लिए हिंदू धर्म और समाज ने असहयोग का जो रुख अपनाया, उससे समाज को पर्याप्त वल मिला। इस रुख के अनुसार हिंदू समाज ने इस्लामी सत्ता को स्वीकार करते हुए भी खान-पान, पारस्परिक विवाह-संवंध आदि सामाजिक वातों में मुसलमानों के साथ किसी प्रकार का सहयोग करने से इन्कार किया। परदे की प्रथा भी जो प्राचीन भारत में प्रचलित नहीं थी, हिंदुओं ने वास्तव में अपनी रक्षा की दृष्टि से अपनायी। इसका प्रमाण यह है कि उत्तर में जहां मुसलमानों का अधिक प्रभाव और जमाव था, इस प्रथा का देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक चलन हुआ। मध्य युग के नानक आदि संत भी इस्लाम की शिक्षा से प्रभावित हुए थे। कवीर पर भी, जो जन्म से मुसलमान किंतु

विचार-व्यवहार से हिंदू थे, इस्लामी विश्वासों और विचारधारा का कम प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरी ओर मुसलमानों की भी मान्यताएं और रीति-रिवाज हिंदू धर्म से प्रभावित हुए। सूफी मत का आधार बहुत हद तक हिंदू दर्शनशास्त्र अथवा वेदांत है, और सूफी मत को इस्लामी वेदांत कहा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहांतक धार्मिक मामलों का संबंध है, इस्लाम और हिंदू धर्म में इतना अधिक आदान-प्रदान हुआ है कि इन दोनों के बीच किसी प्रकार की कट्टरता अथवा कटुता की गुंजाइश नहीं है। भारत के लाखों-करोड़ों मुसलमान उन लोगों की सन्तानें हैं जो पहले हिंदू थे और बाद में मुसलमान हुए। ये लोग इस समय पक्के मुसलमान हैं, फिर भी अपने पूर्वजों को नहीं भूल सकते और इनमें से बहुतेरों ने अपने पारिवारिक रीति-रिवाजों और नामों को भी बनाये रखा है। हाल के कुछ वर्षों में ही कुछ मुस्लिम जातियों ने यह मांग की है कि संवैधानिक रूप से उनके विरासत के कानून को भी इस्लामी कानून के अनुरूप बनाया जाय।

भारत में अंग्रेजों के पदार्पण से यहां के रहन-सहन और लोगों की आदतों तथा मनोवृत्ति में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। उन लोगों के बारे में, जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण की, यह बात खास तौर से सही है, यद्यपि दूसरे लोग भी इसके प्रभाव से एकदम अछूते नहीं रहे हैं। बात अचंभे की है, पर बिल्कुल ठीक है कि वह प्रभाव अब अंग्रेजों के चले जाने के बाद पहले की अपेक्षा, जब वे यहां थे, कहीं अधिक गहरा पड़ रहा है। सब बातों को राष्ट्रीयता के ढांचे में ढालने के हमारे भरसक प्रयत्नों के बावजूद यह सब हो रहा है।

इस प्रकार हमारे सांस्कृतिक इंद्रधनुष में बहुत-से रंगों का मेल है। उनके कारण हमारी संस्कृति मिली-जुली और व्यापक हो सकी है और वह बाहर के बहुत से तत्त्वों को अपने अंदर खपाकर और अपने व्यक्तित्व को बराबर बनाये रखकर इन सबको आत्मसात् कर सकी है। एक स्थूल किंतु महत्त्वपूर्ण उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। अशोककालीन और उस समय से भी पहले के मिट्टी के बर्तन, आज तैयार होनेवाले मिट्टी के बर्तनों से बहुत भिन्न नहीं है।

यही वह विशेषता है जो एक भारतीय को यूरोप, अफ्रीका और अरब देशों के निवासियों से अलग करती है। सदियों तक भारत विदेशी आक्रमणों की चोट को सफलतापूर्वक सह सका है, जबकि ऐसे ही आक्रमणों के सामने इन आक्रांता देशों की सभ्यताएं धूलि-धूसरित हो लुप्तप्राय हो गई हैं। हमारी शक्ति का यही सबसे बड़ा प्रमाण है और इस परंपरागत शक्ति के स्रोत को हमें समझना चाहिए और उसका अध्ययन कर इसमें जो कुछ भी सुरक्षित रखने योग्य तत्त्व हों, उन्हें अक्षय बनाये रखने का यत्न करना चाहिए।

—राजेंद्र प्रसाद

२६–११–५८

ज्ञान बिटिया,

हमारे पूर्वज किस तरह वाणिज्य-व्यापार और धर्म-प्रचार के लिए विदेशों में गये, वह इतिहास की अत्यंत आश्चर्यजनक घटनाओं की कहानी है। हम जापान देख आये कि किस तरह वहां आज भी भारत के प्रति भक्ति-भाव बहुत हृदयों में जाग्रत है और उसका मूल बौद्धधर्म-प्रचारकों के जीवन और तपस्या में है। अब हम इंदोनेशिया जा रहे हैं। वहां तो प्रायः आठ-नौ सौ बरसों तक भारतीयों का धर्म ही प्रचलित नहीं रहा, उनका राज्य भी था और आज भी उस समय के अनेकानेक स्थापत्य के उदाहरण और उस समय की कला और भाषा का प्रभाव वहां देखने में आयेगा। यह कैसे हुआ, जब समुद्री यात्रा एक मुहिम थी और धर्म-प्रचार खतरे से खाली नहीं था? इसके अलावा केवल ऊपरी प्रभाव ही नहीं पड़ा, वहां के सारे जीवन में उलट-फेर पैदा हो गया और यहांतक कि उनके नाम भी बहुत करके संस्कृत शब्दों से बने हैं। मलाया की भी वही हालत है, यद्यपि वहां भी जनसंख्या बहुत करके मुसलमान है। मैं देखता था कि वहां के शासक 'राजा' कहलाते हैं यद्यपि उसके साथ 'सुलतान' शब्द भी जुड़ा होता है। पर आश्चर्य की एक बात है—रानी को भी राजा कहा जाता है और एक महारानी का नाम है राजा परमेसुरी (परमेश्वरी)। वहां जाने पर और भी अच्छी-अच्छी बातें सुनने और जानने को मिलेंगी।

हमारी जापान-यात्रा की फिल्म बहुत अच्छी बनी है। मुझे पसंद आई।

—राजेंद्र प्रसाद

१२-४-६१

चिरंजीव ज्ञान,

आज जालंधर में मुझे दो बार बोलना पड़ा। पहले तो दयानंद एंग्लो-वैदिक कालेज के पुरस्कार-वितरण समारोह में और दूसरी बार एक सार्वजनिक सभा में। पहला भाषण तो लिखित था, और जैसा हमेशा होता है सारगर्भित था, पर जोशीला नहीं था। पिछला भाषण, जो लिखित नहीं था, सचमुच ही भाषण था और बहुत करके समारोह से प्रभावित था। मैं समझता हूं कि इस प्रकार का जोरदार भाषण मैंने बहुत दिनों से नहीं दिया होगा। कारण यह था कि मैं पंजाब में बोल रहा था। लोगों ने पुरानी बातों का जिक्र किया था और मैं भूल नहीं सकता था कि कल ही जलियांवाला बाग में स्मारक-उद्घाटन के अवसर पर भाषण देना है। फल यह हुआ कि पिछले ४२ बरसों के इतिहास का स्मरण जाग्रत हो गया और मैंने जोरों से कहा कि जो आजादी इतनी कुरबानी के बाद मिली है, उसे सुरक्षित रखने के लिए देश में एकता आवश्यक है क्योंकि उसके अभाव में हमारा इतिहास बताता है, हमने कई बार आजादी खोई है। विषय यही था पर शायद कहने के समय कुछ ओज आ गया था। जो हो, मैं बहुत खुश हुआ और दूसरों ने भी कहा कि वह संग्राम के दिनों के भाषणों के जोड़ का था।

—राजेंद्र प्रसाद

२-११-६०

बेटी ज्ञान,

भारत में स्काउट-आंदोलन बहुत दिनों से चल रहा है। आज इसकी नेशनल कौंसिल के सदस्य और डेलीगेट्स मुझसे मिलने आये। मैंने उनसे कहा कि इस आंदोलन के साथ मेरी सहानुभूति दो कारणों से विशेष रूप से रही है, और मैं चाहता हूं कि उन दोनों बातों पर बराबर जोर दिया जाता

चाहिए और प्रत्येक सदस्य को उनको पूरा करना अपना सबसे बड़ा कर्तव्य मानना चाहिए। यह है एक तो सारे भारत के साथ प्रेम और देशहित को, सभी अन्य किसी छोटे गिरोह अथवा छोटे सूबे या प्रांत के मुकाबले, तरजीह दी जानी चाहिए। यह भावना आज इसलिए अधिक जरूरी हो गई है क्योंकि बहुत प्रांतों में हम उसे भूल जाते हैं। उदाहरणार्थ, भाषा के प्रश्न को लिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा। देश की एकता को ध्यान से इतना दूर कर दिया जाता है कि देश टुकड़े-टुकड़े भी हो जाय, पर हमारी भाषा का स्थान सुरक्षित रहना चाहिए, ऐसी भावना बहुतों की हो जाती है। दूसरी चीज यह है कि हममें डिसिप्लिन की बहुत कमी हो गई है और सभी जगहों और सभी स्तर के लोगों में उसकी भारी कमी देखी जाती है। स्काउट-आंदोलन इन दोनों चीजों पर जोर देता है। इसीलिए मैं उसको महत्त्व देता हूं। मैंने आशा व्यक्त की कि इन दोनों उद्देश्यों को स्काउट कभी नहीं भूलें।

—राजेंद्र प्रसाद

•

१०–११–६०

चि० बेटी शान,

भारतवर्ष में प्राचीन काल में लोग पहाड़ों पर, विशेष करके हिमालय में खूब पर्वतारोहण किया करते होंगे। यदि ऐसा नहीं होता तो चोटियों के अलग-अलग नाम और उनका ठीक स्थान तथा वहां तक पहुंचने के रास्ते लोग नहीं जान सकते थे। बदरीनाथ-जैसा तीर्थस्थान तो शायद बिना गये कायम ही नहीं होता। कैलास का जिक्र तो न मालूम कितने स्थानों में आया होगा और शिव-पार्वती की सारी कथा हिमालय से ही संबद्ध है। अब हाल में तीर्थाटन की भावना छोड़कर पर्वतारोहण में लोग दिलचस्पी लेने लगे हैं। और इसमें शक नहीं कि योरोपीय यात्रियों ने इसमें लोगों की दिलचस्पी पैदा करने में बड़ी सहायता की है। अब तो पर्वतारोही लोगों की संस्था भी बन गई है जो पहाड़ी सफर में क्या करना चाहिए, इत्यादि का, और यात्रा करने में प्रोत्साहन देने का, काम करती है। आज एक दल १८ आदमियों का मुझसे मिलने आया जो हाल में नंदाघूंटी चोटी पर चढ़-

कर लौटा है। इन १८ में ११ साधारण श्रेणी के नवयुवक थे और वाकी ७ शेरपा जाति के थे, जिनका पहाड़ों पर वोझ ढोना और यात्रियों को सहायता देने का ही काम है। इस चोटी पर एक रास्ता पूरब की ओर से है जिसपर लोगों ने पहले चढ़ने का प्रयत्न किया है। पर इस टोली के लोग जोशी मठ की ओर से एक रास्ता ढूंढ़कर ऊपर तक गये थे। चोटी की ऊंचाई २०६०० फीट की है। इन लोगों ने ऊपर जाने के लिए तीन पड़ाव वनाये थे जिनमें सबसे ऊपरवाली ऊंचाई १८००० फीट थी। सब लोग वंगाली हैं और अभी युवक हैं। वड़े उत्साह और साहस के साथ इन्होंने यह चढ़ाई की और सफल रहे। हमारे लोगों में इस प्रकार का साहस और उत्साह का पैदा होना वहुत ही सुखद और प्रोत्साहन देनेवाली घटना है।

—राजेंद्र प्रसाद

१३-८-६०

वेटी ज्ञान,

हम एकता की वातें और दुनिया के विभिन्न भागों में ही नहीं, स्वयं अपने देश के विभिन्न भागों में आपसी संपर्क वनाने के संबंध में सोचने के वजाय विभिन्नताओं और विभेदों के वारे में अधिक सोचते हैं। उस दिन कोयम्वतूर में मैंने परमदेव रामकृष्ण परमहंस के एक भक्त द्वारा संचालित संस्था के कार्यक्रम में हिस्सा लिया। उस अवसर पर मैंने उत्तर और दक्षिण के ऐसे संतों और अवतारी पुरुषों के वीच पारस्परिक आदान-प्रदान और संपर्क वढ़ाने की ओर ध्यान आकर्षित किया था। आज फिर एक वार वही वात मेरे सामने आई।

आज मैंने मद्रास में शृंगेरी के जगद्गुरु शंकराचार्य के दर्शन किये। कल जन्माष्टमी के दिन, मैं शायद मद्रास में ही स्थित गांधीधाम के दर्शन के लिए जाऊं। क्या ये दो संस्थाएं उत्तर और दक्षिण के वीच पारस्परिक संपर्क और मेल की ओर इशारा नहीं करेंगी? इसी तरह के और भी उदाहरण मिल सकते हैं। किंतु एक फारसी कहावत 'इशारा आकलां रा काफीस्त' के अनुसार अक्लमंद को इशारा काफी होना चाहिए। लेकिन

क्या हम हमेशा अक्लमंद रहते हैं ?

—राजेंद्र प्रसाद

५–११–६०

ज्ञान बेटी,

यह बहुत बड़ा देश है जिसमें अनेक भाषाएँ प्रचलित हैं और अनेक धर्म और संप्रदाय चलते हैं। लोगों के रहन-सहन में भी बहुत फर्क है। और प्राकृतिक विभिन्नता तो है ही, जैसे जलवायु सरदी-गरमी बहुत, इस ओर अल्प वर्षा इत्यादि। इन अनेकानेक विभिन्नताओं के बावजूद इस देश को उत्तर हिमालय से लेकर दक्षिण कन्याकुमारी तक और पूर्व में जगन्नाथ पुरी से लेकर द्वारकापुरी तक एक बंधन रहा है जो इसे बराबर बांधे रहा है। वह बंधन है धार्मिक और सांस्कृतिक, जिसमें विभिन्नता के लिए पूरा अवकाश और खुला मैदान बराबर मिलता रहा है। इस देश में राजनीतिक और शासनिक एकता कभी नहीं थी। जो कुछ एकता कभी किसी चक्रवर्ती राजा अथवा बादशाह के समय में देखने में आई थी तो वह बहुत सीमित हुआ करती थी—प्रायः बराय नाम के ही एकता हुआ करती थी। प्रशासनिक एकता कभी ऐसी नहीं थी कि सारा देश एक सूत्र में बंधा हो जैसा आज बंध गया है। इसलिए आज यह एक बड़ी देन है इस युग की, कि हम एक संविधान और एक प्रशासन के अधीन सारे देश को पाते हैं। पर यह बंधन अभी उतना गठित और मजबूत नहीं हुआ और जो पुराने बंधन थे, वे एक-एक करके ढीले पड़ते जा रहे हैं। ऐसी अवस्था में यह एक बड़ा प्रश्न है कि हम प्राचीन बंधन को दृढ़ बनावें और नये प्रशासनिक और संवैधानिक बंधन को भी दिन-प्रतिदिन दृढ़तर बनाते जायें। अभी जहां-तहां कुछ ऐसे आसार भी दीखते हैं कि देश में अलग होने तक की तैयारी कहीं-कहीं है। यद्यपि यह मांग एक अत्यंत छोटे भाग ने—नागाओं ने—की है, पर हमें इससे संतोष मानकर निश्चित नहीं होना चाहिए कि अन्यत्र से यह मांग आवेगी ही नहीं। मिसाल के तौर पर हम द्रविड़ मुनेत्र कषगम के कार्यक्रम पर ध्यान दें तो वह नागाओं के कार्यक्रम से बहुत मिलता-जुलता है, केवल अभी उसमें इतनी शक्ति नहीं आई है कि वह

उपद्रव आरंभ कर दे। तो भी जहांतक वे कर सकते हैं, बाज़ नहीं आते। क्या कोई विश्वासपूर्वक कह सकता है कि उनसे कुछ दूसरे लोगों को भी सहानुभूति नहीं है? हो सकता है कि जब कुछ ताकत आ जाय तो दूसरे भी खुलकर उनका साथ दें। इसलिए स्थिति बहुत ही चिंताजनक है और अभी से इसकी रोकथाम दूरदर्शितापूर्वक होनी चाहिए।

—राजेंद्र प्रसाद

इस तरह की अक्लमंदी जिसका जिक्र पीछे किया गया है उसकी ओर इशारा करते हुए राजेंद्रबाबू ने सद्भाव और समभाव की एक और मिसाल दी है जो इस पत्र में देखने को मिलती है। हमारे संविधान में भारत को एक 'सैक्यूलर स्टेट' अर्थात् धर्मनिरपेक्ष राज्य माना गया है। बाबूजी के विचार से सैक्यूलर का अर्थ 'सब धर्मों का समन्वय' होना चाहिए था, न कि धर्मनिरपेक्षता। इस संबंध में उन्होंने लिखा है :

२१-५-६१

चि० ज्ञान बेटी,

भारत में अनेक धर्म प्रचलित हैं। अतीत काल से यहां की विचार-धारा को प्रतिष्ठा मिली है। यही कारण है कि ये षड्दर्शन तैयार हो गए और चार्वाक-जैसे एक पक्के नास्तिक को भी ऋषि का स्थान मिला जो अन्य तपस्वी ऋषियों को मिला था। यही कारण है कि अर्वाचीन समय में भी सनातनधर्म की अनेकानेक शाखाएं हो गई हैं। मोटे तौर पर मूर्ति-पूजक और मूर्ति-पूजन के विरोधी—दोनों ही समान रूप से हिंदू हैं। इस-लिए धर्म की पृथक्ता भारत के लिए और हिंदुओं के लिए कोई नई चीज नहीं है। यह भी कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि धर्म की विभिन्नता के कारण उत्पन्न संघर्षों को जिस हद तक हिंदू बर्दाश्त कर सका है, दूसरी कोई कौम शायद ही कर सकी हो। जब यहां ऐसी परम्परा रही है तब धार्मिक विभिन्नता के कारण वैमनस्य क्यों होता है, और यदि होता है तो उसे कैसे रोका जा सकता है? हमारे संविधान में सबको अपने-अपने धर्म

को मानने और वर्तने की पूरी आजादी दी गई है। तो सवाल इतना ही रह जाता है कि संविधान की इन शर्तों को कैसे पूरी तरह से अमल में लाया जाय? हम लोग जब से स्वतंत्र हुए हैं, जोरों से कहते आये हैं कि हमारा स्टेट एक 'सेक्यूलर स्टेट' है, जहां अपने धर्म पर कायम रहने की पूरी स्वतंत्रता सबको दी गई है। यह शब्द 'सेक्यूलर' कहीं व्यवहृत नहीं हुआ है। हिंदीवालों ने इस शब्द का उल्था 'धर्म-निरपेक्ष' किया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि मामूली तौर पर यह माना जाने लगा है कि भारत का संविधान किसी धर्म को मानता ही नहीं है और इस प्रकार सभी धर्मों से श्रद्धा उठती जा रही है। मैं मानता हूं कि जिन लोगों ने इस अंग्रेजी शब्द 'सेक्यूलर' का उपयोग किया, उन्होंने सब धर्मों के प्रति समान भाव रखने का, न कि समान विरोध अथवा उपेक्षा रखने का, विचार रखा था। इस तरह अधर्म को प्रोत्साहन मिलने लगा। कितना अच्छा होता कि महात्मा गांधी के शब्दों में 'सर्वधर्म-समानत्व' पर जोर दिया जाता, न कि सर्वधर्म के प्रति उपेक्षा पर। अभी भी समय है, यदि विचारधारा वदल दी जाय तो काम ठीक हो जायगा।

—राजेंद्र प्रसाद

पर्व और त्योहार

हमारे पर्वों और त्योहारों का संवंध प्रायः सभी चिन्तकों ने भारतीय संस्कृति से जोड़ा है। त्योहारों की यह व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं, धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से भी ठीक है। अवतारों और महापुरुषों के जन्म-दिन मनाने की प्रथा सभी देशों और समाजों में है। इन अवसरों पर प्रायः इन महापुरुषों की शिक्षाओं का स्मरण किया जाता है और उनके प्रति श्रद्धा और आस्था प्रकट की जाती है।

राजेंद्रवावू यह समझते थे कि हमारी सवसे वड़ी विशेपता ऐसे पर्व हैं जो एक ओर ऋतुओं और कालविशेषों का महत्व दर्शाते हैं और दूसरी ओर मानव की सामयिक भावनाओं को अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करते हैं। इसलिए कुछ पर्वो का संवंध फसलों और विशेप खाद्यों से है जैसे कि मकरसंक्रांति, पोला, आण्णम आदि; और दूसरी ओर रक्षावंधन, होली,

राजेन्द्रबाबू की हस्तलिपि

प्रिय कृष्णचन्द्रजी

[illegible]

भारत में अनेक धर्म प्रचलित हैं। [illegible]

[illegible]

મો. ક.
૩૧-૮-૨૧

दिवाली और विजयादशमी-जैसे पर्व हमारी सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं के प्रतीक हैं।

संस्कृति के विकास का उनका गहन अध्ययन, उन्हें सहज ही इन त्यौहारों और पर्वों को प्रचलित प्रथाओं की शृंखला की लड़ी के रूप में देखने को वाध्य कर देता था। इन सव पर्वों की उपयोगिता में उन्हें विश्वास था और हर पर्व को वह समुचित ढंग से मनाने का यत्न भी करते थे। वावूजी की एक विशेषता यह थी कि केवल हिंदू धर्म से संवंधित पर्वों तक ही उनकी दिलचस्पी सीमित नहीं थी; ईसाइयों, मुसलमानों, सिक्खों आदि के त्यौहारों को भी वे मूल्यवान समझते थे और उनके महत्त्व को स्वीकार करते थे। राष्ट्रपति-भवन में रहते हुए उन्होंने 'ईद' और 'वड़ा दिन' सदा ही मनाया। इन विचारों के वह कितने निकट थे, इसका प्रमाण इसी वात से मिल जाता है कि अपने पत्रों में भी उन्होंने इस वारे में चर्चा की है। कुछ पत्र इस प्रकार हैं :

६–९–५८

चि० ज्ञान,

आज जन्माष्टमी का शुभ दिन है। इस दिन कितने विचार उठने चाहिए, कितनी प्रतिज्ञाएँ अपने दिल से करनी चाहिएं और भगवान श्री-कृष्ण के प्रति कितनी भक्ति-भावना जाग्रत होनी चाहिए, यह कहने की वात नहीं, निजी अनुभव और संसार की वात है। हम लोग वाजाब्ते व्रत कर लेते हैं। मंदिर में जाकर दर्शन कर लेते हैं और मैं तो गीता-पाठ भी, विशेष करके आदि से अन्त तक, कर लेता हूं। पर इन सव वाहरी वातों का हृदय पर और चरित्र पर क्या असर पड़ता है, यह तो अपना हृदय ही जानता है। मैं मानता हूं कि वहुत-सी वातें जो केवल कायदे के ख़याल से अथवा औपचारिक और रस्मी तौर से की जाती हैं उनका भी असर पड़े विना नहीं रहता, विशेष करके जव वे वरावर की जाती हैं। इसीलिए जप किया जाता है और समय पर प्रार्थना अथवा पूजा-पाठ की विधि है। आज मैं 'लाइट आफ एशिया' पढ़ रहा था। उसमें देखा कि जव शुद्धोदन के विवाह की वात उठी और स्वयंवर के लिए कन्याएं इकट्ठी हुईं और एक-एक

फारके उनके सामने से गुजरीं तो किसीपर न तो उनकी निगाह गई और न किसीके प्रति उनके चेहरे पर बल पड़ा। जब यशोधरा सामने आयीं, तो बुद्धदेव ने स्वयं यह कैफियत दी :

एंड हाउ—एट सडन साइट ऑफ हर—ही चेंज्ड,
एंड हाउ शी गेज्ड ऑन हिम एंड ही ऑन हर,
एंड आफ द ज्वैल गिफ्ट, एंड व्हाट बीसाइड
पास्ड इन देअर स्पीकिंग ग्लांस,
लो ! ऐज हिड सीड शूट्स आफ्टर रेन्सलैस ईयर्स
सो गुड एंड ईविल, पेंस एंड प्लैजर्स, हेट्स
एंड लव्स, एंड आल डैड डीड्स, कम फॉर द अगेन
बेअरिंग ब्राइट लीव्ज़ ओर डार्क, स्वीट फ्रूट ओर सावर,
दस आई वाज़ ही एंड शी यशोधरा
एंड व्हाइल द व्हील ऑफ वर्थ एंड डैथ टर्न्स राउण्ड
दैट व्हिच हैव बीन मस्ट बी बिटवीन अस टू."[१]

---

१. और जैसे ही वह सामने आयी—
पहले ही दृष्टिपात में वह खो गया,
दोनों ठगे से एक-दूसरे को देखते रह गये,
आंखों-आंखों में ही बातें हुईं,
और वे एक-दूसरे के हो गये !
ओह, जैसे वर्षों की सूखी धरती में
छिपे बीज अचानक अंकुरित हो उठते हैं,
इसी तरह सुख-दुःख, घृणा-प्यार,
अच्छाई और बुराई, सभी पूर्व कर्म
अनायास ही उभर आते हैं,
और मीठे-कड़वे फल भी साथ लाते हैं !
इसी तरह जीवन-मृत्यु का चक्र चलता रहता है,
वियोग और मिलन के इसी चक्र में घूमते
आज मैं और यशोधरा भी यहां आ मिले !
जन्म-जन्म के इस संबंध को हमने पहचाना,
मैं वही था और वह सामने खड़ी यशोधरा थी !

और पीछे विस्तारपूर्वक पूर्व जन्म की कथा भी वताई। क्या यह सब सच हो सकता है! संस्कार तो रह जाता है, पर क्या इस तरह का सम्बन्ध भी रह जाता है? पुनर्जन्म में कितनी वातें निहित हैं, कौन कह सकता है! क्या कृष्ण-जन्माष्टमी से हम कुछ सवक सीख सकते हैं?

—राजेंद्र प्रसाद

२५-१२-५७

प्रिय ज्ञान,

आज क्रिसमस का बड़ा दिन है। आज के दिन सहज ही हमारा ध्यान ईशु क्रिस्त के उस सदुपदेश और सीख की ओर जाता है जिसे जीवन में ग्रहण करने के लिए उन्होंने मनुष्य को सलाह दी है। उनकी सवसे वड़ी सीख यह है कि यदि कोई तुम्हें दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम अपना वायां गाल भी उसके सामने कर दो। वड़े-वड़े वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण जो विध्वंस संसार में हो रहा है या जिस विनाश का भय वना हुआ है, उसकी ओर ध्यान खींचते हुए प्रमुख व्यक्तियों ने और पोप ने भी लोगों से ईशु क्रिस्त के संदेश को याद करने और ग्रहण करने की अपील की है।

मानव ने प्राकृतिक शक्तियों पर विजय पायी है। वह पृथ्वी की दूरी को लगभग समाप्त कर सका है और ऐसी मशीनें तैयार कर सका है जिनका कोई वचाव नहीं है। यह विचार आज के दिन वरवस आये विना नहीं रहता कि केवल स्वयं को छोड़कर मनुष्य ने सभी-कुछ जीतने का यत्न किया है और उसमें सफल भी हुआ है। उसने प्रकृति के रहस्य और छिपे साधनों को खोज निकाला है, लेकिन अपने ही हृदय और मस्तिष्क के एक कोने में छिपी कमजोरी को न वह देख सका है और न ही समझ सका है। स्वभावत: हमारे सामने प्रश्न उठता है कि क्या इस ज्ञान और समझ के विना ये आविष्कार और विज्ञान की ऊंची उड़ानें तथा सफलताएं कोई मायने रखती हैं? हम अपनी कमजोरी की तो क्या कहें! कोई भी वुद्धिमान् आदमी घातक छुरी अथवा जलती हुई मशाल, घासफूस की झोंपड़ी में घूमते हुए वंदर के समान एक पागल मनुष्य के हाथ में नहीं देगा। तिसपर भी संसार के वड़े-वड़े मस्तिष्क न केवल इन शस्त्रों को वनाने और चिनगारियों को

जलाने में लगे हैं, बल्कि उन्होंने सत्ता से मदोन्मत्त और शक्तिशाली लोगों के हाथों में इन्हें रख भी दिया है। केवल ईश्वर ही हमें इससे बचा सकता है। आज के दिन मेरी यही प्रार्थना है!

—राजेंद्र प्रसाद

२५-१२-५८

मेरी बेटी ज्ञान,

कई बरसों से तुम मेरे साथ काम करती आ रही हो। सुबह से शाम तक मुझे काम करते देखती हो और स्वयं दफ्तर में बैठकर या मेरे साथ काम करती हो। सफर में भी मेरे साथ बराबर जाती हो। इतना साथ तो शायद मेरे लड़कों अथवा पोते-पोतियों को भी नहीं मिला। लड़के जब लड़के थे तो मैं घर से बाहर घूमता-फिरता रहा, उनकी देखभाल और पालन-पोषण मेरे भाई ने किया। सयाने होने पर वे अपने-अपने काम में लग गए और मैं अपने काम में, चाहे वह स्वराज-आंदोलन का काम था या आज की तरह गवर्नमेंट का काम। पोते-पोतियों को कुछ अधिक अवसर मिला, पर मेरा अपना मिजाज ऐसा है कि मैं किसीको साथ रखकर पढ़ाना-बुझाना नहीं जानता और न कर सकता। इसलिए तुमको भी कभी कुछ पढ़ाने-सिखाने या बुझाने का काम नहीं किया, और न अन्य किसीके साथ किया। पर तुम जब मेरे पास काम करने आई तो खुद पढ़-लिखकर होशियार हो गई थीं; तुम कुछ सीखने-पढ़ने नहीं बल्कि काम करने आई। उस काम के दर्मियान अगर तुम कुछ जानना-समझना चाहती होगी तो जान-समझ गई होगी। क्या तुमने कुछ मेरे जीवन और रहन-सहन, भाषण व लेखों से सीखा है? क्या उनमें तुमको कुछ रस मिला है और कुछ सीखने की बात मिली है? मैं चाहूंगा कि अगर कुछ जानने-सीखने योग्य है तो उसे स्वयं सीख और जान लो। मनुष्य के जीवन का कोई ठिकाना नहीं है—न मेरे, न तुम्हारे। इसलिए समय का अच्छा उपयोग होना चाहिए। मैं अपने जीवन का यही उद्देश्य मानता आया हूं कि अगर मुझसे किसीका भला न हो सके तो न हो, परंतु ईश्वर न करे कि मेरे द्वारा किसीका बुरा हो। मालूम नहीं, इसमें कहांतक सफल हुआ हूं या हो सकूंगा, पर इसमें

संदेह नहीं कि उद्देश्य अच्छा और ऊंचा है। सीखने और साधने योग्य है। आज बड़ा दिन[1] है। यही इस दिन का संदेश है।

बाबूजी का आशीर्वाद !

—राजेंद्र प्रसाद

२३-१०-५८

बिटिया ज्ञान,

दिल्ली में रामलीला के लिए बहुत उत्साह देखने में आता है। मैं जब से यहां आया हूं और जब कभी दशहरे पर दिल्ली में रहा हूं, दो जगहों पर रामलीला में जाता रहा हूं। एक गांधी मैदान में और दूसरे लीला मैदान में। जो कमेटी गांधी मैदान में आयोजन किया करती थी उसमें मतभेद अथवा किसी और कारण से दो कमेटियां हो गई। एक ने किले के सामने लीला का आयोजन किया और दूसरी ने गांधी मैदान में। मुझसे कहा गया कि गांधी मैदान में जितने लोग जाना चाहते हैं, उनके लिए स्थान नहीं होता, इसलिए दो जगह लीला की जा रही है। जो हो, दो के बदले तीन स्थानों में इस बार लीला देखना था। दो जगहों में गया और तीसरी जगह में अभी जाना है। इस तरह एक के बदले इस बार दो दिनों में लीला देखना है। पर इस बार भीड़ कम नहीं है। नई जगह में भी वैसी ही भीड़ थी जैसी पहले हुआ करती थी। गांधी मैदान में भी जरूर वैसी ही भीड़ मिलेगी जब आज जाऊंगा। सुना है कि इसके अलावा और कितनी ही जगहों में दिल्ली में लीला हुआ करती है। कल कालीबाड़ी में मैंने सुना कि बंगाली लोग भी इसी तरह कई मुहल्लों में दुर्गा-पूजा करते हैं। कारण है कि बहुत दूर तक बच्चे और महिलाएं नहीं जा सकतीं। दिल्ली-नई दिल्ली बहुत दूर तक फैली हुई हैं। इसलिए कई स्थानों पर दुर्गापूजा, और उसी तरह उससे कहीं अधिक बड़े पैमाने पर रामलीला का आयोजन करना पड़ता है। इसमें बहुत खर्च होता है और यह सब चंदा से होता है। जनता को जीवन में धार्मिक प्रवृत्ति के प्रदर्शन का एक मौका मिलता है। इसके अलावा

---

१. बड़ा दिन 'क्रिसमस' को कहते हैं।

सांस्कृतिक उद्‌गार भी कुछ मूर्तरूप--चाहे वह उच्च प्रकार का न हो--धारण कर लेता है। जनता के लिए बहुत बड़े मनबहलाव का भी साधन होता है। पर मुझे सबसे अधिक इस बात की खुशी होती है कि आज के जमाने में भी जब सब बड़ी-छोटी चीजों के लिए लोग गवर्नमेंट का मुंह देखते हैं और हमेशा मदद मांगते रहते हैं, इतना बड़ा आयोजन लोग अपने खर्च, उत्साह और कौशल से कर लेते हैं। इसमें एक ही बात मुझे खटकती है जिसके लिए कुछ हद तक हम लोग भी जिम्मेदार हैं। प्रधानमंत्री, उप-राष्ट्रपति और मुझे बड़े आदर और आग्रह से बुलाया जाता है; और जब हम जाते हैं तो बड़ा सम्मान दिखलाया जाता है। कहीं-कहीं तो मालूम पड़ता है कि लीला से अधिक हम लोगों की ओर ही अधिक ध्यान जाता है। कमेटीवाले साथ में जितना मौका मिल सके, फोटो खिचवाना आवश्यक और अनिवार्य समझते हैं। इस तरह इसमें भी गवर्नमेंट की छाया लंबी और गहरी होती दीख पड़ती है। क्या इसे रोका नहीं जा सकता? क्या कम भी नहीं किया जा सकता? यदि सचमुच धार्मिक भावना है तो राम-लक्ष्मण-सीता के सामने दूसरे किसी को—चाहे वह राष्ट्रपति अथवा प्रधानमंत्री ही क्यों न हो—तरजीह देना बहुत बुरा है। क्या यह विचारणीय नहीं है कि हम इस प्रदर्शन में शरीक न हों?

—राजेंद्र प्रसाद

१९–१०–६०

प्रिय ज्ञान,

आज दिवाली है; रोशनी हो रही है। मैं भी कम-से-कम इस अहाते में जाकर भवन की रोशनी देखूंगा। दूर नहीं जाऊंगा, क्योंकि आज दिन-भर सिर-दर्द रहा है, अब नहीं है, इसीलिए इतना भी करना चाहता हूं।

अब हमारे सभी त्योहार आहिस्ता-आहिस्ता अपना महत्त्व और लोक-प्रियता खोते जा रहे हैं, ऐसा मुझे मालूम होता है। यदि मेरा विचार गलत है तो यह खुशी की बात होगी, क्योंकि इनका महत्त्व था और एक प्रकार से ये हमारी संस्कृति के द्योतक थे। समय के फेर से उनके रूप और अर्थ में भी अदल-बदल होता रहा होगा, पर जो हो, सबका मूल किसी-न-किसी

प्राचीन पौराणिक गाथा में ही मिलता है और वे नैतिक दृष्टिकोण से अपना स्थान और महत्त्व रखते हैं। आज नई चीजें और साधन उपलब्ध हैं जिनसे इनके रूप और व्यवहार में बहुत अंतर पड़ता जा रहा है और पड़ेगा। जो हो, इसमें सुधार की जरूरत है तो समयानुसार वह भी अवश्य होना चाहिए; पर इनको जड़-मूल से उखाड़ फेंकना अच्छा नहीं होगा। केवल इसी देश में नहीं, प्रायः सभी देशों में इस प्रकार की संस्थाएं और पर्व प्रचलित हैं। हम आधुनिकता की दौड़ में उन्हें न भूलें, मेरी यही इच्छा है।

—राजेंद्र प्रसाद

२१–१०–६०

बेटी ज्ञान,

दिवाली के दो दिनों बाद 'भ्रातृ-द्वितीया' अथवा 'भैया-दूज' का पर्व आता है। उसे बिहार में कायस्थ लोग 'दावात-पूजा' के नाम से पुकारते हैं। उस दिन वहां के लोग सरस्वती की पूजा के साथ-साथ कलम-दावात इत्यादि की भी पूजा करते हैं। कायस्थों में यह बड़ा पर्व माना जाता है और जब मैं दिल्ली आया तो मैंने देखा कि यहां के कायस्थ भी इस पर्व को मानते हैं। बिहार में इस दिन कायस्थ कलम की पूजा करते हैं इसलिए लिखते नहीं। कोई-कोई पूजा के पहले नहीं लिखते और जब पूजा हो जाती है तब फिर लिखने लगते हैं। हमारे घर में चाल थी कि पूजा के पहले लिखते थे और पूजा के समय जब एक बार पूजा के लिए कलम को धो-धाकर साफ कर लेते थे तब पूजा करते थे, और उसके बाद उस दिन नहीं लिखते थे। दूसरे दिन सवेरे फिर कलम को पूजा-स्थान अथवा बरतन से लेकर लिखना शुरू करते थे। पहले देवी-देवता के प्रति नमस्कार, इत्यादि लिखने के बाद और सब काम करते थे। अब तो बहुत बातें छूटती जाती हैं और विशेषकर ऐसी बातें जो जाति-पांति को बताती अथवा बढ़ावा देती हैं, छोड़ना ठीक भी है। पर इस प्रकार की पूजा यदि इनमें से जाति-पांति की बात निकाल दी जाय, तो कुछ बुरी नहीं है और साल में एक दिन न लिखा जाय तो वह भी कुछ बुरा नहीं है। इसलिए मैं एक दिन की लिखने से छुट्टी लेना बुरा नहीं मानता। पूजा इत्यादि तो मैं अब कम ही करता हूं,

पर छुट्टी मनाता हूं। कल वह दिन है और नहीं लिखूंगा।

एक बात और लिखने योग्य है। हमारे पर्व अक्सर एक ही दिन न होकर दो दिनों पर, पंडितों के अपने-अपने विचार के अनुसार, बता दिये जाते हैं। इसका कुछ शास्त्रीय निराकरण वे देते हैं, पर कारबार में कभी-कभी कठिनाई पड़ जाती है। जैसे इस बार, दिवाली राष्ट्रपति-भवन में पहले ता० २०-१० को बताई गई थी, पर ता० १८-१० को कहा गया कि वह ता० १९-१० को मनाई जायगी और इसलिए पूरी छुट्टी २०-१० के बदले १९-१० को होगी। ऐसा ही हुआ भी। इसलिए भैयादूज अब २१-१० को हो अथवा २२-१० को, यह विवादग्रस्त हो गया। हमारे लोग २२-१० को मनायेंगे। इसलिए मैं भूल ही मानूंगा। इस बार बहिन के चले जाने से वह दिन खास करके मेरे लिए सूना लगेगा, क्योंकि वह उस दिन अवश्य आशीर्वाद दिया करती थीं। अब मैं उनसे सदा के लिए वंचित हो गया। ईश्वर की इच्छा !

—राजेंद्र प्रसाद

१०-४-५९

बिटिया ज्ञान,

आज मुसलमानों का ईद का त्यौहार है। उनके लिए यह बड़ी खुशी का दिन है और हर मुसलमान अपने परिवार के लोगों, खासकर बच्चों के लिए, नये कपड़े बनवाता है। होली के दिन की तरह आज के दिन भी मैं बच्चों को मिठाई बांटता हूं। हमेशा की तरह आज भी हजारों बच्चे मिठाई लेने के लिए इकट्ठे हुए। लेकिन जब मैंने देखा कि उन बच्चों में से केवल थोड़े ही बच्चों ने नये कपड़े पहने थे तो मेरा मन बड़ा उदास हुआ। मुझे लगा कि पिछले वर्षों की अपेक्षा इस साल ऐसे बच्चों की संख्या कम थी जिन्होंने नये कपड़े पहने हों। यह हमारे राष्ट्रपति-भवन के कर्मचारियों की गरीब और बिगड़ती हुई हालत का भी परिचायक है। और यह तो तब है जबकि सरकार के अन्य विभागों या मंत्रालयों की अपेक्षा यहां के कर्मचारियों को अधिक सुविधाएं मिलती हैं। जब इन लोगों की यह स्थिति है तो उन लोगों की क्या हालत होगी जिन्हें यह सब नहीं मिलता। इसकी

कल्पना मैं कर सकता हूं। इसीसे मुझे दुःख भी होता है। मेरे खयाल से प्रति व्यक्ति की आमदनी बढ़ाने और लोगों के जीवन-स्तर को सुधारने के हमारे सब प्रयत्नों के बावजूद, लोगों को पिछले वर्षों की तुलना में आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध नहीं हैं, भले ही आंकड़े कुछ भी दर्शाते हों। हो सकता है कि यह कीमतों के बढ़ जाने की वजह से हो, अथवा चीजों के न मिलने या कम मिलने की वजह से भी हो। कुछ भी हो, लेकिन यह लोगों की अपनी इच्छा से किफायत से रहने के कारण नहीं है। सही तथ्यों को मालूम करने के कुछ तो उपाय और साधन होंगे ही। केवल खुशहाली और आंकड़ों की अक्सरियत से ही तो सही बात का पता नहीं चल सकता। असल स्थिति तो आंखों के सामने है और वह छिपी नहीं रह सकती। क्या मेरी आंखें ही तो धोखा नहीं खा रहीं? और गलत नहीं देख रहीं? यही बात सच हो तो मुझे खुशी होगी। मैं यह देखकर खुश हूंगा कि मेरा अनुमान और यह खयाल गलत है। ईश्वर करे, ईद-जैसे दिन हम सबको खुश और समृद्ध देख सकें!

—राजेंद्र प्रसाद

२३—१०—५८

चि० ज्ञान बेटी,

आश्विन, कार्तिक और मार्गशीर्ष के महीनों में बहुतेरे व्रत-त्यौहार इत्यादि हिंदुओं में प्रचलित हैं। आश्विन का पहला पखवारा पितरों के लिए तर्पण इत्यादि का है। उसी सिलसिले में अमावस्या को महालया का पर्व है। शुक्ल पक्ष में पहले दिन से नवमी तक दुर्गा-पूजा और दशमी को दशहरा मनाते हैं। पूर्णिमा को शरद्-पूर्णिमा और कार्तिक दीपदान करते हैं जिसका सबसे महत्त्वपूर्ण दिन दीपावली है। भ्रातृ-द्वितीया (भैयादूज), गोपाष्टमी और एकादशी का विशेष महत्त्व है और पूर्णिमा को कार्तिकी-स्नान के लिए बहुतेरे क्षेत्रों में स्नान के लिए मेले लगते हैं। अगहन में धनुष-यज्ञ और दूसरे व्रत मनाये जाते हैं और सारा महीना बहुत पवित्र महीना माना जाता है। यदि आज की रीति के अनुसार भौतिक कारण ढूंढ़ें तो स्पष्ट है कि बरसात के कीचड़-पानी के बाद और नई फसल कुछ

पहुंच जाने और कुछ करीब-करीब तैयार हो जाने के कारण ये दिन किसानों के लिए खुशी के दिन होते हैं। जो हो, इनका महत्त्व है और यह अच्छा है कि रामलीला, दुर्गा-पूजा-जैसे धार्मिक कृत्यों द्वारा इनका मनाया जाना हमारी परम्परा के अनुकूल है। जैसा हमने तुमको पहले भी बताया है, हमारी सारी बातों में धर्म का पुट तो रहता ही है और यही कारण है कि हम बहुत प्रकार के तूफानों से गुजरते हुए भी कायम हैं। दशहरे का शुभ आशीर्वाद लो !

—राजेंद्र प्रसाद

राजेंद्रबाबू जिस तरह होली-दिवाली मनाते थे, उसी तरह ईद और क्रिसमस पर भी केक और मिठाई बांटकर उन त्योहारों को मानते थे। इतना ही नहीं, हमने देखा है कि जिस श्रद्धा से वह मंदिर और मठों में जाते उसी श्रद्धाभाव से सिक्खों के धर्मगुरुओं, जैसे गुरु नानक और गुरु गोविन्द-सिंह से संबंधित जलसों में भाग लेते और गुरुद्वारों में जाते। मुसलमानों के दरगाह-शरीफ में जाकर पगड़ी (दस्तारे-फजीलत) बंधाते और यहां तक कि गिरजाघर में जाकर वहां की प्रार्थना में भी वे हिस्सा लेते थे। राष्ट्रपति के इस समन्वयवादी व्यवहार का हमारे देश के लोगों पर सहज ही कैसा प्रभाव पड़ता था, यह आज हम अपने सामने ही देख सकते हैं। देश पर जब संकट के बादल ही नहीं, शत्रुओं के आक्रमण की भीषण ज्वाला हमारी सीमाओं पर सुलग उठी, हमारे देश के सब भाई, वे चाहे हिन्दू हों या मुसलमान, सिख हों या ईसाई—सब एक होकर कंधे-से-कंधा मिलाकर उसको बुझाने में लग गए और देश की रक्षा के लिए सबने समान रूप से आगे आकर अपने प्राणों की बाजी लगा दी। मेरा कहने का मतलब यही है कि जीवन के ऐसे उदाहरण अपने-आप एक असर छोड़ जाते हैं और राजेन्द्रबाबू के जीवन ने निस्सन्देह सारे देश के लोगों को समान रूप से अनुप्राणित किया है, और आज भी उनके स्मरण से हमें प्रेरणा मिलती है। जिस समय चीन ने भारत पर आक्रमण किया, उस समय आन्दोलित और उद्वेलित भारतीय जनता की जनशक्ति और एकता का जो दर्शन उन्हें हुआ, उसका वर्णन उन्होंने अपने एक पत्र में इस प्रकार किया है :

सदाकत आश्रम, पटना
१०–११–६२

चि० बेटी ज्ञान, आशीर्वाद !

तुम्हारा पत्र मिला, इस बीच में बड़ी चिन्ताजनक घटनाएं देश की सीमा पर हो रही हैं। लोग समझते थे कि लद्दाख में हम एक तरह से वहां की पहाड़ी बर्फीली जमीन के कारण मजबूर हैं पर पूर्वी सीमा के संबंध में विश्वास था कि वहां चीनी बहुत-कुछ नहीं कर सकते। पर इस बार उन्होंने पूर्वी सीमा पर भी चढ़ाई कर दी। चिन्ता तो बहुत है। अब तो सब वैयक्तिक चिन्ताएं देश की चिन्ता में दब जायंगी। जनता में उत्साह अपूर्व है। 'अपूर्व' मैं समझ-बूझकर ही कह रहा हूं। सारे देश में इतना मतैक्य गांधीजी के आन्दोलन के समय भी कभी नहीं हुआ क्योंकि उन दिनों के नेताओं में एक जबर्दस्त दल था जिसने गांधीजी के नेतृत्व और कार्यक्रम को कभी नहीं माना। और स्वराज्य हो गया तभी उनको विश्वास हुआ कि हमें इस रीति से भी स्वराज्य प्राप्त हो सकता है। यद्यपि उस समय तक उनमें से बहुतेरे चले गए थे और थोड़े बचे हुए थे। आज इसके विपरीत सारे देश में एकता है। कोई भी संगठित विरोधी दल नहीं है। इस उत्साह का सबूत तो लोगों के दान से ही मिलता है। इस एकता की शक्ति का पूरा उपयोग होना चाहिए।

तुम्हारे बाबूजी
—राजेंद्र प्रसाद

जब पड़ोसी पाकिस्तान ने हमारे देश पर हमला किया, तब भी ठीक वही स्थिति उत्पन्न हो गई। जनता अपनी वैयक्तिक चिन्ताएं और झगड़े छोड़कर राष्ट्र की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गई। हमारा राष्ट्रीय चिह्न है—'सत्यमेव जयते !' और हमारा विश्वास है कि इस सत्य-पथ पर बढ़ते हुए विजय सदा हमारे साथ रहेगी तथा भारत की इस एकता को हम अखंड बनाये रख सकेंगे। भारत की यह अनुपम एकता जैसी अटल है, वैसी ही दृढ़ हमारी आस्था है और इसकी रक्षा और सुरक्षा के लिए हम सदा कृत-संकल्प हैं।

भारत की एकता हमारे लिए एक धार्मिक अनुष्ठान के समान है। इसीलिए अनेक बाह्य आक्रमणों के बावजूद हम अपनी सांस्कृतिक एकता को उसकी महिमा और गरिमा के साथ अक्षुण्ण रख सके हैं। इसी कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर जगदगुरु शंकराचार्य ने पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में चार धाम स्थापित किये। इसी भाव से उद्वेलित होकर विवेकानन्द ने कन्याकुमारी के चरणों में अपना मस्तक नवाया, इसी भावना से उत्प्रेरित होकर श्री अरविन्द ने पांडिचेरी में जाकर निवास किया। यही कर्तव्य की प्रेरणा स्वामी दयानन्द को पंजाब की ओर ले गई जो उनकी कर्मभूमि बनी और गांधीजी ने कण-कण में इस एकता की भावना जगाकर सारे देश को एक नया परिवेश, नया जीवन और नया रूप प्रदान किया। भारत को स्वाधीनता का नवीनोज्ज्वल परिवेश मिला, नये शासन और नये संविधान के रूप में नवीन अलंकरण मिले और उस शोभा के साथ उसे राष्ट्रपति के रूप में राजेंद्र प्रसाद और प्रधानमंत्री के रूप में जवाहरलाल-जैसे अडिग और कर्त्तव्यपरायण रक्षक मिले। सरदार पटेल-जैसे सेनानी मिले जिन्होंने एकता की मणि-माला मां-भारती के गले में डाल दी।

१५ अगस्त को इस नव शोभित रूप में हम सदा भारत के दर्शन करते हैं और अपने संविधान की रक्षा करने, अपने शासन को दृढ़ बनाने तथा उसकी एकता को अक्षुण्ण रखने के लिए कटिबद्ध होते हैं। १५ अगस्त हमारा स्वाधीनता-दिवस है, हमारे देश का एक महान् पर्व ! बड़ी धूमधाम से हम इसे मनाते हैं। इसके आगमन-मात्र से मन उमगता है, ठीक जैसे वसन्त के आगमन पर जीवन हिलोरें लेने लगता है। इस अवसर पर अनेक भाव जगते हैं, उमंगें नाचती हैं और उनके साथ स्मृतियों के झोंके लहराते हैं। इन झोंकों में एक संदेश छिपा रहता है।

इस झांकी के साथ अनेक स्मृतियां मानस से टकराती हैं और पुरानी स्मृतियों को ताजा कर देती हैं। मुझे इन भावों के साथ याद आता है जब दिल्ली के लाल किले पर वीर जवाहर और लालबहादुर हमारा राष्ट्रीय ध्वज फहराते, हमारे राष्ट्रपति दक्षिण की राजधानी में ध्वज-वंदन करते। उत्तर और दक्षिण को एक सूत्र में पिरोने के लिए ही उन्होंने यह नई कड़ी जोड़ी थी। लाल किले की प्राचीर से ही नहीं, कश्मीर के कगारों से हमें

स्वतंत्रता की झलक देखने को मिली है और मिलती रहेगी और कन्या-कुमारी के सागर की गहराई में हमें प्रजातंत्र के मर्म की गहराई मिलेगी और इन गहराइयों और ऊंचाइयों के मध्य हमें द्वारका से जगन्नाथपुरी तक भारत मां के सुदृढ़ बाहु फैले हुए मिलेंगे जो सबको एकता के विशाल आंगन में जुटाये हुए हैं।

१९ | राजेंद्रबाबू की जीवन-दृष्टि

भारतीय संविधान-परिषद के प्रथम अध्यक्ष और भारतीय गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेंद्र प्रसाद केवल महान् नेता और इतिहासवेत्ता ही नहीं थे, बल्कि राजनैतिक तथा ऐतिहासिक रंगमंच पर खेले जानेवाले नाटक के प्रमुख पात्र भी थे। भारतीय इतिहास के वे युगनिर्माता थे। राष्ट्र-पति-पद से मुक्त होकर राजधानी से प्रस्थान के अवसर पर भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक वाक्य में यह कहकर कि "यह युग राजेंद्रबाबू के युग से जाना जायगा" इसे सूत्रबद्ध कर दिया। वास्तव में यह युग दोनों ही महापुरुषों की भारत को महती देन है।

इसी युग का सिंहावलोकन करते हुए राजेंद्रबाबू ने अपने जीवन के ५० वर्षों की झांकी अपने ही शब्दों में प्रस्तुत की है। इससे उस युग और बीतती घटनाओं के साथ राजेंद्रबाबू के जीवन-दर्शन पर भी प्रकाश पड़ता है।

राजेंद्रबाबू ने अपनी आत्मकथा में १९४६ तक की घटनाओं का उल्लेख किया है। एक प्रकार से वह स्वाधीनता से पूर्व की कहानी है। इसे पूरी करने के लिए कई बार कई व्यक्तियों और मित्रों ने राजेंद्रबाबू से आग्रह किया और एक तरह से कहूं, इसके लिए मैं तो उनके पीछे ही पड़ी रहती थी[1]; लेकिन दिन-प्रतिदिन के कामकाज में इस कार्य के लिए वह समय नहीं निकाल पाये।

---

१. इसे बाबूजी ने मेरी जिद्द माना है, पर जिद्द ही सही, उसे स्वीकार भी किया। अपने एक पत्र में इसका जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा :

"मैं समझता हूं कि मुझे ज्ञान के इस बात पर जोर देने के लिए, कि मैं अपने रोजमर्रा के विचारों को लिखा करूं, उसको धन्यवाद देना चाहिए, क्योंकि इससे मुझे ऐसी कई बातों को लिख डालने का मौका मिल गया है, जो कहीं किसी प्रकार के बिना उल्लेख के रह जातीं। इसीलिए यह मानना होगा कि कई बार ज्ञान की बात से, जो बच्चे की जिद्द मालूम होती है, बड़ी उपयोगी बातें बाहर आ जाती हैं।"

एक बार हम पंचमढ़ी गये। बाबूजी को यह स्थान बहुत ही प्रिय था। वहां समय भी अपना था, औपचारिक कार्यक्रमों के बंधन से मुक्त। अन्य पर्वतीय स्थानों की अपेक्षा यह जगह उन्हें अधिक आकर्षक और भली लगती थी। इसका कारण उसकी निर्जनता और नीरव शांति थी। बहुत कम ऐसे पर्वतीय स्थान होंगे, जिनकी तुलना पंचमढ़ी की सौम्यता, शोभा और शांत वातावरण से की जा सके। पहाड़ों के बीच विस्तृत समतल मैदान, दृश्यों की विविधता, शैल-मालाओं की बिखरी लड़ियों की परतें, धूपछांव की आंख-मिचौनी का खेल खेलते धूप और बादल, धूपगढ़ के उदयाचल और अस्ताचल से उदित और अस्त होते हुए सूरज की लालिमा—ये सभी पंचमढ़ी के मंच पर ऐसे भव्य दृश्य उपस्थित करते थे कि बाबूजी का मन उनमें रम जाता था और उनकी आत्मा प्रकृति के रचयिता के साथ एकात्मता का अनुभव करती।

जो यह जानते हैं कि राजेंद्रबाबू कितने सरल और सादे थे, उन्हें राष्ट्रपति की इस पसंद से, जो अन्य पर्वतीय स्थानों से भिन्न है, जो रूप-रंग में उन्हींकी तरह ग्रामीण है और स्वभाव में उन्हींकी तरह जिसका सरल-सादा वातावरण है, आश्चर्य न होगा। पंचमढ़ी बाबूजी के स्वभाव के अनुकूल पड़ती थी। अक्सर यहां पहले कुछ वर्षों में अपने पुराने साथी स्व० रविशंकर शुक्ल और डा० पट्टाभि सीतारामैया के साथ बैठे बाबूजी आपस में बातें और मनोविनोद करते। बाद में मुख्य मंत्री श्री कैलाशनाथ काटजू और राज्यपाल श्री पाटस्कर ने भी यह परम्परा कायम रखी। इन बुजुर्गों को इस तरह चिंतामुक्त होकर उन्मुक्त हास्य करते देखकर मुझे वह अन्तर स्पष्ट दिखाई देता, जो यहां के और नई दिल्ली के औपचारिक शुष्क जीवन में था।

किंतु पंचमढ़ी बाबूजी में केवल आनंद और उल्लास की भावनाएं ही नहीं भरती थी, वहां की नीरवता उन्हें एकांत चिंतन के लिए भी प्रेरित करती। कभी वे देश की समस्याओं और घटती घटनाओं पर विचार करते तो कभी उसके इतिहास की उन घटनाओं पर नजर डालते, जिनके साथ उनके जीवन की कड़ियां जुड़ी हैं। उस उन्मुक्त वातावरण में कभी सैर के लिए जाते हुए या कभी विश्राम के चिंतन-मुक्त समय में वे उन बातों और संस्मरणों को मुझे सुनाते, जिनका विस्मरण कठिन था। अतः मैं बाबूजी

से अक्सर कहा करती कि इन संस्मरणों और अविस्मरणीय घटनाओं को आप लिख डालिये अथवा लिखवा दीजिये। आखिर मेरे बालहठ के आगे वे पसीजे और जो कुछ उन्हें याद आया, उसे लिखना और लिखवाना आरंभ किया। जो वे भूल नहीं पाये, वही स्थायी सार और तत्त्व याद के रूप में हमें मिला। उन्हींके शब्दों में बंधी ये घटनाएं हैं, जिन्होंने उनका जीवन और देश का इतिहास बनाया है।

पचमढ़ी,
५–६–१९५५

"आज रात नींद टूट गई और फिर नींद नहीं आई। जागने का फल यह हुआ कि तरह-तरह के विचार दिमाग में आने लगे। एक तरह से मैंने अपने जीवन के ५० वर्षों का अवलोकन किया। जब मैं सोचता हूं कि मैं क्या था, क्या-क्या रहा, क्या हूं और क्या-क्या हो रहा हूं, तो मन में कई प्रकार के विचार उठने लगते हैं।

सबसे पहला विचार तो यह होता है कि मुझे भगवान् की कितनी कृपा और दया मिली कि बिना किसी वस्तु की चाहना किये मुझे बहुत-सी ऐसी चीजें मिलती गईं, जिनको दूसरे लोग बहुत परिश्रम करके और बहुत प्रयत्न के बाद पाते हैं।

जब मैं पढ़ता था तो स्कूल में मुझे इसका पता भी नहीं था कि युनिवर्सिटी में किस तरह और कैसे कोई विद्यार्थी ऊंचे-से-ऊंचा स्थान परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों में पाता है या पा सकता है। मुझे पता भी नहीं था कि इसके लिए कोई विशेष परिश्रम या प्रयत्न करना पड़ता है और इसलिए मैं स्कूल में बराबर मामूली तौर से जो दिन-प्रतिदिन का पाठ होता था उसको पढ़ लिया करता था और रविवार के दिन, सप्ताह भर में जो पढ़ता था, उसको दोहरा लिया करता था, कोई बहुत परिश्रम नहीं करता था। खेल-कूद में भी समय लगाता था और बहुत ही सादगी के साथ एक पंडित की संरक्षता में छपरे में रहता था। शुरू में घर पर मौलवी साहब के साथ प्रायः दो बरसों तक फारसी पढ़ी, उसके बाद छपरे में जाकर उन दिनों सबसे नीचे वर्ग में, जिसको ८वां वर्ग कहते थे, नाम लिखवाया। भाई छपरा जिला-स्कूल में पहले से ही पढ़ रहे थे। उमर में हमसे ८ बरस बड़े थे और

जिस वक्त मैंने ८वें वर्ग में नाम लिखवाया, वह आठ वर्ष आगे पहले वर्ग में पहुंचे हुए थे और पहले वर्ग के अंत में युनिवर्सिटी की परीक्षा, जिसे उन दिनों एंट्रेंस परीक्षा कहते थे, देनेवाले थे। मैं उनके ही साथ रहा। जो स्कूल में पढ़ाई हुई वही पढ़ा, घर पर पढ़ाने के लिए कोई शिक्षक नहीं थे। कभी-कभी कोई कठिनाई सामने आती थी तो भाई से पूछ लिया करता था। वर्ष के अंत में जो परीक्षा हुई तो मैं अपने वर्ग में सबसे अधिक नंबर पाकर पास हुआ और हेडमास्टर ने मुझसे कहा कि "हम तुमको डबल प्रमोशन देना चाहते हैं," जिसका अर्थ यह था कि आठवें से सातवें में न आकर, उस वर्ग को लांघकर सीधे छठे वर्ग में वह हमको भेज देना चाहते थे। मैंने कहा कि मैं भाई से पूछ लूंगा। इसपर वह हँसे और जब उनको यह मालूम हुआ कि वह उनके विद्यार्थी हैं और इस वर्ष एंट्रेंस की परीक्षा की तैयारी कर रहे हैं तो हँसते-हँसते उन्होंने कहा कि "तुम समझते हो कि कि इस बात को वह हमसे ज्यादा समझते हैं, कि उनसे पूछोगे और हमारी बात नहीं मानते, मगर जाकर पूछ आओ।" मैंने भाई से पूछा तो उन्होंने कहा कि डबल प्रमोशन लेना ठीक नहीं होगा, क्योंकि एक वर्ग लांघने का फल यह होगा कि तुम कमजोर पड़ जाओगे और दो वर्ष की पढ़ाई एक वर्ष के अंदर पूरी नहीं कर सकोगे। पर हेडमास्टर ने अपने निश्चय के अनुसार मुझे छठे वर्ग में भेज ही दिया। भाई एंट्रेंस के बाद पटना पढ़ने गये और मैंने भी उनके साथ कोई ३ बरस के बाद घूमते-घामते फिर छपरा में आ करके चौथे वर्ग में नाम लिखवाया और तबसे प्रतिवर्ष की वार्षिक परीक्षा में मैं तरक्की करता गया—अर्थात् चौथे वर्ग की परीक्षा में मेरा तीसरा स्थान था और तीन दूसरे छात्र मेरे ऊपर थे। तीसरे वर्ग की परीक्षा में दूसरा, और दूसरे वर्ग की परीक्षा में मैं दो दिन परीक्षा देने के बाद ही सख्त बीमार पड़ गया। उन दिनों प्लेग की बीमारी बहुत फैली हुई थी। मेरे संबंध में भी संदेह हुआ कि प्लेग हो गया है। इसलिए दो विषयों के अलावा और किसी विषय में मैं परीक्षा नहीं दे सका; पर उन दो विषयों में मेरा नाम अव्वल रहा और दो विषयों के फल पर ही मुझे पहले वर्ग में तरक्की मिल गई, मगर बीमारी के कारण मैं घर चला गया और कुछ दिनों तक वहीं रह गया, जिसका एक फल यह हुआ कि समय पर स्कूल

की फीस नहीं दे सका और नाम कट गया। फिर नाम लिखवाया गया, पर मुझे यह भी नहीं मालूम था कि ऐसा नियम है कि वे ही छात्र छात्रवृत्ति के अधिकारी हो सकते हैं जो कम-से-कम पूरा साल किसी स्कूल में पढ़े हों। नाम कट जाने के कारण परीक्षा तक मेरा एक साल पूरा नहीं हुआ था और इसलिए यदि अच्छी तरह से पास भी होता, तो भी उस नियम के अनुसार मुझे छात्रवृत्ति नहीं मिल सकती थी।

मेरे एक बड़े दयालु और पूज्य शिक्षक थे। उन्होंने मुझसे कहा कि हो सकता है कि मैं परीक्षा के फलस्वरूप छात्रवृत्ति प्राप्त कर सकूं, क्योंकि उनको आशा थी कि परीक्षा का फल अच्छा होगा, पर इस नियम के कारण फल अच्छा होने पर भी, मुझे छात्रवृत्ति नहीं मिलेगी; अतः मेरे लिए यही उचित है कि बीमारी का पूरा-पूरा हाल लिखकर मैं स्वयं या अपने पिताजी की ओर से स्कूल के अधिकारियों को दरखास्त भेज दूं कि इस नियम को मुझपर लागू न किया जाय। मैंने दरखास्त लिखवाई और ले जाकर हेड मास्टर को दी। इसपर हेडमास्टर ने कहा कि दरखास्त तो वह भेज देंगे, पर नियम तो नियम है, उसे कोई अधिकारी तोड़ नहीं सकता, इसलिए उसका कोई नतीजा नहीं होगा। उन्होंने उसपर सिफारिश भी नहीं की और यूं ही दरखास्त भेज दी। चंद दिनों के बाद सर्वोच्च अधिकारी के पास उस दरखास्त के पहुंचने के नौबत तक नहीं आयी, बीच के ही अधिकारियों ने मंजूर करके हुक्म भेज दिया कि मैं परीक्षा के फल के अनुसार छात्रवृत्ति का भी अधिकारी हो सकूंगा। उस वक्त तक मुझको इतना ही पता था कि किसी किस्म की छात्रवृत्ति, जैसाकि हेडमास्टर साहब ने मुझे कहा था, मुझे मिल जाय।

उन दिनों तीन प्रकार की छात्रवृत्तियां मिलती थीं। मैं समझता था कि शायद कोई एक नीचे दर्जे की छात्रवृत्ति मुझे मिल जायगी। पर जब परीक्षा का फल निकला तो इतना ही नहीं कि मुझे सबसे ऊंचा स्थान मिला और सबसे अधिक छात्रवृत्ति मिली, बल्कि कई विषयों में अलग-अलग सर्वोच्च स्थान के लिए अलग से पारितोषिक या छात्रवृत्ति भी मिली। मैं इसीसे समझता हूं कि बिना प्रयास और प्रयत्न के, ईश्वर की दया से ही, मुझे उस वर्ष के परीक्षार्थियों में सबसे ऊंचा स्थान मिल गया।

इसी तरह से कालेज में भी मैंने परिश्रम किया और इस बात का विशेष प्रयत्न किया कि विज्ञान और गणित में मैं अव्वल स्थान प्राप्त करूं। ऐंट्रेंस में अव्वल स्थान पाने के बाद अव्वल स्थान की मर्यादा और प्रतिष्ठा मालूम हो गई थी और मेरे मास्टरसाहब ने भी मुझे छपरा से कलकत्ता जाते समय चेतावनी दी थी कि "आजतक बिहार का कोई छात्र इस प्रकार कलकत्ता-युनिवर्सिटी से उत्तीर्ण नहीं हुआ। तुम हो गए हो, प्रयत्न करना जिसमें यही स्थान अगली परीक्षा में भी तुमको मिले।" मुझे विज्ञान में कुछ रस मालूम हुआ, इसलिए उसपर अधिक ध्यान दिया और अंग्रेजी, दूसरी भाषा फारसी, इतिहास, लॉजिक इत्यादि पर कम ध्यान दिया; पर जब परीक्षा हुई तो विज्ञान और गणित में मुझे प्रथम स्थान नहीं मिला, पर अंग्रेजी, फारसी, लॉजिक इत्यादि में प्रथम स्थान मिला और सब मिलाकर भी प्रथम स्थान मिला। इस तरह कई प्रकार की छात्रवृत्तियां मिलीं और पारितोषिक मिले।

बी० ए० में और भी चमत्कार रहा। एफ० ए० पास करने के बाद मेरी रुचि परीक्षाओं से हट गई थी और उनका महत्त्व मेरी आंखों में बहुत नहीं रहा। मैं कुछ दूसरे विचारों से जिनमें देशसेवा की भावना प्रमुख थी, आंदोलित होने लग गया था, इसलिए मैंने परीक्षा में ऊंचा स्थान प्राप्त करने के खयाल से पढ़ा ही नहीं; चूंकि एक कॉलेज में था और दिन-प्रतिदिन जो शिक्षक लोग पढ़ाते थे, उसको सुनता था और बैठे-बैठे कुछ पुस्तकों को भी पढ़ लिया करता था, पर अव्वल होने की तैयारी न कभी की और न कभी आशा ही थी कि होऊंगा। स्वदेशी-आंदोलन भी उस समय शुरू हो गया था और उसका भी असर दिल पर हुआ था। पर ईश्वर की ऐसी दया हुई कि इस परीक्षा में भी अव्वल हो गया और दो छात्रवृत्तियां मिल गईं। इस प्रकार उस वक्त तक अनायास, केवल ईश्वर-कृपा से ही, मैं ऐसे स्थान पाता गया जिनके लिए दूसरे लोग बहुत परिश्रम किया करते हैं।

बी० ए० पास करने के बाद परीक्षा में मेरी और भी अरुचि हो गई और इसलिए एम० ए० में वह कृपा नहीं हुई और अव्वल नहीं हुआ।

वकालत शुरू की तो पढ़ने के वक्त ही, चूंकि बहुत लोगों से छात्र-सम्मेलन के कारण अथवा युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में अच्छा फल होने के

कारण मुलाकात हो गई थी और मुकदमे, विशेष करके गरीबों के, मिलने लगे। यद्यपि कोई भी संबंधी कहीं वकील नहीं था, बहुत मुकदमे मुझे मिला करते थे। मैंने खानबहादुर (पीछे चलकर नवाब सर शम्सुल हुदा) के साथ वकालत का काम सीखा था और जब अन्य लोगों ने मुझसे बहुत काम लिया भी था, जिसके फलस्वरूप मुझे हाईकोर्ट के काम का तौर-तरीका पूरी तरह मालूम हो गया था; पर जिस वक्त मैं परीक्षा इत्यादि पास करके वकालत के योग्य हुआ, ठीक उसी समय वह गवर्नर की ऐक्जीक्यूटिव काउंसिल के मेंबर हो गए और इसलिए एक-दो दिनों से ज्यादा मुझे उनके साथ बैठकर वकील की हैसियत से काम करने का मौका नहीं मिला। उनके हाथ में बहुत मुकदमे थे और चूंकि वह पूर्व बंगाल के कुमिल्ला जिला के रहनेवाले थे, उस तरफ के मुकदमे भी उनके पास थे। उन्होंने मेरा नाम अपने सभी मुकदमों में लिखवा दिया और अपने क्लर्क से कह दिया कि अगर मुवक्किल चाहे तो इनसे भी काम लेने की सिफारिश कर दिया करना। इस तरह मुझे कुछ बंगाल के मुकदमे भी मिल गए। और एक ऐसे ही मुफ्त के मुकदमे का नतीजा यह हुआ कि मैं कलकत्ता-युनिवर्सिटी के लॉ-कालेज में प्रोफेसर का स्थान पा सका। वह इस तरह से हुआ: उस मुकदमे में कुछ कानूनी बहस थी, सर आशुतोष मुखर्जी मेरे काम से प्रसन्न हुए और वहां मुझे अनायास ही बिना मांगे लॉ-कालेज में जगह मिल गई। एम० ए० की परीक्षा में मैंने परिश्रम किया था और मेरे साथी श्री वैद्यनाथ-नारायण सिंह ने मुझे जबरदस्ती उस परीक्षा के लिए यह कह-कह करके तैयार किया कि सब परीक्षाओं में अच्छा फल होते हुए भी एम० ए० का फल अच्छा नहीं हुआ तो उसका मार्जिन एम० एल० की परीक्षा में सर्व-प्रथम प्राप्त करके मुझे कर देना चाहिए। इत्तफाक से ऐसा ही हो भी गया और मुझे फर्स्टक्लास-फर्स्ट का स्थान मिल गया। यह घटना उस वक्त हुई, जिस वक्त पटना में हाईकोर्ट खुला और इसके फलस्वरूप वहां वकालत खूब चली।

महात्मा गांधीजी से भी मेरा परिचय अकस्मात् ही हुआ (कुछ विशेष मेरी इच्छा अथवा अभिलाषा से नहीं) और मेरा सारा जीवन बदल गया। जब मैं सारा समय देकर सार्वजनिक काम करने लग गया, तो भी कभी

मैंने किसी स्थान या पद की अभिलाषा नहीं रक्खी और न कोई प्रयत्न ही इस आशा या उद्देश्य से किया कि उसका निजी अथवा सार्वजनिक कोई विशेष फल देखने को मिले, पर उसमें भी एक के बाद एक मुझे अनायास पद मिलता गया। और जो कभी मैं स्वप्न में भी नहीं सोचता था, वह दूसरे लोग सोचते थे और मुझसे कहा करते थे। १९२७ के दिसंबर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मद्रास में हुआ। डा० अंसारी उसके सभापति हुए। मुझसे श्री श्रीनिवास आयंगर ने (जो उस समय वहां की कांग्रेस के सर्वोच्च नेता समझे जाते थे और जो १९२० के साल से ही, जब मेरी मुलाकात उनसे आरा में वर्मा के मुकदमे में पहले-पहल हुई थी, तब हम दोनों दो विपक्षियों की ओर से वकालत कर रहे थे, मेरे साथ बराबर प्रेम और कृपा रखते आये थे) कहा कि उनकी इच्छा थी कि वह मुझे ही उस अधिवेशन का सभापति बनवायें, पर हिंदू-मुस्लिम-समस्या कुछ इतना महत्त्व पकड़ती जा रही थी कि एक मुसलमान नेता का अध्यक्ष होना बेहतर समझा गया और इसलिए सभापति मैं न होकर डा० अंसारी बने। जब यह बात उन्होंने मुझसे कही तो मैं आश्चर्य और लज्जा से डूब गया, क्योंकि मैंने ऐसा कभी सोचा भी नहीं था। जब १९३० में सत्याग्रह का निश्चय किया गया तो उस वक्त मुझे आरंभ में एक बार इच्छा की झलक आयी कि अगर मैं प्रांतीय कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष होऊं तो सत्याग्रह के काम में कुछ अधिक सफलता प्राप्त कर सकूंगा; पर जैसा कहा, वह केवल झलक मात्र थी और मैं उसे भूल गया; और आज यह याद भी नहीं है कि उस वर्ष मैं प्रांतीय कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष हुआ भी था या नहीं। भाग तो मैंने सत्याग्रह में पूरी तरह से लिया, क्योंकि गवर्नमेंट ने बहुत दिनों तक मुझे गिरफ्तार न करके छुट्टा छोड़ दिया था और मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर दौड़-धूप, प्रचार करता रहा और हर मौके पर नमक-कानून भी तोड़ता रहा। अंत में जब अधिकारियों ने मेरे बाहर रहने से बात बिगड़ती देखी तो मुझे गिरफ्तार कर लिया।

जेल में कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ। मैं नहीं चाहता था कि कोई नाजायज काम करूं या लाभ उठाऊं, जैसा बहुत करके लोग किया करते हैं। एक तो यह मामूली बात थी कि नाजायज चिट्ठी भेजना या पाना

अर्थात् जहां नियम के अनुसार १५ दिनों में एक चिट्ठी जा सकती थी या आ सकती थी और वह भी अधिकारियों के पढ़ लेने के बाद ही मिल सकती थी, वह या तो चुपके या किसी सिपाही की मार्फत बहुत चिट्ठियां लोग मंगवा लिया करते थे या भेजा करते थे। इसमें जेल के अधिकारी भी सहायक होते थे। कायदा यह था कि चिट्ठी पहले जिला मजिस्ट्रेट के पास जेल में भेजी जाय और वह चिट्ठी को देखकर अथवा अपने किसी दूसरे अफसर से दिखलाकर उसे इस योग्य समझे कि कैदी को दी जा सकती है, तब वह उसे पास करते थे, और तभी वह चिट्ठी कैदी के पास तक पहुंच सकती थी। जहां २००-४०० कैदी एक जेल में ऐसे थे जिनके पास चिट्ठी लिखनेवालों की कमी नहीं थी, वहां समझा जा सकता है कि ऐसी चिट्ठियों की तादाद कितनी होगी। स्वभावतः डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के ऑफिस से आने में बहुत देर लगती और तो भी बहुतेरी चिट्ठियां कैदियों को नहीं दी जातीं। अधिकारी यह जानते थे कि ये चिट्ठियां किसी-न-किसी तरह से तो जाती-आती ही रहती हैं इसलिए उन्होंने खुद इस कायदे के बावजूद चिट्ठियां देने का रास्ता निकाल लिया और वह ऐसा अच्छा कि जिसमें न तो वे खुद पकड़े जायं और न कैदी ही पकड़े जा सकें। चिट्ठी जैसे ही जेल-अधिकारी के पास पहुंचती वह उसको लेकर उस कैदी के पास पहुंच जाता जिसकी वह चिट्ठी होती, और उसको अपने सामने पढ़ा देता। उसके पढ़ लेने के बाद वह चिट्ठी वापस ले जाता और तब सारी दफ्तरी कार्रवाई, अर्थात् उसपर नंबर पड़ना और उस जेल के पत्र के साथ डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के पास जाना, वहां पढ़ा जाना और पास होना और फिर मोहर के साथ वापस आना और तब कैदी को मिलना और उसमें भी अक्सर कितनी ही पंक्तियां मिटाई हुई या कहीं कुछ हिस्सा काटा हुआ होता, कैदी लेकर खुश हो जाता, मगर उसको कोई नई बात तो मालूम होती नहीं, क्योंकि वह तो पहले ही उसे पढ़ चुका होता।

यही हालत पुस्तकों के संबंध में थी। तो मैंने सोच लिया था कि मैं इस तरह के काम में नहीं पड़ूंगा और नहीं पड़ा। इसका फल यह हुआ कि सभी लोग मेरा बहुत आदर करते थे और अगर जेल में हमारे साथियों की तरफ से कुछ ज्यादती होती थी तो अपने अधिकार को न बरतकर मेरे पास

फैसला करने के लिए मामले ले आते थे। जेल से निकलने के पहले ही भूकंप हो गया, पर मुझे छोड़ देने का फैसला उस समय तक हो गया था, मैं जल्दी रिहा कर दिया गया। जेल से छूटकर मैंने भूकंप-पीड़ितों की सहायता का काम आरंभ किया। उस वक्त इसका कुछ पता नहीं था कि यह काम कितने दिनों तक और कितनी दूर तक जा सकेगा, क्योंकि पैसे कुछ पास में नहीं थे, साथी लोग सब-के-सब प्रायः जेल में थे, पर सरकार ने साथियों को भी छोड़ दिया और तब उन लोगों को जहां-तहां भेजा गया तो दुर्घटनाओं का विस्तृत वर्णन आने लगा। उधर गवर्नमेंट की ओर से भी कुछ खबर मिलने लगी, जिससे मालूम हुआ कि यह दुर्घटना बहुत दूर तक फैली हुई है और इसमें धन का नाश तो हुआ ही है, आदमी भी बहुत मरे हैं। गवर्नमेंट ने भी एक कमेटी पीड़ितों की सहायता के लिए बनाई और गैर-सरकारी संस्था तो हमने कायम कर ही ली थी। इसपर हमारे एक मित्र, जो उस समय मंत्री थे, मेरे पास आये और उन्होंने कहा कि मुझे भी गवर्नमेंट की कमेटी में मदद करनी चाहिए और अलग कमेटी रखकर काम करने का विचार छोड़ देना चाहिए, क्योंकि एक तो जब गवर्नमेंट उस काम को कर रही है तो वह अनावश्यक है और फिर हमारे पास रुपये भी ज्यादा नहीं मिलेंगे। मैंने उसका उत्तर यही दिया कि गवर्नमेंट की कमेटी से हम को कोई विरोध नहीं है और न स्पर्धा। कांग्रेस का गवर्नमेंट के साथ भी झगड़ा चल रहा है, इसलिए मेरे लिए जाब्ते से गवर्नमेंट की कमेटी में शरीक होना तो संभव नहीं होगा; पर अगर कोई सेवा मुझसे हो सकेगी तो मैं बाज नहीं आऊंगा, पर गैर-सरकारी समिति भी रहेगी। मेरे ऊपर कोई ऐसी जिम्मेदारी नहीं है कि मैं कितना काम करूं। जो कुछ पैसा लोग मुझे दे देंगे उसके अंदर जितना काम हो सकेगा कर दूंगा; और जब पैसा खतम हो जायगा तब घोषित कर दूंगा कि अब पैसा खत्म हो गया है और अब काम बंद किया जाता है। यही उत्तर देकर मैंने उनको वापस किया। अनायास पैसे आने लगे, महात्माजी को मैंने सूचना भेजी। वह भी इस काम में पड़ गए और दक्षिण में अपनी यात्रा स्थगित करके बिहार आ गए। अब पैसे इस तरह बरसने लगे कि गैर-सरकारी फंड और सरकारी फंड में मुकाबला होने लगा। दिन-प्रतिदिन अखबारों में आंकड़े छपते कि

आज इतने पैसे सरकार के फंड में आये और इतने गैर-सरकारी समिति के फंड में और कभी गैर-सरकारी फंड अधिक दीखता, तो कभी सरकारी फंड। इस प्रकार का मुकाबला कितने ही दिनों तक चलता रहा। इस तरह बिना प्रयत्न के अनायास ही मुझे एक बड़े काम का यश मिल गया और वह यश केवल भूकंप-पीड़ितों की सेवा करने का ही यश नहीं रहा, उपहारस्वरूप कांग्रेस के लोगों ने जब कांग्रेस के अध्यक्ष के चुनाव का समय आया तो एकमत से मुझे ही चुना और इस महान पद के न चाहने पर भी यह पद मिला। 'नहीं चाहने' की भी एक कहानी है।

ठीक उसी समय मेरे बड़े भाई साहब की, जिन्होंने मुझे हर तरह से पाला-पोसा था और सिर्फ मेरा ही नहीं, मेरी पत्नी और बच्चों का और सारे खानदान का भार अपने ऊपर लेकर मुझे निश्चित कर दिया था और जो स्वयं बहुतेरे सार्वजनिक कामों में व्यस्त रहा करते थे, अचानक मृत्यु हो गई। मुझे मालूम था कि उनके अंतिम दो-चार वर्ष बहुत ही चिंता में बीते थे, क्योंकि घर का खर्च जुटाने के लिए जो थोड़ा-बहुत व्यापार करना चाहा था, उसमें बहुत घाटा पड़ गया था और सिर पर खर्च का बोझ लद गया था और मुझे यह नहीं मालूम था कि यह बोझा इतना बड़ा है, जब तक उनकी मृत्यु के बाद मैंने इसका पूरी तरह पता नहीं लगा लिया। उसी समय कांग्रेस के सभापति बनने का प्रस्ताव मेरे पास आया। मैंने सोचा कि इतना बड़ा बोझ अपने सिर पर लेकर मुझे सभापतित्व नहीं स्वीकार करना चाहिए और यही मैंने महात्माजी से कह भी दिया। वह मुझसे मेरी राय से सहमत थे, पर उन्होंने कहा कि इसकी चिंता तुमको नहीं रहेगी, जमनालालजी को करनी पड़ेगी। जमनालालजी का प्रेम पहले से ही था और उन्होंने खुशी से यह भार स्वीकार कर लिया।

जमनालालजी ने अपने मुनीम को छपरा भेज दिया और वह छपरा और जीरादेई में कुछ दिनों तक ठहर गए और सभी लोगों को, जिनके रुपये देने थे, अदा कर दिए। भाई साहब पर लोगों का इतना विश्वास था कि बिना किसी प्रकार के दस्तावेज अथवा लिखा-पढ़ी के उनके मांगने पर ही लोगों ने हजारों-हजार रुपये कर्ज के रूप में दे दिये थे, जिसका कोई सबूत उनके पास नहीं था। मुझे भी उनके नाम तक मालूम नहीं थे और न

के लिए दिए थे। जब कंपनी की मिल्कियत की जांच की गई और उसको नीलाम करने का निश्चय हुआ, तब अपने इंजीनियर द्वारा उसकी कीमत की जांच कराके, बिड़ला-बंधु उतनी कीमत देकर कंपनी को खरीद लेने को तैयार हो गए; पर वह छपरे में एक छोटी कंपनी का काम करना, जहां एक ओर उनके बड़े-बड़े कारखाने सारे देश में फैले हुए थे, बहुत पसंद नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने कहा कि कारखाने को नीलाम पर चढ़ाया जाय और अगर कोई ऐसा खरीदार मिल जाय जो उसकी मुनासिब कीमत—अर्थात् जो उन्होंने कूती थी उतनी—दे तो वह कारखाने को उस खरीदार के हाथ बेच देंगे। पर यदि नीलाम (डांव) में बोली इतनी ऊंची न उठे, तो वह अपनी कूती हुई कीमत पर डांव बोलकर ले लेंगे। यह भी मेरे लिए एक ईश्वर की कृपा ही थी कि लड़ाई के कारण इस तरह की चीजों की कीमतें बहुत बढ़ गई थीं और इसीलिए जब नीलाम किया गया, तब जितनी कीमत उन्होंने लगाई थी, उससे थोड़ी अधिक ही बोली हो गई, और उनको खरीदने की जरूरत नहीं पड़ी। यह कीमत इतनी अच्छी ऊंची थी कि हमारा तथा दूसरों का जो कर्ज कंपनी पर था वह सब अदा हुआ और हिस्सेदारों को हिस्से के रुपये भी प्रायः पूरे-पूरे अदा हो गए। जमनालालजी के जो रुपये मुझपर रह गए थे, मैंने पैसे-पैसे सूद के साथ अदा कर दिए।

यह सब उस अवस्था में हुआ सब मैं जेल में था। जब मैं जेल से निकला तब केवल जेल से ही मुक्त हो नहीं निकला, इस कर्ज से भी मुक्त होकर निकला। यह सब भी अनायास ही मेरे किसी विशेष प्रयत्न के बिना, मित्रों की मेहरबानी से, हो गया।

जेल से निकलने के बाद कांग्रेस और ब्रिटिश गवर्नमेंट के दरमियान बातचीत होने लगी और यह निश्चय हुआ कि कांग्रेस को शासन का भार उठाना चाहिए। किस तरीके से किन शर्तों पर हम लोग गवर्नमेंट में आये और कैसे हमें स्वतंत्र होकर एक गणतंत्र बन गए, यह एक लम्बी कहानी है जिसको यहां कहना न तो ज़रूरी है और न उपयुक्त ही। केवल अपने संबंध की बातें लिख देना काफी है।

१९४६ के सितम्बर में हम लोग गवर्नमेंट में शरीक हुए। जवाहर-लालजी प्रधान मंत्री और मैं कृषि व खाद्य-विभाग का मंत्री। उसके कुछ

ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह सब अधिकार भारत को सौंप देगी, और इसके लिए उसने १९४८ का जून मास मुकर्रर किया। लार्ड वेवल चले गए और उनके स्थान पर लार्ड माउण्टबेटन आ गए और उन्होंने स्थिति का अध्ययन करके यह राय दी कि भारत को स्वतंत्र करने की तिथि जून, १९४८ से हटाकर १५ अगस्त, १९४७ कर दी जाय और ब्रिटिश सरकार ने उसे मंजूर कर लिया। एक इंडिया इंडिपेंडेंस ऐक्ट भी ब्रिटिश पार्लमिंट ने पास कर दिया जिसके द्वारा औपनिवेशिक अधिकार भारत को तत्काल ही मिल गए और संविधान-सभा को अधिकार दे दिया कि यदि वह चाहे तो भारत पूर्ण रूप से अपने को स्वतंत्र भी बना सकता है। साथ ही भारत के दो टुकड़े भी कर दिये गए।

इस वर्ष में बंटवारा ले करके बहुत काम करना पड़ा, क्योंकि १५ अगस्त के पहले ही जहां तक हो सके, सब चीज़ों का बंटवारा कर लेना आवश्यक था। इसलिए एक बंटवारा कमेटी बनाई गई, जिसमें कांग्रेस की ओर से सरदार वल्लभभाई और मैं और मुस्लिम लीग की ओर से मि० जिन्ना और मि० लियाकतअली खां सदस्य बनाये गए। तब परिश्रम भी बहुत करना पड़ा। पर चूंकि मुस्लिम लीग उस वक्त तक संविधान-सभा के काम में भाग नहीं लेती थी, संविधान-सभा का काम कुछ हल्का सा ही रहा; और यद्यपि कई कमेटियों के जिम्मे विभिन्न विषय दे दिये गए और पूरे संविधान का मसविदा भी श्री बेनिगल नरसिंहराव ने तैयार कर लिया, उसकी बैठकें कम हुई और अधिक परिश्रम नहीं पड़ा। इस तरह मैं दोनों कामों को संभाल सका।

जब कृपलानीजी ने कांग्रेस के सभापतित्व से इस्तीफा दे दिया और वर्किंग कमिटी ने यह निश्चय कर दिया कि उसे मंजूर करने के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है, तब यह प्रश्न उठा कि उनकी जगह पर कांग्रेस का अध्यक्ष किसको बनाया जाय?

वर्किंग कमिटी की बैठक महात्मा गांधी की उपस्थिति में हो रही थी। वह उनका मौन-दिवस था। उन्होंने एक नाम सुझाया, वह श्री जयप्रकाश नारायण का था; पर वहां सदस्यों की राय नहीं हुई और कोई निश्चय नहीं हो सका।

खाद्य और कृषि का काम ऐसा था, जिसका संबंध केवल केंद्रीय सरकार के साथ ही नहीं, प्रांतीय सरकारों से भी घनिष्ठ रूप से था, क्योंकि वे गवर्नमेंट के ही दो विभाग थे। संविधान-सभा का काम एक प्रकार से स्वतंत्र था जिसमें सरकार के साथ कोई सीधा सम्पर्क नहीं था, इसलिए मैंने निश्चय कर लिया कि मैं मंत्रिमंडल से ही हट जाऊंगा और उनसे ऐसा कह भी दिया। मुझे ऐसा करने में कोई आर्थिक कठिनाई नहीं थी, क्योंकि यद्यपि यह निश्चय हो गया था कि संविधान-सभा का सभापति वही वेतन इत्यादि पायेगा जो किसी भी मंत्री को मिलता था और चूंकि मैं दोनों कामों के हाथ में होने के कारण दोनों ओर से वेतन नहीं ले सकता था, स्पष्ट था कि जब मैं एक को छोड़ दूंगा तो दूसरी ओर से वेतन मिलने लग जायगा। अगर ऐसा नहीं होता तो दिल्ली में रहकर कांग्रेस-अध्यक्ष का काम चलाना मेरे लिए कठिन होता। पर यह प्रश्न तो उठा ही नहीं। जो बात मुझे चुभती थी वह तो यह थी कि पूज्य बापू से भी इस संबंध में न तो उन लोगों ने कोई राय ली और न मैंने, और न मालूम वह क्या पसंद करते। इसलिए मैं वहां से फुरसत पाते ही बापू के पास गया और उनसे सब बातें कह सुनाईं। उन्होंने एक पुर्जे पर लिखकर यह पूछा कि मैंने इसको मंजूर क्यों किया? मैंने इसका उत्तर दिया कि मेरे सामने यह प्रश्न इस रूप में आया कि मैं गवर्नमेंट का सदस्य रहना अधिक पसन्द करता हूं या कांग्रेस का अध्यक्ष होना? और जब इस रूप में यह प्रश्न आया तो इसका दूसरा उत्तर मैं दे ही क्या सकता था? मैं यही कह सकता था कि कांग्रेस की अध्यक्षता को अधिक महत्त्व देता हूं। यह सुनकर उन्होंने लिखा कि मेरे लिए यही उचित था, मगर उन लोगों को ऐसा नहीं करना चाहिए था, क्योंकि खाद्य और कृषि-विभाग में जो काम मैं कर रहा था, वह भी बड़े महत्त्व का था। उस समय बापू इस बात पर बहुत जोर दे रहे थे कि खाद्य पदार्थों पर से नियंत्रण उठा लिया जाय और मैं उसके लिए अपने को और अपने विभाग को, और दूसरे संबद्ध लोगों को भी, तैयार करने में लगा दूं। मैं वहां से सीधे अखिल भारतीय कमिटी की बैठक में गया और जब मेरा नाम प्रस्तावित हुआ तो मैंने उठ करके साफ-साफ कह दिया कि मैं इसको स्वीकार करता हूं, पर इस शर्त पर कि जल्द-से-जल्द मुझे खाद्य और कृषि-विभाग के भार

से मुक्त कर दिया जाय। हां, जबतक कोई दूसरा आदमी उस काम पर नियुक्त न कर दिया जाय मैं उसे चलाऊंगा, पर तबतक कांग्रेस का भार नहीं उठाऊंगा।

मेरे स्थान पर श्री जयरामदास दौलतराम की नियुक्ति, और बिहार की गवर्नरी से हटकर दिल्ली में आकर उन विभागों के काम संभालने में, प्रायः दो महीने लग गए और इसलिए मैं प्रायः जनवरी १९४८ के दूसरे सप्ताह तक कांग्रेस का सभापतित्व नहीं कर सका। एक प्रकार से इतने समय का मिलना अच्छा ही हुआ, क्योंकि इस बीच में मैं खाद्य-नियंत्रण को हटाने में एक प्रकार से सफल भी हो गया। विधान-सभा ने मेरे प्रस्ताव को मंजूर कर लिया। मैंने साफ-साफ बता दिया था कि हो सकता है कि इसका असर यह हो कि खाद्यान्नों के दाम कुछ बढ़ जायं, पर कुछ दिनों के बाद वे फिर कम हो जायंगे और अनुभव प्राप्त करके हम लोग इस निश्चय को स्थायी बना सकेंगे। इस तरह मैं कांग्रेस का सभापति तीसरी बार, अनायास और अपनी इच्छा के विरुद्ध, बना दिया गया।

थोड़े ही दिनों के बाद महात्मा गांधी का स्वर्गवास हो गया। गांधी-स्मारक निधि के लिए पैसे जमा करने का और एक समिति बनाने का भार मेरे ऊपर आया। यद्यपि यह काम केवल कांग्रेस का नहीं था, तो भी इसमें कांग्रेसी लोगों की सहायता अपेक्षित थी और उसका अध्यक्ष होने के कारण यह मेरा कर्तव्य हो गया कि मैं इसका संगठन करूं।

सब चुनाव न हो जायं और केंद्र और प्रांतों के मंत्रिमंडल न बन जायं, तब-तक उन्हीं धाराओं के अनुसार शासन-कार्य चलेगा। इसलिए संविधान में भी यह स्पष्ट रूप से बता दिया था कि अमुक धाराएं स्थायी रूप से १९५० से ही लागू होंगी और अमुक धाराएं चुनाव इत्यादि हो जाने के बाद, और अमुक धाराएं चुनाव होने तक ही। राष्ट्रपति का संविधान में विशेष स्थान है, इसलिए इस दरम्यानी काल में ही राष्ट्रपति का होना तो आवश्यक था, पर संविधान के स्थायी नियमों के अनुसार उसका चुनाव उस वक्त नहीं हो सकता था, क्योंकि वह राज्यीय विधानसभाओं और भारतीय संसद के चुनाव पर निर्भर था। संविधान में यह निश्चय कर दिया गया था कि २६ जनवरी, १९५० के बाद भी जबतक नये चुनाव न हो जायं, संविधान-सभा और राज्यों में वहां की विधानसभाएं काम करती रहें और संविधान-सभा को यह अधिकार दे दिया था कि वह दरम्यानी काल के लिए राष्ट्रपति को चुन ले। संविधान के लागू होने के कुछ पहले से ही चर्चा होने लगी कि राष्ट्रपति किसको चुना जाय।

मुझे इधर-उधर से खबर मिलने लगी कि कुछ सदस्य चाहते हैं कि मैं ही चुना जाऊं, पर अभी हमारे कांग्रेसी तथा दूसरे नेताओं के क्या विचार हैं, इसका पता नहीं था। मैंने इस संबंध में न तो कोई चिंता की और न प्रयत्न; इसलिए एक समय मुझे यह जानकर दुःख हुआ कि नेताओं ने इस विषय पर विचार किया है और फैसला किया कि बेहतर होगा कि मुझे यह पद न देकर एक दूसरे सज्जन[1] को दिया जाय और इस बात की मुझे सूचना दी गई। मुझे इसका रंज हुआ कि मैंने तो कभी इस पद के लिए न इच्छा प्रकट की थी और न किसीसे कुछ कहा ही था; फिर दो आदमियों का मुकाबला करके एक को चुनने और दूसरे को नामंजूर करने का सवाल ही कैसे होता था। अगर मुझको इशारे से भी यह कहा जाता कि नेताओं का विचार है कि उनको ही (राजाजी को) राष्ट्रपति होना चाहिए, तो मेरा उनके प्रति ऐसा आदरभाव है कि मैं स्वयं खुशी से उनके चुने जाने में जो कुछ मुझसे

---

१. दूसरे व्यक्ति से तात्पर्य यहां श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी से है.

हो सकता, मैं प्रयत्न करता। पीछे चलकर यह बात प्रगट नहीं होने पायी। विशेष करके इस कारण, कि सदस्यों का बहुत बड़ा बहुमत मुझे ही चाहता था। अंत में मैं एकमत से चुन लिया गया। यह भी एक प्रकार से मेरे लिए अनायास ही ईश्वर की कृपा और मित्रों और सहकर्मियों की सद्भावना का फल था। इसी तरह दो बरसों के बाद जब संविधान के नियमों के अनुसार राज्यीय विधानसभाओं और केंद्रीय संसद के चुनाव हो गए और राष्ट्रपति चुनने का समय आया तो मुझे फिर सब लोगों ने मिलकर चुन लिया।[1] यूं तो कहने के लिए, कांग्रेस पक्ष के बाहर कुछ दूसरे पक्षवालों की ओर से भी, यह दिखलाने के लिए, कि चुनाव निर्विरोध नहीं हुआ, श्री के० टी० शाह खड़े हो गए थे; पर सभी जानते थे कि केवल कांग्रेसी सदस्य ही नहीं बल्कि कांग्रेस के बाहर के भी मेरे ही पक्ष में मत देंगे और मेरा चुनाव निश्चित था। इस तरह इस सर्वोच्च पद तक मैं बिना प्रयास के पहुंच गया।

मेरे कई मित्रों ने कहा है और आश्चर्य प्रकट किया है कि मैं कुछ नहीं चाहता और तो भी मुझे सब कुछ अनायास ही मिल गया; और वे स्वयं छोटी-छोटी चीजों के लिए भी बहुत प्रयत्न करते हैं तो भी असफल रह जाते हैं और उनको इसका दुःख होता है। मैं अपने को इस विषय में बहुत भाग्य-

---

१. १९५७ के राष्ट्रपति के चुनाव के संबंध में राजेंद्रबाबू का पत्र नीचे दिया जाता है—

वान मानता हूं, क्योंकि मुझे ऐसा अनुभव जीवन-भर में शायद ही कभी हुआ हो जब मैंने किसी चीज की इच्छा की हो और वह मुझे न मिली हो, और उसके न मिलने के कारण मुझे दुःख हुआ हो। इसका कारण यह नहीं है कि मैंने जिस चीज की इच्छा की वह मुझे मिल ही गई; बल्कि उसका कारण यह है कि मैंने किसी चीज की ऐसी इच्छा नहीं की कि उसके बिना मुझे दुःख हो। मैं यह भी कह सकता हूं कि किसी चीज के मिल जाने पर, चाहे वह कैसी ही चीज क्यों न हो (धन, संपत्ति, मान-मर्यादा जो कुछ भी मुझे मिलता है), उसे मैं स्वीकार कर लेता हूं और कभी भी इस प्रकार के उत्सव न कभी किये हैं और न पसंद करता हूं, जो बहुधा इच्छापूर्ति पर लोग किया करते हैं।

मैंने समझ लिया है कि सुखी रहने का और दुःखी न होने का एक सुंदर पर जबरदस्त साधन यह है कि कोई इच्छा अथवा आशा ही न की जाय, जिससे पीछे उसकी पूर्ति का प्रश्न उठे। मैं चाहूंगा कि हमारी यह वृत्ति, अब

सोच-विचार के बाद में मैंने उसे भेज भी दिया। प्रधान मंत्री तथा अन्य व्यक्तियों से जब मैंने परामर्श किया तो उन्होंने इसे पसन्द नहीं किया। इसलिए मुझे खामोश हो जाना पड़ा।

तब से मैंने इस सवाल को नहीं उठाया; लेकिन दूसरे लोग मुझसे ऐसे सवाल पूछकर परोक्ष रूप से, अथवा खुले शब्दों में प्रत्यक्ष रूप से, यह सुझाव देते रहे हैं कि मुझे फिर से चुनाव के लिए खड़ा होना चाहिए और वे जताते हैं कि अगर मैं खड़ा हुआ तो फिर से चुन लिया जाऊंगा। मैं उन्हें एक ही जवाब देता रहा हूं और वह यह कि मैं अब तक सत्ता अथवा सम्मान के किसी स्थान के लिए कभी प्रत्याशी नहीं बना, लेकिन मुझे ऊंचे-से-ऊंचे लगभग सभी स्थानों पर उन व्यक्तियों की स्वेच्छित तथा अयाचित सहायता से बिठाया गया है, जो कि उन चुनावों में मत देने के अधिकारी हैं। वास्तव में कांग्रेस के संगठन में कुछ अवसरों पर मुझसे जिम्मेदारी और सम्मान के पद लेने को कहा गया है, लेकिन यह अपेक्षा रही है कि उन पदों पर कुछ कटु कार्य भी किये जायं। मैं इस प्रकार के पदों से भी बचा या हटा नहीं। इस पृष्ठभूमि में मुझसे शायद ही यह आशा रखी जा सकती है कि मैं अपने जीवन के अन्तिम समय में चुनाव लड़ूंगा। यदि इस प्रकार का प्रस्ताव किया गया तो कदाचित् उसे अस्वीकार करना मेरे लिए मुश्किल हो, हालांकि अपनी निजी इच्छा के अनुसार मुझे इस विषय में किसीके भी साथ चर्चा करना असंभव प्रतीत होता है।

—राजेन्द्र प्रसाद

जो चंद दिन जीवन के बच रहे हैं, ज्यों-की-त्यों बनी रहे, जिसमें मुझे कभी निराश या दुःखी न होना पड़े। उनमें मुझे एक ही कमजोरी मालूम होती है और वह यह है कि इस तरह ईश्वर के प्रति भी श्रद्धा और आशा की भावना कमजोर पड़ गई है। उसके प्रति तो श्रद्धा होनी ही चाहिए कि वह प्राप्त हो जाय, परंतु जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक दुःख में ही सुख मानना चाहिए। पर कौन जानता है, वह तो दीनदयालु है, अंतर्यामी है और योग्य-अयोग्य का विचार किये बिना ही द्रवीभूत व कृपालु हो सकता है। तो क्या वह भी अनायास ही मिल जायगा? उसके पाने के लिए सारे जीवन में संयम और भक्ति करनी पड़ती है, क्या इन दोनों के अभाव में भी वह किसी पर कृपा कर सकता है? अगर हां, तब तो कोई डर की बात नहीं है, यद्यपि योग्यता कुछ भी नहीं हो। पर अगर नहीं, तो इस जीवन में वही रास्ता दिखलायेगा और उसपर चलने की शक्ति भी देगा। इतनी आशा भी धृष्टता हो सकती है, पर इसके सिवा दूसरा कोई चारा नहीं; और सिवाय यह कहने के कि 'प्रभु, मोरे अवगुन चित न धरो' और दूसरा कुछ कह भी नहीं सकता।

—राजेंद्र प्रसाद

जिन बातों की चर्चा राजेंद्रबाबू ने ऊपर की है, उनको तथा आगे घटनेवाली घटनाओं की जानकारी के साथ-साथ उनके मनोभाव और विचार आगे के पृष्ठों में संगृहीत उनके पत्रों से मिलते हैं।

इसके साथ-साथ यह भी सही है कि मैं यहाँ अधिक आराम से रहता हूँ और मेरे यहाँ रहने का जीवन-स्तर उससे कहीं अधिक ऊंचा है, जो दिल्ली आने से पहले था। खूबसूरत कालीन, गद्दे, तकिए और कमरों की साज-सज्जा, कमरे को ठंडा और गरम करने के लिए वातानुकूलित मशीनें और बिजली के हीटर सभी उस ऊंचे दर्जे के हैं जिन्हें पाने की इच्छा हमारे देश में हरेक को हो सकती है, और जैसा मैंने कहा, इन सभी चीजों का स्तर बहुत ऊंचा है जिनका आनन्द इससे पहले मैंने अपने जीवन में नहीं उठाया। लेकिन क्या इसको भी विलासिता का जीवन कह सकते हैं? हो सकता है कि आरामदेह स्थिति में किया हुआ कठिन परिश्रम शायद कठिन परिश्रम नहीं रहता हो। लेकिन कठिन न रहने पर उसका अर्थ यह तो नहीं कि इस सुविधा को हम विलासिता का नाम दें। जो भी हो, इससे मेरे मन में एक प्रश्न जरूर खड़ा होता है जो मेरे लिए विचार करने योग्य है। शायद यह मेरे लिए चेतावनी भी हो कि मैं यहाँ जरूरत से ज्यादा ठहरा हुआ हूँ। सचाई क्या है, मैं नहीं जानता। केवल इतना जानता हूँ कि इस सम्बन्ध में मुझे विचार करना चाहिए, और जैसा मैंने ऊपर कहा, सभी बातें विचारणीय हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

२२–११–५७

बेटी ज्ञान,

मेरी एक समस्या है जिसे मुझे सुलझाना है। समस्या यह है कि मैं डाक्टर के लिए हूं या डाक्टर मेरे लिए? डाक्टरों ने मुझे अच्छा मरीज होने का सर्टिफिकेट दिया है, क्योंकि मैं उनकी दी हुई हिदायतों का बराबर पालन करता हूं। और जो वे बताते हैं, वही खाता-पीता हूं। आधी दवाइयों से मुझे कुछ आराम मिलता है, लेकिन मुझे यह भी कहा गया है कि मरीज की आधी बीमारी उसके अपने शरीर की ताकत और शक्ति से भी कम हो जाती है, भले ही वह किसी भी पद्धति—चाहे आयुर्वैदिक, होम्योपैथी या ऐलोपैथी—का उपचार क्यों न कराये।

एक बार मैं जब बहुत सख्त बीमार था और होम्योपैथी की दवा ले

कहा था, उस समय मैंने उस डाक्टर से वायदा किया था कि जबतक उनका उपचार हो रहा है, मैं और कोई दवा नहीं लूंगा। ऐलोपैथ डाक्टरों की मुझपर बड़ी कृपा रही है और समाज में उनकी विशेष प्रतिष्ठा और उनकी दवाइयों में भी मरीज के दर्द को जल्दी दूर करने का गुण होने की वजह से कई वर्षों से मैं उन्हींके तावे में हूं। उस गंभीर बीमारी के वक्त भी उनकी मुझपर निगाह थी और दिन-प्रतिदिन मेरी हालत खराब होती देखकर उनकी चिन्ता बढ़ती जा रही थी। होम्योपैथ डाक्टर अपनी पद्धति के उपचार के अनुसार और कोई दूसरी दवा न देकर अपनी दवा की मात्रा पर ही भरोसा किये हुए था और मेरी बिगड़ती हुई हालत को वह 'अपनी दवा की प्रतिक्रिया है,' यही बता रहा था। आखिरकार ऐलोपैथ डाक्टरों ने उन्हें कलकत्ते से बुलाने पर जोर दिया, ताकि वह अपने सामने मेरी देखभाल कर सकें। वह आये पर मुझे कोई और दवा नहीं दी। कुछ दिनों के बाद मेरी हालत सुधरने लगी और जल्दी ही ऐलोपैथ डाक्टरों ने पाया कि चिन्ता के जो चिह्न थे वे सब अब दूर हो गए हैं।

उनमें से एक डाक्टर ने मुझे बताया कि हो सकता है इस अच्छे होने का कारण मैं उस गंभीर हालत के पहले दी गई दवा की बड़ी मात्रा को मान बैठूं, लेकिन उनके मत से मेरे अच्छे होने का कारण मेरे शरीर में निहित ताकत थी। तो बात यह है कि जहां ऐलोपैथ डाक्टरों की अपनी दवा का उपचार नहीं होता, वहां वे भी मानते हैं कि मरीज अपने शरीर के अन्दर की ताकत से ठीक हो सकता है।

आज मेरे सामने एक प्रश्न है, वह यह कि एक स्वामीजी ने मुझे कोई दवा दी है जिसे ४०-४५ दिनों तक लेने पर उनके कहने के अनुसार मैं सभी बीमारियों से हमेशा के लिए मुक्त हो जाऊंगा। कहा जाता है कि उसमें पारे का अंश है। मेरे डाक्टर कहते हैं कि पारे का हानिकारक असर होता है, जिसका बाहर से बहुत समय तक पता नहीं चलता। स्वामी जी दावा करते हैं कि निश्चित रूप से इस दवा का ऐसा कोई असर नहीं होगा और वह दूसरों पर इसे आजमा भी चुके हैं और उनपर इसका कोई भी बुरा असर नहीं पड़ा है। लेकिन मेरे डाक्टर ने सलाह दी है कि

मैं यह दवा न लूं। क्योंकि यदि खुदा-न-ख्वास्ता कोई बात हुई भी, तो दोष उनपर ही आयेगा। इसलिए प्रश्न है, मैं डाक्टर के लिए हूं या डाक्टर मेरे लिए ?

—राजेंद्र प्रसाद

१५–७–५६

बेटी ज्ञान,

बरसों पहले दो बार जेल जाने की बीच की अवधि में मुझे कलकत्ता जाना पड़ा। वहां जाने का उद्देश्य कार्यकर्त्ताओं से मिलना और स्वाधीनता-आंदोलन के लिए फंड इकट्ठा करना था। एक दिन सवेरे मैं कलकत्ता-मैदान में टहलने के लिए गया। दूर से मैंने देखा कि एक बड़ी कार जिसके आगे मोटरगाड़ी थी और पीछे भी बहुत-सी कारें थीं, जुलूस की शक्ल में जा रही थी। मैंने ऐसा दृश्य अपने जीवन में पहले कभी नहीं देखा था और इसलिए स्वाभाविक ही मेरी उत्सुकता भी जगी। पूछने पर मुझे मालूम हुआ कि वह गवर्नर की सवारी थी और गवर्नर बाहर घूमने के लिए निकले थे। मैं उसी समय जेल से बाहर आया था और आशंका यह भी थी कि जल्दी ही फिर वापस जेल जाना होगा, यह जानते हुए भी मैं मन-ही-मन यह सोचे बिना न रह सका कि वास्तव में जेल में रहते हुए भी मैं स्वतंत्र व्यक्ति हूं, या इस बड़ी शक्ति और शान के साथ रहनेवाले यह गवर्नर ?

मैंने स्वप्न में भी उस समय इस बात की कल्पना नहीं की थी कि एक दिन वह भी आयेगा, जब मुझे भी उस तरह की कैद की सजा होगी जिस तरह की कैद में मैंने गवर्नर को देखा था। आज मुझपर उससे भी ज्यादा निगरानी और पहरा रहता है जब मैं जेल में रहता था। यह पहरा केवल तभी नहीं रखा जाता जब मैं बाहर जाता हूं, राष्ट्रपति-भवन में भी मुझे अकेले नहीं छोड़ा जाता और रात-दिन हमपर कड़ी निगरानी रहती है। यदि आधी रात को भी, जब मैं पानी पीने या पेशाब जाने के लिए उठता हूँ तब भी मुझे मालूम है, एक-दो आदमी मेरीचौकी दारी करते रहते हैं। आश्चर्य नहीं, यदि मेरी हर करवट को कोई न कोई देखता हो और नोट

सकता हो। अब और उन पुराने दिनों के जेल-जीवन में केवल एक ही ध्यान में आने योग्य अन्तर है। उस समय हम कई लोगों पर, जिन्हें एक बैरक में बंद कर देते थे, पहरा देने के लिए केवल एक संतरी होता था। एक माने में उसे उस तालेबंद दरवाजे की निगरानी करनी होती थी, उसमें बंद हर कैदी पर नजर रखना उसके लिए मुश्किल था। यहां एक आदमी की गतिविधि पर नजर रखने के लिए कई सारे व्यक्ति हैं और वह भी रात-दिन उन्हें उसकी निगरानी करनी पड़ती है। कई बार तो उससे बड़ी खीझ होती है, पर वश की बात नहीं। इस विषय में कुछ किया नहीं जा सकता। महात्माजी की हत्या और प्रधानमंत्री के जीवन पर आक्रमण के प्रयत्न के बाद हम उन लोगों को दोष नहीं दे सकते जो हमारी सुरक्षा के लिए जिम्मेदार हैं और किसी प्रकार का जोखिम वे उठाना नहीं चाहते, यह स्वाभाविक है। भले ही वे लोग सुरक्षा के लिए जो कुछ करते हैं वह जरूरी है या नहीं, अथवा वह कुशलतापूर्वक किया जाता है या नहीं, यह दूसरी बात है। इससे यह बात फौरन ही समझ में आती है और उसकी कल्पना की जा सकती है कि उन निरंकुश बादशाहों और शासकों की क्या हालत होती होगी जब हमारी यह हालत है जो लोगों द्वारा चुनकर आते हैं और जो जनता के चुनिंदा प्रतिनिधि माने जाते हैं। मैं समझता हूं, उन पर तो पहरा और भी कई गुना कड़ा होता होगा।

मैं नहीं जानता कि मैं जो कुछ खाता हूं, उसकी भी छानबीन होती है या नहीं। मैं समझता हूं ऐसा नहीं होता कम-से-कम हमेशा तो नहीं ही होता। लेकिन अभी कुछ दिन हुए, एक मजेदार बात हुई। मेरे सम्मानी (ऑनरेरी) स्टाफ में एक यूनानी चिकित्सक भी हैं। मैंने उन्हें कुछ दवा देने को कहा था जो वह स्वयं शीशी में लेकर आये। उस दवा में क्या-क्या चीज थी और उसे किस प्रकार लेना चाहिए, इसके बारे में मैंने पूछा तब उन्होंने एक चम्मच मंगाया और मुझे दवा की मात्रा बताते हुए उस चम्मच की दवा स्वयं अपने मुंह में रख ली। उन्होंने हमें बताया कि पहले बादशाहों को दवा देने का यही तरीका था। वह दवा ही है, जहर नहीं, इस बात का विश्वास दिलाने के लिए ऐसा करना जरूरी होता था। मुझे उस समय इस बात का एहसास हुआ कि वह हकीमजी स्वयं निजाम की सेवा में रह

चुके हैं और वह इसी तरह निजाम को दवा देते रहे होंगे। तो तुम समझ सकती हो कि यदि मैं इस संबंध में अपने कुछ अनुभव लिखूं कि भारत के राष्ट्रपति बनने पर कैसा अनुभव होता है, तो वे कितने मजेदार होंगे।

—राजेंद्र प्रसाद

राजेंद्रबाबू वेश-परिवेश में, खान-पान में, रहन-सहन में, वाणी और कर्म में, हर तरह से सादगी और सरलता की प्रतिमूर्ति थे, यह सभी जानते हैं। उनकी सरलता इस हद की थी कि उन्होंने कभी अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन नहीं करना चाहा, वह स्वयं अवसर ढूंढ़कर मुखरित भले ही हो गई हो। इसी प्रकार वेशभूषा में भी उन्हें दिखावट कभी पसन्द नहीं आई। वे वस्त्रों को तन ढकने का साधन मात्र मानते थे। वेशभूषा की साज-सज्जा की अपेक्षा हृदय की सुन्दरता को वह हमेशा अधिक महत्त्व देते थे।

कुछ लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा और मुझे भी वाबूजी से ही यह सुनकर, कि उन्होंने अपने जीवन में कभी कंघे का उपयोग नहीं किया, अचरज हुआ। जब वह राष्ट्रपति-भवन में रहने आये तो स्वाभाविक था कि वहां के कमरों, स्ननानगृह इत्यादि की सजावट भी उनके ही अनुरूप हो। उनके कमरे में एक बड़ा-सा आईना था और स्नानगृह में भी ठीक उस स्थान पर था जहां बाबूजी हाथ धोते थे। एक दिन अचानक मुझसे कहने लगे कि "यहां तो अपना मुंह जबरदस्ती आईने में दिखाई दे जाता है। हमें तो आजतक इसका खयाल ही नहीं आया कि हमारा चेहरा कैसा है।" मैं यह सुनकर जब खूब हँसी तो बाबूजी विश्वास दिलाते हुए कहने लगे, "हां सच, हमने राष्ट्रपति-भवन में आने से पहले कभी आईने में अपना चेहरा नहीं देखा।" फिर भी मैं विश्वास न कर सकी, क्योंकि मेरे दिल में तुरन्त प्रश्न खड़ा हुआ और मैंने बाबूजी से कहा, "फिर आप हजामत कैसे करते थे? माना कि यहां तो आपकी हजामत नजीर करता है, पर उस आंदोलन के जमाने में जब इतना सफर करते थे या फिर विद्यार्थी-अवस्था में, जब नाई रोज नहीं मिलता था, आप कैसे हजामत बनाते थे?" बाबूजी ने उसी सादगी से कहा, "आईने के बिना ही करते थे।" पर मेरी बुद्धि ने इसे नहीं माना और मैंने समझा, बाबूजी हँसी कर रहे हैं। उस समय तो मैंने आगे

कुछ न कहा। बाबूजी भी समझ गये थे कि मुझे यकीन नहीं आया। उन्होंने भी यह बात मन में ही रखी। एक बार हम यात्रा में थे। बाबूजी को सैलून में ही तैयार होना था। नजीर हमारे साथ नहीं था। सुबह हाथ-मुंह धोने पर जब उन्होंने हजामत का सामान सामने रखा पाया, तो मेरी ओर देखकर मुस्करा दिये और फिर बोले, "देखना चाहती है, हम आईने के बिना हजामत कितनी अच्छी तरह कर लेते हैं ?" और ऐसा कहकर उन्होंने अपनी हजामत बनाना शुरू कर दिया। मैंने ध्यानपूर्वक देखा, दो मिनिट भी नहीं लगे बाबूजी को, इतनी सफाई से और इतनी जल्दी उन्होंने हजामत बनाई थी। 'प्रत्यक्षे किम् प्रमाणम्'--कहते हुए बाबूजी ने इस तरह मेरी ओर देखा कि एक मात खाये हुए बच्चे की तरह मैं झेंप गई। हम दोनों खूब हँसे।

बाबूजी ने अपनी वेशभूषा और दिखावे इत्यादि पर कुछ मजेदार चुटकियां भी ली हैं और बचा की कहानी की तरह मुझे न केवल ये चुटकुले सुनाये, बल्कि लिखकर भी दिये। ईसप के किस्सों की तरह हमें जीवन की इन छोटी बातों से भी बड़ी-बड़ी सीखें मिल सकती हैं।

१६-७-५६

बेटी ज्ञान,

मैंने कुछ अजीब मिजाज पाया है। मैं कुछ सचाई के साथ कह सकता हूं कि जीवन में एक या दो अवसरों को छोड़कर कभी कोई महत्त्वाकांक्षा मेरे मन में नहीं आई। मैंने कभी भी वेशभूषा अथवा अपने रूप के दिखावे पर कोई महत्व नहीं दिया, बल्कि इन बातों में मैंने दिखावे की अपेक्षा आराम और सहूलियत को ही प्राथमिकता दी। मुझे कुछ मजेदार घटनाएं याद आती हैं जिनका जिक्र मैं यहां करूंगा। ये घटनाएं मेरे जीवन के अलग-अलग जमाने की हैं।

मैं तबतक विद्यार्थी था, छपरा में रहता था और वहीं से मैं कलकत्ता-विश्वविद्यालय की एंट्रेंस परीक्षा में बैठा था। छपरा ४० से ५० हजार की आबादीवाला एक जिला शहर है। उसकी गणना फेशनेबल शहरों में नहीं होती है, बिहार के भी नहीं। अन्य प्रांतों के मुकाबले में बिहार सामान्य रूप से अपने जीवन और रहन-सहन में अधिक सादा है और इस दृष्टि से

छपरा की गिनती तो बिहार के शहरों में भी सबसे पीछे होती है। लेकिन इसीलिए हम दूसरी बातों में भी उसकी हँसी नहीं उड़ा सकते। पिछले ४०-५० वर्षों में छपरा ने बिहार को कई नेता दिये हैं। उसने ऐसे विद्वान् पैदा किये हैं जिन्होंने बिहार में ही नहीं, उसके बाहर भी यश प्राप्त किया है। लेकिन वेशभूषा में और देखने में यह शहर आस-पास के गांवों से भिन्न नहीं है।

जब मैं एंट्रेंस की परीक्षा देने पटना गया, जिसका केंद्र उन दिनों वहीं था, तो मेरे एक रिश्तेदार ने बड़ी गंभीरता से एक सवाल मुझसे पूछा, जिससे मैं बहुत हैरान हुआ। उसने मुझसे यह पूछने की परवाह तो नहीं की कि मेरी परीक्षा की तैयारी कैसी हुई और मुझे क्या आशा है? उसने मुझ से यह पूछा कि परीक्षा देने जाते समय मैं कौन-से कपड़े पहनूंगा? मुझे यह पूछना बड़ा अजीब लगा और तुम आसानी से कल्पना कर सकती हो कि मुझे उससे थोड़ी खीझ भी हुई। मैंने जवाब में कहा कि जैसे मैं स्कूल में कई बार अचकन और पाजामा पहनकर जाया करता था, वही पहनकर जाऊंगा। मैंने देखा कि इस जवाब से वह संतुष्ट हुए और यह देखकर खुश भी हुए कि मैंने इस अवसर के महत्व और उसकी विशेषता को ठीक से समझकर उसके अनुकूल कपड़े पहनने की आवश्यकता को ठीक तरह से समझ लिया था। जब मैं प्रेसीडेंसी कालेज में दाखिल हुआ तो अचकन और पाजामे के बारे में एक बड़ी मजेदार घटना घटी। इसी वेश के कारण डा० पी० सी० राय-जैसे प्रसिद्ध विद्वान् और रसायनशास्त्री ने, जब मैं पहले-पहल उनकी क्लास में गया तो, मुझे मुसलमान मान लिया। यदि वह मेरा नाम न जानते होते, जो उन्हें एंट्रेंस परीक्षा में मेरे प्रथम आने की वजह से मालूम था, तो वह हमेशा यही समझते रहते। मैं कभी-कभी सोचता हूं कि पता नहीं वह प्रेमभाव भी मुझे मिलता या नहीं जो उनके हृदय में मेरे प्रति रहा।

लेकिन मेरा वेश सदा दूसरों का ध्यान आकर्षित करता रहा। एक बार पंडित मोतीलाल नेहरू ने जाड़े के महीने में मुझे बड़े झब्बे-से कोट में देखा। मेरे वेश की ओर इशारा करते हुए, कुछ इस तरह हँसी उड़ाते हुए कहा, जैसे मैंने सिर्फ जाड़े से बचने के लिए ही कपड़े पहने हों। मेरे यह

पूछने पर, कि सर्दियों में कोई जाड़े से बचने के अलावा और किसलिए कपड़े पहनेगा, उन्होंने कहा कि "कपड़े सिर्फ ठंड से बचने के लिए या देह की रक्षा के लिए ही नहीं पहने जाते, वे इसलिए भी पहने जाते हैं कि दूसरे देखें और तारीफ करें कि हां, कोई कपड़े पहने है।" मुझे सुनकर मजा तो आया, पर तसल्ली नहीं हुई।

जब मैं कलकत्ता-हाईकोर्ट में वकालत करता था तो एक बड़े वकील, जिनकी वकालत खूब चलती थी और जो मुझे पसंद भी करते थे, मुझसे अक्सर कहा करते कि यदि मैं सिर्फ ठीक तरह से कपड़े पहनूं तो मेरे व्यक्तित्व में चार चांद लग जायं और मेरी वकालत भी चले ही नहीं, दौड़ पड़े।

और जब मैं भारत का राष्ट्रपति चुना ही जानेवाला था, तभी अपने गांव गया। मैं अपने गांववालों की तरह ही धोती पहने और कंधे पर गमछा डाले खेत पर घूमने निकल गया। कुछ फोटोग्राफरों ने मेरा पीछा किया और उन गांववालों के बीच बातें करते, खेत में घूमते हुए उसी दशा में मेरे कई फोटो ले लिये। लेकर वे खुश हुए। इसी तरह एक फोटोग्राफर ने कल्याण-स्टेशन पर प्लेटफार्म पर ही नल के नीचे नहाते हुए मुझे पकड़ा और फोटो ले लिया। यह तब की बात है जब मैं कांग्रेस का राष्ट्रपति था। था। लेकिन मुझे अभी और कहना है जो मैं बाद में बताऊंगा।

—राजेंद्र प्रसाद

१७-७-५६

ज्ञान बेटी,

वेश के बारे में एक बार इंग्लैंड में मुझे बड़ा मजेदार अनुभव हुआ। मैं वहां भारतीय वेश में ही रहता था, अर्थात् लम्बा कोट, पतलून और गांधी-टोपी पहनता था। मैं अपने साथ खादी-ऊन के सूट बनवाकर ले गया था जो बहुत भारी थे और ठंड के मौसम के लिए अनुकूल थे। जब गर्मी आई तो कुछ हल्के सूट की जरूरत पड़ी। गर्मी के लिए ऐसे कपड़ों की जरूरत पड़ेगी, सोचकर अपने साथ हलका कपड़ा भी ले गया था। लंदन में हमारे एक मित्र थे जो बहुत सालों से वहीं रहते थे और हमारी देखभाल

करते थे। मैंने उन्हें नाप के लिए अपना एक सूट और उस नाप का दूसरा सूट बनवा देने के लिए कपड़ा दे दिया। वह किसी दर्जी के पास गये तो दर्जी ने उन्हें कहा कि वह ठीक पहले सूट के जैसा ही दूसरा सूट बना देगा। पर जब वह महाशय कोट लाये तो मैंने देखा कि उस कोट में गले तक बटन सीधी लाइन में नहीं लगे थे, पर ऊपर का आखिर के दो बटन कानों की ओर जाते हुए टेढ़ी लाइन में लगाये गए थे। मुझे समझ में नहीं आया कि अब क्या किया जाय। मुझे हल्के कोट की बड़ी सख्त जरूरत थी और मेरे पास दूसरा कपड़ा भी नहीं था। भारत से कपड़ा मंगाने में तीन-चार हफ्ते लग जाते। और हम 'हाथ-कते, हाथ-बुने' कपड़े के अलावा दूसरा कपड़ा इस्तेमाल नहीं करते थे। इसलिए मैंने बहुत साहस करके उसी सूट को पहनने का निश्चय किया। मेरे कुछ भारतीय मित्रों को कुछ अजीब लगा, लेकिन मैंने उन्हें सारी स्थिति समझा दी और वे मन-ही-मन और बाहर खूब हँसने के बाद चुप हो गए। मुझे भी कुछ कम हँसी नहीं आई, पर कोई दूसरा उपाय न था। मैंने सोचा, और मैं समझता हूं कि मेरा सोचना ठीक था, कि आखिरकार उन लोगों को, जो हमारे बहुत नजदीक नहीं हैं, हमारी वेशभूषा में दिलचस्पी क्यों होगी ! निश्चय ही कोई भी अंग्रेज सही तरीके से बने कोट और गलत ढंग से सिले हुए कोट में, जैसा कि मेरा था, क्या भेद है, यह नहीं पहचान सकेगा। और यदि कोई ऐसा सवाल पूछने की धृष्टता भी करेगा, तो उसका क्या जवाब दिया जाय, यह भी मैंने अपने मन में पक्का कर लिया था। ऐसे बीच में दखल देनेवालों को मैं कहूंगा कि जहां का मैं रहने वाला हूं, वहां का ऐसा ही फैशन है। और भला इस फैशन के लिए कौन मेरा विरोध कर सकता था, खास करके ऐसे मनुष्य के फैशन के बारे में और वह भी जो मेरे-जैसी हैसियत वालों और महात्मा तथा सत्याग्रहियों के साथ रहनेवाले व्यक्ति का पहनावा हो। और इस तरह मेरा टेढ़े बटनवाला कोट चल गया। कौन कह सकता है कि मैं फैशन नहीं चला सकता ? बस, दुर्भाग्य से किसी ने उसकी नकल नहीं की।

इसलिए मेरा यह सोचना गलत नहीं है कि कपड़े दिखावे के बजाय आराम और रक्षा की दृष्टि से पहनने चाहिए। लेकिन राष्ट्रपति को अपनी

स्थिति, अधिकार और कर्तव्यों के अनुसार खास अवसरों पर खास तरह के कपड़े पहनने पड़ते हैं। कइयों को मैं वास्तव में अपने पूर्व पापों की सजा ही मानता हूं—अपने पूर्व जन्मों की नहीं—क्योंकि मेरे पास न तो कोई रिकार्ड है और नहीं उनका कोई स्मरण है—पर इसी जन्म के, जबकि मैं इस तरह के कपड़े पहनता था। मैं नहीं समझता कि तब भी मैं इस चूड़ीदार पाजामे या अचकन को पसन्द करता था, पर मैंने उस समय भी आज की तरह ही अपनी मर्जी के खिलाफ उसे पहनना मंजूर कर लिया होगा। पर असल बात यही है। इसलिए ज्ञान, तुम्हें वेश-भूषा को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। हृदय की आन्तरिक भूषा उस बाहरी पहनावे से कहीं अधिक कीमती और उपयोगी है जो उसे ढकता है। जीवन में यही गुण अधिक स्थायी होता है।

—राजेंद्र प्रसाद

लिबास या वेशभूषा को मानव अपने जीवन में क्या स्थान दे, इसपर जनसाधारण में मतैक्य हो सकता है, किंतु असाधारण लोग, जिन्हें प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति कहा जाता है, इस बात पर कभी एकमत नहीं हुए। यदि कुछ लोग लिबास को ही व्यक्तित्व का आईना मानते हैं, तो कुछ इसके महत्त्व से ही इन्कार करते हैं। ऐसे लोगों में, जिन्होंने तन ढकने के सिवा कपड़ों को कोई महत्त्व नहीं दिया, अब्राहम लिंकन भी थे। मैंने सुना और पढ़ा भी है कि कपड़ों की सुघड़ता पर उनका ध्यान कभी नहीं जाता था, फैशन की तो कौन कहे! उन्हें लोगों ने प्रायः बेमेल कपड़े पहने हुए ही देखा। और अमेरिका के राष्ट्रपति चुने जाने पर भी अपनी वेशभूषा पर थोड़ा समय खर्च करने को वे कभी तैयार नहीं हुए।

हमारे देश के नेताओं में इस कोटि में राजेंद्रबाबू आते थे। स्वभाव से जिस सादगी के वे मालिक थे, उनकी वेशभूषा मानो उस सादगी की सबसे बड़ी द्योतक थी। उन्हें भी कपड़े के चुनाव और उसकी बनावट पर, जिसे फैशन कहते हैं, समय खर्च करना कभी गवारा नहीं हुआ। मैंने उनकी 'आत्मकथा' में पढ़ा था और बाद में स्वयं उनसे सुना भी कि उनके कपड़ों आदि की देख-भाल उनके बड़े भाई ही करते थे। बाबूजी ने अपने-आप

शायद ही कभी कपड़े खरीदने की चिंता की होगी। राष्ट्रपति-भवन में करीब ८-१० वर्षों तक उनके लिए कपड़ों के चुनाव की जिम्मेदारी का अधिकार और आनंद मुझे मिला। कभी-कभी मैं गरम कोट, वंडी इत्यादि के लिए कपड़ों के कुछ नमूने बाबूजी को लाकर दिखाती और उनकी पसंद जानना चाहती। पर बाबूजी का तो एक ही दृष्टिकोण था और इसलिए एक ही जवाब मिलता, "जो सबसे सस्ता और मोटा हो, वही ले लो।" एक-दो बार इस तरह जवाब पाकर मैंने उन्हें कपड़े दिखाने बंद कर दिये और अपनी पसंद को ही उनकी पसंद मानकर मैं कपड़े खरीद लेती। मैंने देखा कि बाबूजी कपड़े के रंग पर या बनावट पर तो कभी ध्यान नहीं देते, पर यदि गरम पशमीना अथवा सूती बारीक खादी हो तो उसे देखकर यह कहे बिना न चूकते, "इसकी क्या जरूरत थी... हम तो मोटा खाने और मोटा पहननेवालों में से हैं।" लेकिन वह जानते थे कि कपड़ों के बारे में मेरी पसंद उनकी पसंद से मेल नहीं खाती थी। और फिर कपड़ा बन चुकने पर जिस तरह वह वापस नहीं हो सकता था, मेरी पसंद भी उन्हें मान ही लेनी पड़ती थी। किंतु उनकी सादगी की बानगी भी उनके सरल-सात्त्विक स्वभाव-जैसी ही लाजवाब थी। उनके इस मोटे-झोटे पहनावे के भीतर से दुर्लभ गुणों से सुसज्जित आंतरिक शोभा झांकती थी जो हृदय पर स्थायी छाप छोड़ जाती थी। इसीलिए उनके ये शब्द भूलते नहीं कि "हृदय की आंतरिक भूषा उस बाहरी पहनावे से कहीं अधिक कीमती और उपयोगी है जो हमारे शरीर को ढकता है।" जीवन में यही गुण स्थायी होता है, यह बात उनके अपने जीवन में अक्षरशः चरितार्थ थी और उसी तरह जैसे उनकी सत्यता।

राष्ट्रपति-भवन में रहते अनेक विदेशी मेहमानों का स्वागत राजेंद्र-बाबू को करना होता था। राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री, महाराजाधिराज और महारानी तथा कई सेनाधिपति राष्ट्रपति से औपचारिक रूप से मिलते। उस औपचारिक रूप में भी बाबूजी की अनौपचारिक सादगी का स्वरूप कुछ और ही रहता। एक बार ऐसे ही अवसर पर बाबूजी ने मुझे बताया कि एक दिन जब यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो के साथ बाबूजी बाहर जा रहे थे, तो उनकी सैनिक वर्दी और उसमें लगे तमगों

की शान और चमक-दमक को देखकर बाबूजी मन-ही-मन सोचने लगे कि उनका सादा सफेद कोट है और उसपर कोई तमगा भी नहीं। किंतु उनके हृदय में जो भाव उसके साथ ही उठा, वह सुनकर मुझे भी गर्व हुआ। उन्होंने मुझसे कहा—"जानती हो, हमारे मन में क्या खयाल आया? हम मार्शल टीटो को और अपने-आपको देखते और यही सोचते जाते थे कि सादगी की भी अपनी शान होती है।" मुझे ही क्या, मैं समझती हूं यह सुनकर देश के हर किसी व्यक्ति को गर्व होगा। हमारे राष्ट्रपति की 'सादगी की शान' में देश के दर्शन का सार निहित है। बाबूजी की छोटी-छोटी बातें और जीवन की घटनाएं भी कैसी शानदार होती थीं, मैं यही सोचती रह जाती हूं।

एक सादा कुर्ता और खादी की धोती, जीवन-भर उनकी यही पोशाक रही। किंतु राष्ट्रपति बनने पर उन्हें अचकन और शेरवानी के चक्कर में पड़ना पड़ा। इसे वे फैशन की क्रूरता मानते थे। उनका खयाल था कि यह तो नवाबों की पोशाक थी और राष्ट्रपति एक नवाब नहीं। किंतु औपचारिक प्रसंगों के अनुकूल उन्हें भी औपचारिकता को, बेमन से ही सही, स्वीकार करना पड़ता था। इसे वह वास्तव में एक 'सजा' मानते थे।

१८–७–५६

चि० ज्ञान,

मैंने अपने कल के पत्र में लिखा है कि मुझे विशेष अवसरों पर जो कपड़े पहनने पड़ते हैं, उन्हें मैं अपने 'पापों की सजा' ही मानता हूं। इसका वास्तविक अनुभव मैंने तब किया जब मैं राष्ट्रपति बना। बहुत-सी समस्याओं में से जिस एक बात ने, मुझको तो नहीं, पर मेरे पास के अन्य लोगों को परेशान किया हुआ था, वह थी इस महान अवसर के अनुकूल राष्ट्रपति की नई वेशभूषा। और सच ही एक दिन उसकी सिलाई के लिए एक सबसे कीमती अर्थात् खर्चीले और (इसीलिए सबसे अधिक फैशनेबल भी) कहलाये जाने वाले दर्जी को बुलाया गया तथा मेरे लिए अचकन और चूड़ीदार पाजामा बनाने को उससे कहा गया। एक तरह से तो यह ठीक था, क्योंकि यदि उस समय दर्जी को बुलाकर अचकन और चूड़ीदार

पाजामा न बनवाया होता तो इस महान अवसर के लिए मेरे पास ये कपड़े ही न होते। मैंने ये कपड़े पहने और मैं समझता हूं कि दूसरे लोग, जिनकी दिलचस्पी मुझसे भी अधिक शायद इन कपड़ों में थी, उन्हें ये पसन्द आये, और शायद मुझे भी। लेकिन कुछ दिनों के बाद जब सिलाई का बिल आया, मैंने देखा कि कपड़े के दाम से सिलाई के दाम तिगुने न सही तो दुगने अवश्य थे। और ज्ञान, तुमको आश्चर्य होगा कि मैंने इसे अपने पुराने पापों और पुण्य के हिस्से में डाल दिया, क्यों कि अभी मैं भारत का राष्ट्रपति नहीं बना था और उन कपड़ों को पहनने का पात्र बनने के लिए अभी राष्ट्रपति के रूप में पहले महीने का वेतन भी तो मैंने नहीं पाया था। वायसराय के जमाने में यह प्रथा थी कि अपनी नियुक्ति के समय वायसराय को पद की शपथ लेने से पहले कपड़े इत्यादि के लिए काफी बड़ी रकम मिलती थी। और मैं समझता हूं कि कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों को भी इस प्रयोजन के लिए तीन हजार रुपये मिलते थे। जब मैं कार्यकारिणी परिषद् का, अर्थात् वायसराय के मंत्रिमंडल का, सदस्य बना तो मैंने पाया कि पहले के नियमों और बाद में 'गवर्नमेण्ट आफ इंडिया ऐक्ट, १९३५' के नियमों में और कोई बड़ा गुण हो न हो, यह एक बड़ा गुण अवश्य था। उसके अनुसार हमें अपनी नियुक्ति के समय यह रुपया मिल गया जो अब हमारे संविधान के अनुसार आगे कोई मंत्री नहीं पा सकता। राष्ट्रपति से भी यही आशा की जाती है कि इसके बिना ही वह अपना काम चलाये। इसलिए तुम कल्पना कर सकती हो कि इस पद की इतनी शान तथा शपथ-ग्रहण समारोह की चमक-दमक के बावजूद इस बिल से कैसा ठंडा पानी मुझ पर पड़ा होगा। तुम यह जानकर हैरान होगी कि इसके बाद मैंने कभी अपने-आपको फैशन की क्रूरता के हवाले नहीं किया और अपने कपड़ों को बड़े नामी-गरामी दर्जियों से न सिलवाकर साधारण दर्जी से सिलवाने में ही सन्तोष माना।

जहां तक इस वेशभूषा का ताल्लुक है, चूड़ीदार पाजामा खासकर पहनते और निकालते वक्त तो बस कसौटी और अत्याचार ही है। उसके इतने सिकुड़े पांयचे कहीं ठीक फैशन के अनुसार हों तो फिर उसे पहनना भी मुश्किल है। क्या यह सच नहीं है कि पुराने नवाब जो इसे पहना करते

थे, वे इसके पांयचों को पहनने के बाद सिलवाया करते थे ! एक दर्जी इसके लिए तैयार रहता था कि जब नवाब साहब पाजामा पहन लें तो उसे नीचे से इस तरह सीं दे कि वह निकाला न जा सके; और जब उतारना होता था तो वह उसकी सिलाई को उधेड़ता था, ताकि फिर पहना न जा सके। पर यह तो नवाबों की बात थी। राष्ट्रपति तो एक नवाब नहीं है, इसीलिए उसे कुछ बड़े पांयचे वाले पाजामे से ही सन्तोष करना पड़ता है ताकि वह बिना सिलाई के ही पहना जा सके।

—राजेंद्र प्रसाद

१२–९–५६

बेटी ज्ञान,

सदा की तरह इस यात्रा में भी हर जगह, जहां भी मैं गया, हर संभव जगह पर राष्ट्रपति को देखने लोग इकट्ठे हो जाते। वे अपने राष्ट्रपति के दर्शन के सिवा और कुछ भी नहीं चाहते थे और इसीलिए धूप या वर्षा किसीकी भी परवाह न कर वे घंटों तक, केवल दर्शन-मात्र के लिए, खड़े रहते। कानून और व्यवस्था की दृष्टि से पुलिस भी अपना पूरा इंत-जाम रखती है। ऊपर से आये हुक्म के अनुसार वह लोगों को उनके द्वारा ही चुने हुए राष्ट्रपति से दूर रखती है। यहां तक कि सार्वजनिक सभा में भी, जहां हजारों लोग जमा होते हैं, राष्ट्रपति को उनसे कुछ दूर ही रखा जाता है। इसके लिए जो उपाय निकाले जाते हैं वे हैं : मंच से एक निश्चित दूरी पर भीड़ को रोकने के लिए मजबूत घेरा बनाया जाता है ताकि लोग उसे तोड़कर मंच तक न आ सकें और एक घेरे से दूसरे तक भी न जा सकें; और मंच की ऊंचाई भी उनके द्वारा निश्चित की हुई फुटों की ऊंचाई तक जरूर रखनी पड़ती है। मैं जब गांव में जाता हूं तो वहां भी यही देखता हूं कि गांव के लोगों को भी रास्ते से दस-बारह फुट दूर ही रखा जाता है। यदि रास्ते पर नाला या गड्ढे वगैरा हों तो उनके दूसरी ओर उन्हें खड़ा रखा जाता है। यह सब सुरक्षा के नाम पर होता है।

मैंने यह भी देखा है कि राष्ट्रपति को कार की बिना किसी रुकावट के जाने देने के लिए बड़ी देर तक रास्ते का ट्रैफिक रोक दिया जाता है।

कई बार मुझे इन सब बातों को देखकर चिढ़-सी होती है और गुस्सा भी आता है। आज दोपहर को भी ऐसी घटना हुई और तब मैं संबंधित लोगों के सामने अपनी भावना और रोष भी व्यक्त किये बिना नहीं रह सका। मैंने देखा कि जिस मकान में मैं कुछ चन्द लोगों के साथ चाय लेनेवाला था, उस घर के अहाते से बाहर लोगों को बड़ी दूर रखा गया था। मैं यह सहन नहीं कर सका और यह कहकर, कि मेरी ट्रेन के चलने में जो थोड़ा समय अभी रहता है, उसको मैं जनता के बीच जाकर लोगों से मिलने में लगाना ज्यादा पसंद करूंगा, उस जगह से चला गया। लोग बड़े खुश हुए और यह देखकर तो खुशी से उछल पड़े कि रेलवे के अधिकारियों ने उन्हें प्लेटफॉर्म पर आने दिया। जहां ऐसा नहीं होता, लोग खंभों और तारों के ऊपर कूद-कूदकर अन्दर आने की कोशिश करते हैं। मुझे मन-ही-मन इन लोगों से बहुत सहानुभूति होती है और उनकी इस धक्का-मुक्की को भी मैं उचित और न्यायसंगत मानता हूं। आखिरकार उनकी ये हरकतें केवल एक ही भावना से प्रेरित होती हैं और वह है उस राष्ट्रपति के प्रति प्रेम और श्रद्धा व्यक्त करना जो देश का प्रतीक है। और उनके तथा राष्ट्र-पति के बीच आनेवाले ये अधिकारी कौन होते हैं! प्रेम और श्रद्धा की ऐसी भावना में कोई बाधक कैसे बन सकता है! यदि उसे रोका गया तो वह अभिव्यक्ति का दूसरा मार्ग ढूंढ़ लेती है। चाहे पुलिस हो या और कोई, बुद्धिमानी इसीमें है कि हम ऐसे अवरोध पैदा न होने दें जिससे लोग उन्हें तोड़ने पर आमादा हो जायं। तुलसीदास ने कहा है—

जाकर जा पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥

तुम क्या कहती हो?

—राजेंद्र प्रसाद

१९–२–५८

ज्ञान बेटी,

मुझे एक सज्जन का पत्र मिला है जो ७ फरवरी, १९५८ को सहरसा के दौरे में मुझसे मिलने आये थे, लेकिन पुलिस के रोक देने पर मुझसे मिल नहीं सके। मेरी तरह उन्होंने भी स्वराज्य-प्राप्ति के लिए काम

किया है और तकलीफें उठाई हैं, लेकिन आज जबकि हमें स्वराज्य मिल गया है, उन्हें मेरे पास तक आने नहीं दिया जाता। उन्होंने यह भी कहा कि 'राजनैतिक पीड़ित निधि' से उन्हें ५,००० रुपये दिये गये थे, जिन्हें लेने से उन्होंने इन्कार कर दिया, इसका परिणाम यह हुआ कि पैसे के साथ-साथ उन्होंने अपना बेटा भी खो दिया जिसका इलाज न करा पाने के कारण उसकी मृत्यु हो गई थी। उनका क्रोध और कटुता समझ में आनेवाली चीज है और वे कहते हैं कि जब वह स्वराज्य के लिए काम कर रहे थे वह अपने 'स्व' को भूल गये थे। इसका अर्थ साफ है और इसलिए उनसे नाराज होना ठीक नहीं है। हमें उनके क्रोध का कारण देखना चाहिए।

मैंने देखा है कि और प्रधान मंत्री के ध्यान में भी यह बात आई है कि पुलिस का इतना बड़ा इन्तजाम जनता को हम लोगों से दूर रखने के लिए किया जाता है। जब मैं रेलगाड़ी से यात्रा करता हूं तो देखता हूं कि रेलवे स्टेशनों पर इकट्ठी हुई भारी भीड़ को प्लेटफॉर्म से ही नहीं, कई बार स्टेशन के अहाते से भी बाहर रखा जाता है। मैं हमेशा ही इस बात का ध्यान रखता हूं और वहां के दरवाजे खुलवा देता हूं जिससे लोग नजदीक आ सकें और मुझे देख सकें, क्योंकि मैं अनुभव करता हूं कि उनकी इच्छा नाजायज नहीं है, एक प्रकार से यह उनका हक है। पुलिस का दृष्टिकोण यह है कि हमारी सुरक्षा और सलामती की जिम्मेदारी उसकी है और इसी कारण से सरकार के आदेशों के अनुसार ही पुलिस को ये कदम उठाने पड़ते हैं। इससे भी आगे बढ़कर वे कहते हैं कि सुरक्षा की दृष्टि से इन मामलों में हमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। हो सकता है यह सब ठीक भी हो, लेकिन उस पत्र लिखनेवाले सज्जन के दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति दिखाये बिना भी मैं नहीं रह सकता और यह सब देखकर मुझे दुःख होता है। लेकिन हम कर भी क्या सकते हैं? जहां तक भी बन पड़ता है मैं किसी-न-किसी प्रकार से लोगों के मन से पुलिस के उन उपायों के बारे में, और इनके कारण जो दुष्परिणाम होते हैं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता हूं। प्रधान मंत्री भी ऐसा ही करते हैं। लेकिन जाहिर है कि यह काफी नहीं है।

—राजेंद्र प्रसाद

२०-४-५६

बिटिया ज्ञान,

कल कुछ मित्र मुलाकात के लिए आये और बातों के दौरान उनमें से एक ने एक ऐसी बात कही जो सामान्य रूप से सभी जानते हैं और जो बड़ी साफ है, लेकिन मुझे उसका एहसास अभी तक इस रूप में नहीं हुआ था। उन्होंने कहा कि मैं बहुत ही ऊंचे पद पर हूं—इतने ऊंचे कि भारत में और कोई इससे ऊंचे पद पर नहीं है। जब इसपर मेरा ध्यान गया तो मुझे स्वयं पर आश्चर्य हुआ कि कैसे अभी तक मैं अपनी इस ऊंची स्थिति या हैसियत को भूला रहा! मैंने सोचा कि यह मेरे लिए अच्छा ही हुआ कि इस ओर से मैं इतना बेखबर था। इतने बड़े पद और मान को पाकर, हो सकता है, मनुष्य में मद और अभिमान आ जाय और इस ओर से बेखबर रहने पर उसमें नम्रता आती है जो बहुत ही जरूरी है। यह अच्छी बात है।

लेकिन इसका दूसरा पक्ष भी है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि इस पद के साथ जो बड़ाई और महानता है, उससे अनजान रहने पर मैं कुछ ऐसा भी कर बैठूं जो इस पद और हैसियत के अनुरूप न हो। मैं नहीं जानता कि कभी मेरे मन में छोटी और तुच्छ बातें या विचार आये हों। मैं यह भी नहीं जानता कि कितनी बार मुझसे गलत काम हुए होंगे। अन्य मामलों की तरह इस विषय में भी मध्यम मार्ग अपनाना ही बेहतर है। मेरे कहने का अर्थ यह है कि न तो सत्ता पाकर मदान्ध होना चाहिए और न ही उससे इतना बेखबर रहना चाहिए कि किसी भी समय और किसी भी स्थिति में उस पद का गौरव कम हो।

—राजेंद्र प्रसाद

८-१२-५७

बिटिया ज्ञान,

मुझे १२ तारीख को भारतीय विधि-संस्थान का उद्‌घाटन करना है। यह संस्थान विधिविज्ञान को आगे बढ़ाने, विधि तथा उसके प्रशासन में उच्च अध्ययन तथा अनुसंधान को प्रोत्साहित करने तथा जनता की आर्थिक, सामाजिक और अन्य आवश्यकताओं के उपयुक्त कानून में संशोधन तथा

स्वस्थ विकास को प्रोत्साहित करने के लिए स्थापित किया गया है। मुख्य न्यायमूर्ति एस० आर० दास इस संस्थान के अध्यक्ष हैं और श्री के० एम० मुंशी कार्यकारी अध्यक्ष हैं और संस्थान का मुख्य संरक्षक मैं हूं तथा संरक्षक उपराष्ट्रपति तथा प्रधान मंत्री हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि मैं इस अवसर पर क्या कहूं। देश में इतनी समस्याएं हैं, जिनपर संस्थान विचार कर सकता है और उनका समाधान खोज सकता है। उन्हें कहां से शुरू किया जाय, यह कहना कठिन है। मैं किसी विशेष विषय पर न बोलकर सामान्य रूप से समस्याओं के व्यापक सर्वेक्षण तक ही अपने-आप को सीमित रखूंगा। हमारा राष्ट्र एक कल्याणकारी राज्य होने से तथा अन्य कारणों से अनेक समस्याएं पैदा होती हैं। इस प्रकार केंद्र और राज्यों, दोनों में कानूनों की भरमार है। पिछले पांच वर्षों, अर्थात् पहली जनवरी १९५३ से ३० नवम्बर, १९५७ तक, संसद ने ३२१ विधेयक पारित किये, जिनमें से केवल ६० वित्त तथा विनियोग-जैसी सांविधिक आवश्यकताओं के संबंध में थे, ६ संविधान में संशोधन से संबंधित थे और २५५ अन्य आम विषयों से संबंधित थे। इसी प्रकार राज्यों में भी बड़े पैमाने पर कानून बने हैं। कुछ ऐसे विधेयक होते हैं, जिन्हें राज्यपाल, राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखते हैं। उनमें कुछ ऐसे उपबन्ध भी होते हैं, जो केन्द्रीय कानून का कुछ अतिक्रमण करते हैं और इसलिए उनके संबंध में राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक होती है।

किन्तु इनके अतिरिक्त, ऐसे अनेक विधेयक होते हैं जिनपर राज्यपाल की सहमति आवश्यक होती है और राष्ट्रपति के पास बिल्कुल नहीं भेजे जाते हैं। उसी अवधि में, कम-से-कम १११४ ऐसे विधेयक थे, जो राष्ट्रपति की मंजूरी के लिए सुरक्षित रखे गए थे और जिनमें से कम-से-कम २७५ भूमि संबंधी कानूनों से संबंधित थे। निस्संदेह इस संस्था में राज्यों के वित्त तथा विनियोग विधेयक तथा आम किस्म के अन्य विधेयक शामिल नहीं हैं, जो राज्यपाल की मंजूरी के बाद कानून बन गए हैं। कानूनों की भरमार ने बहुत ही विकट प्रश्न उपस्थित कर दिया है। प्रत्येक नागरिक से कानून के बारे में जानकारी होने की आशा की जाती है और अवज्ञा की दशा में, किसी भी नागरिक द्वारा उसकी अवज्ञा के विरुद्ध मुकदमे में उसकी

अनभिज्ञता उसका कोई बचाव नहीं होती है। उपर्युक्त परिस्थितियों में, क्या इस कारण में कोई समझदारी अथवा औचित्य निहित है?

यह कहा जा सकता है कि एक कल्याणकारी राज्य के प्रशासन के लिए नये प्रकार के कानूनों की आवश्यकता है और इस प्रकार कानून बनाना आवश्यक है। यदि कल्याणकारी राज्य का अर्थ अधिक से-अधिक कानून बनाना है तो इसका अर्थ यह होगा कि व्यक्ति की कम-से-कम स्वतंत्रता, राज्य को अधिकाधिक और सामान्य नागरिक के प्रति कम-से-कम उत्तरदायित्व। किन्तु कुछ अन्य हितार्थ भी हैं। अधिक कानून का अर्थ अधिक मुकदमेबाजी तथा अन्य ऐसी ही बातें हैं। इसका यह भी अर्थ हुआ कि विधान-मण्डल विधेयकों पर अधिक समय लगाना और उसके परिणाम-स्वरूप एक प्रवृत्ति, जिसे सरकार द्वारा सदा ही प्रोत्साहन दिया जाने की सम्भावना है, यह होगी कि प्रत्यायुक्त विधान पर अथवा कार्यपालिका की नियम बनाने की शक्तियों पर अधिक निर्भर किया जाय, जिसका अर्थ विधान-मण्डल के लिए कम शक्तियां होंगी।

भारत में विद्यमान विधानमण्डल का एक अन्य पहलू भी है। आजकल अधिनियमित किये जानेवाले बहुत-से कानूनों में ऐसे उपबन्ध हैं जिनके अन्तर्गत न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र कम कर दिया गया है जिसका अर्थ यह हुआ कि न्यायालय द्वारा कार्यपालिकाओं पर नियंत्रण रहे। एक अन्य प्रश्न, जिसपर संस्थान को ध्यान देना चाहिए, यह है कि प्रशासनिक तंत्र में सुधार और कार्यविधि को सरल बनाना। भारत में कानूनों के विकास में, विशेषरूप से उन कानूनों के विकास में जो संहितावद्ध नहीं थे, विधि-रिपोर्टों ने महत्वपूर्ण योग दिया है। अब उनमें से अधिकांश को संहितावद्ध कर दिया गया है अथवा किया जा रहा है। प्रश्न यह है कि संहितावद्ध होने से पहले पुरानी रिपोर्टों को अब किस प्रकार लाभप्रद ढंग से उपयोग में लाया जाय?

मैंने अभी कुछ मुख्य-मुख्य बातें कही हैं जिनकी ओर वकीलों तथा संस्थान के अन्य व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित हो सकता है। मैंने जानबूझकर प्रशासन का उल्लेख नहीं किया है जिसके साथ मैं इतना परिचित नहीं हूं और जो एक विवाद का विषय भी है।

मैं अचानक एक तकनीकी विषय पर चर्चा करने लगा किन्तु मुझे ऐसा करना पड़ा क्योंकि मैं सारे दिन अपने भाषण के विषय के बारे में सोचता रहा। क्या तुम कोई सुझाव दे सकती हो! शायद यह तुम्हारे लिए बड़ा शुष्क विषय हो। क्यों, ठीक है न?

—राजेंद्र प्रसाद

२३-७-५९

प्रिय बेटी,

राष्ट्रपति की स्थिति और अधिकार के बारे में प्रेस में एक मजेदार चर्चा चल पड़ी है। एक विचार यह है कि राष्ट्रपति की स्थिति वही है जो इंग्लैंड के बादशाह की है और इसलिए वह अपने मंत्रियों की सलाह से ही कोई कार्रवाई कर सकता है। दूसरी विचारधारा यह है कि क्योंकि वह जनता द्वारा चुनकर आने पर पांच वर्ष तक राष्ट्रपति पद पर रहता है, इसलिए यदि वह संविधान का उल्लंघन करे तो वह अभियोज्य है या यूं कहें कि उसपर महाभियोग चलाया जा सकता है। संविधान में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है कि वह मंत्रिमंडल की सलाह पर चलने को बाध्य है। इसलिए कुछ खास परिस्थितियों में राष्ट्रपति को स्वयं अपनी जिम्मेदारी पर, बिना किसी के मशवरे और यदि जरूरी समझे तो उस राय के खिलाफ भी, कार्रवाई करने का अधिकार है। यह प्रश्न मेरी किसी खास कार्रवाई के कारण या कार्रवाई न करने के कारण पैदा नहीं हुआ, जहां मैंने अपने मंत्रियों की राय न ली हो या उसे न माना हो। यह प्रश्न एकदम संवैधानिक दृष्टि से सामने आया है और उसपर चर्चा चल पड़ी। यद्यपि मैं इसमें रुचि ले रहा हूं—लेकिन किसी भी माने में वह निजी नहीं है, केवल सैद्धांतिक और संवैधानिक है। मैं चाहता हूं कि प्रमुख विधि-विशेषज्ञ आगे आयें और इस प्रश्न का ठीक हल निकालें। जैसा अभी है, जाहिर है कि इसमें भाग लेनेवाले नये हैं, हो सकता है वे इसके अर्थ को समझते भी हों, लेकिन वे इस संबंध में विशेषज्ञ नहीं माने जा सकते और इसीलिए उनका मत भी अधिकृत नहीं हो सकता जैसी कानून की मांग है और तरीका है। इसलिए

सब ओर से, [illegible] कर कानूनी दृष्टि से विचारकर इस प्रश्न को सुलझाना जरूरी मालूम होता है।

—राजेंद्र प्रसाद

२-१-६०

प्रिय श्रान,

एक कहावत है जिसका अर्थ यह है कि दूर से सभी चीजें सुन्दर लगती हैं, वास्तव में ये भले ही उतनी सुंदर न हों। यही बात कुछ बड़े पदों पर भी लागू होती है। बहुत-से लोग राष्ट्रपति पद को बड़े मान और शोभा की वस्तु और न जाने क्या-क्या मानते हैं; साथ ही जो इस पद को पाता है उसके प्रति कुछ ईर्ष्या-सी भी लोगों को होती है। लेकिन दस साल तक राष्ट्रपति-भवन में रहने पर भी मुझे तो इसमें कोई बड़ा भारी आकर्षण नहीं दिखाई दिया, बल्कि अक्सर इसकी भारी जिम्मेदारियों, सीमाओं और प्रतिबंधों का ही अहसास मुझे रहा। कई अवसरों पर मेरी यह भावना बड़ी तीव्र हो गई और अभी हाल में मैंने बहुत-कुछ ऐसा ही अनुभव किया है। यहां रहते हुए मुझे जिस अकेलेपन की स्थिति का सामना करना होता है, उससे कठिनाई और बढ़ जाती है। इस ऊंचे पद पर रहने में मनुष्य अनेक तरह के ऐसे कामों और जिम्मेदारियों से घिरा होता है जिनके बारे में वह किसीसे खुलकर बात भी नहीं कर सकता। ऐसी बातें वह उसी व्यक्ति से कर सकता है जो बहुत ही विश्वसनीय हो और जिसपर राष्ट्रपति-जैसे भारी पद पर रहकर पूरा भरोसा किया जा सके। आज मैंने डा० जाकिर हुसेन के सामने अपने दिल की बात रखी और अपने भारी मन को हलका किया। उनसे मैंने हृदय खोलकर इसलिए बात नहीं की कि शायद वह मेरी कुछ सहायता कर सकें या मुझे कुछ सलाह दें, बल्कि इसलिए कि वह ऐसे व्यक्ति थे जिनके सामने मैं बिना किसी अवरोध या रुकावट के अपना हृदय खोल सकता था। कलकत्ते में भी मैं इसी तरह कुछ मन की बात कहके अपना बोझ हल्का कर सका था। मैं तो केवल यही प्रार्थना कर सकता हूं कि उस अदृश्य परमशक्ति से मुझे प्रकाश की किरण मिले, और वह तभी हो सकता है जब मैं उसके योग्य होऊं।

—राजेंद्र प्रसाद

बेटी ज्ञान,

अपने वेतन में से मैंने जो और आगे २५०० रुपये कटवा देने का फैसला किया है उसका कारण यह माना गया है कि यह खास करके राष्ट्रपति के अगले चुनाव में खड़े होने की मंशा से ही किया गया है और लोग समझते हैं कि मेरी यह पहले से सुविचारित योजना है। हमारे इस प्रकार अप्रत्याशित और अचानक कदम उठाने का मनमाना अर्थ लगाने के लिए किसीको दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि ऐसा कदम उठाने की वजह हमने जाहिर नहीं की है और न ही हम इसे जरूरी समझते हैं, भले ही इसके कारण पैदा हुई गलतफहमी और गलत माने को दूर करने के उद्देश्य से ही क्यों न हो। लेकिन मुझे यह देखकर हँसी आती है। यदि किसीमें ज़रा भी समझ और बुद्धिमानी होती और उसने वेतन की इस कटौती के परिणाम पर ज़रा भी ध्यान दिया होता तो उसका इतना गलत अर्थ न लगाया होता। मेरे राष्ट्रपति-काल के अब केवल एक साल नौ महीने बाकी हैं और यदि मैं ५००० रुपये प्रतिमास लेता रहूं तो अपने कार्यकाल के अन्त में मुझे ५२,५०० रुपये मिलेंगे, अथवा दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि मैंने ५२, ५०० रुपये न लेने का निश्चय कर लिया है। मान लो, यदि तीसरी अवधि के लिए हम चुन भी लिये गए (यह अनुमान लगाकर ही कि हम उसके लिए खड़े होने को तैयार हैं), उस हालत में हम उस तीसरी अवधि में २५०० रुपये से ज्यादा वेतन नहीं लेंगे और ऐसा करने पर इस हिसाब से इस एक वर्ष और नौ महीने में देखा जाय तो हमारी आमदनी कुछ नहीं रहती। यह मैं उस हिसाब से कह रहा हूं जो यह कहते हैं कि तीसरी अवधि की तैयारी के लिए यह कटौती की गई है और बाद में इसका फायदा मिलेगा। इस लाभ की पूर्ति यदि आगे भी इस कम तनख्वाह के हिसाब से ही मुझे फायदा होता रहे तो वह जनवरी १९६४ तक हो सकेगी, जब कि मेरी उम्र ८० साल की हो चुकेगी। क्या हमारे ये अनुदार आलोचक जनवरी १९६४ के बाद भी मेरे जीवन की गारंटी देते हैं? मुझे यह देखकर अचरज होता है कि किस तरह से बुद्धिमान् माने जानेवाले लोग बिना समझे-बूझे अर्थ

का अनर्थ निकालते हैं और वह जो कहते हैं उसमें कोई समझ की बात भी है या नहीं, यह देखे बिना जो जी में आये कह देते हैं।

—राजेंद्र प्रसाद

१-१२-६०

प्रिय ज्ञान,

विधि-संस्थान (ला इंस्टीट्यूट) के सामने इस सुझाव को रखते हुए, कि ब्रिटिश बादशाह की तुलना में भारत के राष्ट्रपति के अधिकार और कर्तव्यों का अध्ययन और अनुसंधान होना चाहिए, मैं नहीं समझता कि यह मौलिक प्रश्न उठाकर, और हमारे संविधान का वैज्ञानिक ढंग से तथा बारीकी से अध्ययन करने का सुझाव देकर, मैंने कोई अनुचित अथवा असंवैधानिक काम किया है। मैं देखता हूं कि कई लोगों ने इस सुझाव का स्वागत किया है, जबकि कइयों ने इसे बहुत बड़ा और गंभीर संवैधानिक प्रश्न मानकर विवाद खड़ा कर दिया है। जो भी हो, यदि इसकी जांच या छानबीन हुई तो उसके परिणाम की मुझे चिंता नहीं है। मेरी रुचि केवल इसमें है कि राजनीति से अलग रखकर केवल संविधान में लिखित बातों के आधार पर संवैधानिक दृष्टि से इसका अध्ययन हो। मैं नहीं मानता कि इसमें किसीको भी क्या आपत्ति हो सकती है कि जो बात स्पष्ट नहीं है और एक साधारण नागरिक की समझ में नहीं आती, उसका स्पष्टीकरण हो। विरोध तो पहले ही इस बात का अनुमान लगा लेने पर हो सकता है कि मैं कोई असाधारण अधिकारों का दावा करता हूं जो असंवैधानिक है। इस अनुमान का तो कोई कारण भी नहीं है। यदि संविधान की यह परिभाषा इतनी स्पष्ट है, जैसाकि कई मानते और कहते हैं, तब उसकी जांच से यह तथ्य बड़ी आसानी से सामने आ जायगा। दूसरी ओर यदि इसमें अस्पष्टता है और शब्दों के, उनकी डिक्शनरी के अनुसार वह अर्थ नहीं निकलते जो वे निकालते हैं और उन्हें ब्रिटिश संविधान में दिये गये अर्थों के आधार पर ही उस अर्थ में समझा जा सकता है, तब तो अच्छा ही है कि अनुसंधान और अध्ययन के बाद उनको स्पष्ट कर दिया जाय और स्पष्ट रूप से समझा जाय। इसलिए जांच और छानबीन करने में तो किसी भी तरह

का नुकसान नहीं है। यदि विधिवेत्ताओं की राय में फर्क हुआ तो भी असहमति और उस भेद द्वारा यह पता लग सकेगा कि इस क्षेत्र-विशेष में या संविधान की परिभाषा को समझने में मतभेद है। मैंने अखबारों में पढ़ा है कि इस प्रश्न को शायद संसद में उठाया जायगा। देखें, यह किस रूप में संसद के सामने रखा जाता है और किस तरह इसे निबटाया जाता है।

—राजेंद्र प्रसाद

१४-१२-६१

बेटी ज्ञान,

आगामी आम चुनावों में हम किसी तरह की दिलचस्पी नहीं ले रहे, हिस्सा लेने की तो बात ही नहीं आती। इस तरह कांग्रेस द्वारा चुने जाने-वाले किसी भी उम्मीदवार के चुनाव में हम दिलचस्पी नहीं लेते। लेकिन जो बातें इस संबंध में हम सुनते हैं उनसे कभी हमें दुःख होता है, कभी हैरानी होती है तो कभी हँसी भी आती है। एक तो यह कि हजारों उम्मीदवार और उनके समर्थक देश के विभिन्न भागों से आकर दिल्ली में इकट्ठे हो गये हैं। इनमें, हमें बताया गया है कि बिहार सबसे आगे है और इसलिए उम्मीद-वारों के चुनाव में बड़ा समय लग रहा है। जैसे ही हमें यह मालूम हुआ कि बहुत बड़ा जत्था इसके लिए यहां पहुंचा है और बहुत से और पहुंच रहे हैं, हमने यह निश्चय किया कि जबतक उस प्रदेश-विशेष के उम्मीदवारों का चुनाव पूरा नहीं हो जाता, हम किसी से मिलेंगे नहीं—हां, कुछ विशेष अपवादों को छोड़कर जिन्हें मुलाकात के लिए मना नहीं किया जा सकता था। लेकिन उन लोगों के साथ भी हमने चुनाव के संबंध में एक शब्द भी नहीं कहा और न कुछ पूछा; और हम यह मानते हैं कि मुलाकात के लिए आनेवाले उन लोगों ने भी मेरी इस भावना का आदर करके कभी इस प्रश्न पर चर्चा नहीं की। जिस बात से मुझे दुःख होता है वह यह है कि इन उम्मीदवारों ने अपने चुनाव-क्षेत्र में काम करके अपनी सेवा और त्याग के आधार पर चुनाव के लिए नामजद होने की कोशिश करने के बजाय पैरवी और खुशामद का रास्ता अपनाया है और इसके लिए केवल वही लोग दोषी नहीं ठहराये जा सकते, क्योंकि खुशामद और पैरवी के लिए दो की जरूरत

होती है : एक करने के लिए और दूसरा जिससे की जाए। इन सबके अलावा, इस पैरवी में चुनाव का खर्चा भी शामिल होना चाहिए, और वह कम गंभीर नहीं, क्योंकि इन खर्चों को चुनाव-खर्च में भी नहीं दिखाना पड़ता। ऐसा यह दूषित चक्र जो चल पड़ा है और न जाने कहां जाकर रुके अथवा रुकेगा भी या नहीं, ईश्वर ही जाने, पर यह हमारे देश के लिए अच्छा नहीं है।

—राजेंद्र प्रसाद

८–५–६२

ज्ञान बिटिया,

आज शाम को संसद-सदस्यों की ओर से आयोजित समारोह में मैंने जबानी भाषण दिया। यद्यपि लिखित भाषण भी तैयार था, लेकिन अवसर के योग्य अपने ही विचारों पर निर्भर करना मैंने उपयुक्त समझा। मैं नहीं जानता कि इसमें मैं कहां तक सफल रहा हूं। जो मानपत्र संसद-सदस्यों ने मुझे दिया, उसमें मेरी बहुत ही प्रशंसा की गई थी। मैं नहीं समझता कि मैं उस ऊंचाई या उस गहराई को छू सका हूं। इसके जवाब में मैंने दो या तीन बातें उन लोगों के सामने रखीं जो मेरे विचार से बहुत ही महत्वपूर्ण थीं। मैंने यह सुझाव दिया कि हमारी भौतिक और आर्थिक स्थिति में सुधार नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ होना चाहिए। आज जैसे हालात हैं हमें यह बात देखने को नहीं मिलती। अभी हाल के आम चुनावों में असाधारण सफलता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए मैंने कहा कि जनतंत्र का सार इस बात में है कि हम अल्प-संख्यकों के हितों का भी ध्यान रखें चाहे वे भौतिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक क्यों न हो। मैंने यह बात भी जोर देकर कही कि चुनावों में जो भारी खर्चा होता है वह जनतंत्र के हित में नहीं है, क्योंकि इससे एक साधारण आदमी के लिए चुनाव में लड़ना असम्भव हो जाता है। यदि एक उम्मीदवार को किसी दूसरे व्यक्ति या दल पर निर्भर करना पड़ता है और उससे पैसे की मदद लेनी पड़ती है तो निश्चय ही उसे अपनी स्वतंत्रता खो देनी पड़ती है और दूसरों से उसे समझौता करना पड़ता है। चुनावों में निष्पक्षता, तटस्थता और प्रशासन में स्वच्छता

रखने के लिए इस भारी खर्च में कटौती बिलकुल जरूरी है। मैंने इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया कि लोगों की आत्मनिर्भरता तथा स्वावलम्बन की भावना और उत्साह कम होता जा रहा है जो हमारे देश के लिए अच्छा नहीं है।

मैंने यह भाषण अंग्रेजी में दिया, लेकिन मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वायलेट अल्वा हिन्दी में बोलीं और उनकी हिन्दी काफी अच्छी थी।

—राजेंद्र प्रसाद

१३ मई कोई उत्सव नहीं, हमारे कैलेंडर में उसकी कोई महिमा भी नहीं, लेकिन भारतीय संविधान और इतिहास के विद्यार्थी के लिए इसका महत्व है। यह वह दिन है जिस दिन नये राष्ट्रपति ने पद-ग्रहण किया। इसलिए यह राष्ट्रीय महत्व जरूर रखता है।

राष्ट्रपति-पद पर रहते हुए राजेंद्रबाबू क्या अनुभव करते थे, इस प्रश्न को स्वयं उन्होंने अपने मन में दोहराया और अपने पत्र में इसका उत्तर भी स्वयं दिया। इसी तरह राष्ट्रपति न रहने पर उनको कैसा लगेगा, इसकी चर्चा किये बिना भी वह नहीं रह सके। पत्र इस प्रकार है—

२२-११-६०

बेटी ज्ञान,

भारत का राष्ट्रपति बनने पर कैसा अनुभव होता है?—यह प्रश्न मुझसे सहज ही पूछा जा सकता है, लेकिन इसका जवाब देना आसान नहीं है। उसका कारण यह हो सकता है कि मुझे वास्तव में यह नहीं मालूम कि भारत के राष्ट्रपति बनने पर कैसा अनुभव होता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इंतजार में जो आनन्द है, वह वास्तविक प्राप्ति में नहीं होता। मुझे ऐसी अनुभूति कभी नहीं हुई, क्योंकि मैंने अपने चुनाव की वास्तव में न इच्छा ही की और न उसका इंतजार। प्रयत्न की बात तो दूर, बिना किसी इच्छा के यह अवसर स्वयं ही, कहना चाहिए कि

अनायास ही, मुझे मिला। इसलिए इंतजार का कोई मजा मुझे नहीं मिला। राष्ट्रपति बनने पर जहां तक अनुभव का संबंध है, अक्सर इस बारे में मेरे मन में विचार तो आये हैं, पर इस विषय में कुछ खास अनुभव हुआ हो, यह मैं नहीं कह सकता।

इसमें केवल एक अपवाद हो सकता है और वह तब जबकि मैं २६ जनवरी को सलामी के लिए बग्घी में निकलता हूं। उस समय जनता की उमड़ती हुई भीड़ और उनकी भावनाओं को देखकर मेरा हृदय गद्गद हो जाता है। जब कभी इस तरह का प्रेम लोगों से मुझे मिलता है, मेरा हृदय भर आता है। लेकिन यह उमड़ता हुआ भाव और आनन्द अपनी जिम्मेदारियों और अपनी कमियों तथा अपनी तुच्छता के एहसास से फौरन ही धीमा पड़ जाता है। इस विश्लेषण से तुम्हें पता लगेगा कि यदि कभी कोई अनुभव हुआ भी, तो वह तीव्र आनन्द या उल्लास की अनुभूति नहीं थी, उसपर सदा ही गंभीर विचार और भाव छाये रहे। मेरा हृदय उनसे अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता था।

—राजेंद्र प्रसाद

२६–११–६०

बिटिया ज्ञान,

यह प्रश्न काफी मजेदार होगा यदि मुझसे कोई पूछे कि जब मैं राष्ट्रपति नहीं रहूंगा, उस समय का विचार करके मैं क्या अनुभव करता हूं? कुछ हद तक मैं इसका जवाब दे सकता हूं। वास्तविक बात तो यह है कि मैं रोजमर्रा की औपचारिकताओं से बिल्कुल मुक्त हो जाऊंगा और हो सकता है कि अभी नियमित कार्यक्रम के अनुसार मुझे जो समय पर चलना पड़ता है, उससे मुक्त हो जाने पर इसी तरह से अपने जीवन को ढालने में कुछ कठिनाई हो; लेकिन मैं समझता हूं कि बहुत-से आरोपित अवरोधों से तो मुक्त हो ही जाऊंगा। मैं इस बड़े लवाजमे या तामझाम से भी मुक्त हो जाऊंगा; मैं तब जहां चाहूं वहां जा सकूंगा और बिना किसी औपचारिकता के या पहले से नोटिस दिये बिना मित्रों से मिलने जा सकूंगा। इससे मुझे

भी आसानी रहेगी और मैं समझता हूं कि दूसरों को भी मुझसे मिलने में परेशानी नहीं होगी।

क्योंकि मुझे इस पद का न कभी आकर्षण रहा और न ही उससे लगाव है, इसलिए मुझे किसी तरह की तकलीफ नहीं होगी। हो सकता है, इस तरह की सुविधाएं और सहूलियतें हमेशा उपलब्ध न हों। यह भी हो सकता है कि मुझे अपने मन को परिस्थितियों के अनुसार अनुकूल भी बनाना पड़े। लेकिन वह अनुकूलता और वह प्रयत्न इतना कठिन नहीं होगा जितना कि यहां आने पर मुझे अपने को अनुकूल बनाना पड़ा। अलावा इसके, मैं नहीं समझता कि राष्ट्रपति न रहने पर कोई बड़ा भारी परिवर्तन होगा। बल्कि मैं समझता हूं कि लोगों को मुझसे मिलने में और अपनी इच्छानुसार मुझे भी दूसरों से मिलने में आसानी ही होगी। यह सब पहले से सोचना और बताना तो सम्भव है; जो बात सम्भव नहीं है वह यह है कि मेरा स्वास्थ्य कैसा रहेगा। लेकिन यह प्रश्न तो मैं जहां भी रहूंगा और चाहे कहीं भी जाऊं या रहूं, मेरे साथ ही रहेगा, क्योंकि समय के साथ शरीर और मन पर अवस्था का असर तो होता ही है। ईश्वर ही सहायक है!

—राजेंद्र प्रसाद

इस भावना के अनुरूप ही राजेंद्रबाबू जब राष्ट्रपति पद से मुक्त हुए, तो उन्होंने अपने विदाई-भाषण में अपने देशवासियों से कहा, "आज मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है जैसे किसी बच्चे को स्कूल से छुट्टी मिल गई हो।"

राष्ट्रपति की जिम्मेदारियों से बाबूजी को भले ही छुट्टी मिल गई हो, लेकिन स्वतंत्र भारत के प्रथम नागरिक के सामने देश की सेवा ही सदा प्रथम रही। स्वास्थ्य तो सदा उनका सदा ही ऐसा रहा, क्योंकि २३ वर्ष की उम्र में ही एक बार तेज बुखार आने पर बहुत ज्यादा कुनैन की गोलियां खा लेने के परिणामस्वरूप दमा उनके पीछे पड़ गया था, लेकिन वह उससे दबे कभी नहीं। जीवन के अन्तिम दिनों में चीनी आक्रमण के समय पटना में रहते हुए भी देश की आजादी की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहे और

अन्तिम श्वास तक देश की सेवा में लगे रहे। स्वतन्त्र भारत के इतिहास में प्रथम राष्ट्रपति के रूप में राजेंद्रबाबू की सेवा और जीवन की कहानी अजातशत्रु सम्राट् अशोक की पुण्य यशोगाथा के समान अमिट रूप से अंकित रहेगी, जिसमें हम सबको सदा स्वतंत्र भारत की झलक मिलती रहेगी।



* भारत के नागरिकों द्वारा राष्ट्रपति डा० राजेंद्र प्रसाद की विदाई के उपलक्ष्य में नई दिल्ली के रामलीला मैदान में आयोजित समारोह में हिन्दी के यशस्वी कवि दिनकर जी के ये शब्द आज भी कानों में गूंजते हैं :

नन्दिग्राम के भरत, राज-सर के निष्कलुप कमल हे !
जय चिरायु भारत-परंपरा के नवीन सम्बल हे !
राज-दण्ड-धर यती तपोधन, संन्यासी मधुवन के !
जय अभंग व्रत सिंहासन-शोभित वैराग्य विमल हे !
जनक-वंश की विभा, रत्न-दीपक अशोक के कुल के !
जय पुनीत गांधी-गंगा के परम स्रोत उज्ज्वल हे !
अनल-मुक्त मन, वर वैष्णव जन, पर-पीड़न-भयहारी !
जय शीतल, जय निरभिमान, जय-जय निरीह-निश्छल हे !

—'दिनकर'

१०-५-१९६२

निर्देशिका

न

प

फ

ब